ISSN : 2455-4219

आलोचन दृष्टि

Aalochan Drishti

An International Peer Reviewed Refereed
Research Journal of Humanities

वर्ष : 11 | अंक : 44 | जनवरी - मार्च, 2026
Year - 11 | Volume - 44 | January - March, 2026

प्रधान-संपादक
डॉ० सुनील कुमार मानस

संपादक
डॉ० योगेश कुमार तिवारी

प्रबंध-संपादक
डॉ० सुधीर कुमार तिवारी

आलोचन दृष्टि वर्ष-11 अंक-44 जनवरी - मार्च, 2026 ISSN : 2455-4219

ISSN : 2455-4219

आलोचन दृष्टि

Aalochan Drishti

An International Peer Reviewed Refereed Research Journal of Humanities

वर्ष - 11	अंक - 44	जनवरी-मार्च, 2026
Year - 11	**Volume - 44**	**January-March, 2026**

प्रधान-संपादक

डॉ. सुनील कुमार मानस

संपादक

डॉ. योगेश कुमार तिवारी

प्रबंध-संपादक

डॉ. सुधीर कुमार तिवारी

© **प्रकाशक :**

संपादकीय/प्रकाशकीय पता :–

सृजनश्री न्यास,

आजाद नगर, बिन्दकी, जनपद–फतेहपुर,

उ0प्र0–212635

ई–मेल : aalochan.p@gmail.com

मुद्रण :– जय ग्राफिक्स एण्ड कान्सट्रक्सन,

आई0टी0आई0 रोड़, फतेहपुर–212601।

	एक अंक	वार्षिक	आजीवन
सदस्यता शुल्क			
व्यक्तिगत	500	1800	16,000
संस्थागत	600	2000	18,000

संरक्षक एवं सलाहकार मंडल

- **प्रो. गिरीश्वर मिश्र,** शिक्षाविद् एवं पूर्व कुलपति, म. गां. अं. हिं. वि., वर्धा (महाराष्ट्र)।
- **प्रो. कृपाशंकर चौबे,** महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा, (महाराष्ट्र)।
- **प्रो. माधवेन्द्र पाण्डेय,** पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग, मेघालय।
- **प्रो. अरविंद कुमार झा,** इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, दिल्ली।
- **प्रो. सच्चिदानंद मिश्र,** काशी हिंदू विश्वविद्यालय, वाराणसी।
- **प्रो. दयाशंकर त्रिपाठी,** बी–17, नीलकंठ बंग्लोज, वल्लभ विद्यानगर, आनंद।
- **प्रो. एस. वी. एस. एस.. नारायण राजू,** तमिलनाडु केन्द्रीय विश्वविद्यालय, तमिलनाडु।
- **प्रो. सुमन जैन,** काशी हिंदू विश्वविद्यालय वाराणसी।
- **प्रो. शिव प्रसाद शुक्ल,** इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज।
- **प्रो. अनूप शुक्ल,** रामजानकीपुरम्, सिविल लाइन, फतेहपुर।
- **Shri. Tejendra Sharma,** Harrow & Weealdstone, Middlesex HA3 7AN (U.K.)
- **Mrs. Archana Painyuly,** Islevhusvej, 72 B, 2700, Bronshoj, Copenhagen, Denmark.

संपादक-मंडल

- **डॉ. उदयन मिश्र,** लाल बहाकुर शास्त्री पी. जी. कॉलेज, पं. दीनदयाल उपाध्याय नगर, चंदौली (उ. प्र.)।
- **डॉ. बलराम शुक्ल,** दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
- **डॉ. ऋषभ कुमार मिश्र**, डॉ. बी. आर. अंबेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली।
- **डॉ. योगेश कुमार करसनभाई चाडसणिया,** उच्च शिक्षा विभाग, गुजरात सरकार।
- **डॉ. शशिभूषण भट्ट,** नालंदा कॉलेज, बिहार शरीफ, बिहार।
- **डॉ. हरीश पाण्डेय,** महात्मा गांधी अंतर्राष्ट्रीय हिंदू विश्वविद्यालय, वर्धा–महाराष्ट्र।
- **डॉ. अमित दूबे,** आर्य महिला पी. जी. कॉलेज, वाराणसी।
- **श्रीमती आकांक्षा अग्निहोत्री,** सरदार पटेल विश्वविद्यालय, बल्लभ विद्यानगर, आनंद–गुजरात।
- **डॉ. वर्षा तिवारी,** पं. शम्भूनाथ शुक्ल विश्वविद्यालय, शहडोल–(म. प्र.)।

विधि-परामर्शदाता

श्री **उमाशंकर त्रिपाठी** (एडवोकेट), सिविल कोर्ट, फतेहपुर उ0प्र0–212601।

नोट : सभी पद अवैतनिक एवं अव्यावसायिक हैं। प्रकाशित शोध–लेखों एवं उसमें दिये गये उद्धरणों के वाद–विवाद संबंधी किसी भी कार्यवाही का शोधकर्ता (लेखक) स्वयं जिम्मेदार होगा। इस तरह के किसी भी विवाद में संपादक, प्रकाशक एवं 'आलोचन दृष्टि' परिवार के किसी भी सदस्य की कोई जवाबदेही नहीं होगी। किसी भी प्रकार के विवाद–संवाद का समाधान फतेहपुर न्यायालय में ही होगा।

संपादकीय

आलोचना एक ऐसी प्रक्रिया है जो बड़े सूझ–बूझ के साथ और 'निश्चित लक्ष्य' को लेकर चलती रही है। कभी वह व्यावहारिक रूप से, कभी सैद्धांतिक रूप से। सच है कि दुनिया का कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है, समाज नहीं है– जो आलोचना की परिधि से बाहर हो, और न ही आज के समय में कोई ऐसा जागृत देश या समुदाय है जिसके संबंध में आलोचना न की जाती हो। ऐसे में आलोचना की जो मुख्य विशेषता निर्धारित की जा सकती है, उसके मानदंड के रूप में हम सबसे पहले **'वैचारिक समझ'** को केंद्र में रखते हैं। फिर उसके **'अच्छे और बुरे की अवधारणा'** पर सोचते–समझते हैं, तब उसके परिप्रेक्ष्य में अपनी **राय** (अवधारणा) व्यक्त करते हैं। फिर यही राय (अवधारणा) भावात्मक एवं विचारात्मक रूप से एक वैचारिक सूझ–बूझ का माध्यम बनती है। हम सब कहीं–न–कहीं इसी माध्यम के आधार पर लौकिक और शास्त्रीय आलोचना के विविध पक्षों को लेकर अपनी–अपनी बातें करते हैं। लौकिक पक्ष के दो घटक सामान्यतः दिखाई देते हैं– एक वह– जो व्यक्ति और समाज का व्यापक हित चाहता है, और दूसरा, वह– जो दूसरों को छोटा दिखाकर सिर्फ अपना स्वार्थ साधता है; लेकिन यहाँ यह ध्यान रखने की बात है कि स्वार्थ साधने की अवधारणा को हमारे समाज में कभी सामाजिक मान्यता प्राप्त नहीं हुई है, इसलिए वह अवधारणा कभी भी महत्त्वपूर्ण नहीं मानी गई, भले ही वह सामाजिक स्तर पर देखने को अधिक मिलती हो।...

समाज की व्यवस्था को बनाए रखने के लिए जो मानवीय अवधारणाएँ रही हैं, वे लगातार विवेचित और व्याख्यायित भी होती रही हैं। इसी आधार पर शास्त्रीय मानदंड भी निर्धारित किए जाते रहे हैं और किए जाते रहेंगे। यही मानदंड लिखित रूप में कई जगह कानूनी मान्यता भी प्राप्त कर चुके हैं। यह अलग बात है कि व्यक्ति इनका सदुपयोग न करके दुरुपयोग करते हुए सिर्फ अपना स्वार्थ साधते रहते हैं। इस प्रक्रिया को निभाते हुए वह कुछ सूत्र निर्धारित करते हैं, कुछ तर्क देते हैं और कुछ नियम भी बनाते हैं। फिर उनमें पुनः समयानुसार कुछ बदलाव भी करते रहते हैं।

जब हम अपने समकालीन समय की अवधारणा पर बात करते हैं, तो हम देखते हैं कि वह एक निश्चित व्यवस्था के माध्यम से व्यापक समाज तक पहुँचाई जाती है और इसे पहुँचाने की भूमिका हमारी मीडिया निभाती है। मीडिया हमें वही दिखाती है, जिसमें समकालीन सत्ता और व्यवस्था अपने मंसूबों को पूरा करने के लिए अनैतिक को भी कई बार नैतिक बताकर समाज को मार्गदर्शित करना चाहती है, किन्तु यह जान लेने की बात है कि जिस समाज को वह मार्गदर्शित करने की बात करते हैं, वह समाज भी अच्छी तरह से जानता है कि यह सब धोखेबाज और मक्कार हैं, और सच कहें तो देश के गद्दार हैं, क्योंकि जिस मानवीय अवधारणा का विकास जनकल्याण हेतु होता रहा है, उसे यदि किसी व्यक्ति–विशेष के कल्याण तक सीमित कर दिया जाए, तो वह समाज के लिए कभी ग्राह्य नहीं रहता है। इसी समाज से निकले हुए कुछ स्वार्थी मंसूबों वाले लोग सत्ता और व्यवस्था की बातों की बढ़–चढ़कर प्रशंसा करते हुए भी थकते नहीं हैं। यह बात हर एक सामान्य वर्ग और व्यक्ति भी जानता है।...

पिछले कई दिनों से ईरान और इजराइल का युद्ध चल रहा है। यदि यह कहा जाए कि यह ईरान और अमेरिका का युद्ध भी है, तो भी गलत नहीं होगा। थोड़ा पहले जाएँ तो रूस और यूक्रेन का युद्ध लगभग तीन वर्षों से चल रहा है जो अभी तक बंद ही नहीं हुआ। आखिर क्या कारण है? या कौन–सी वैचारिकता है! जो इन युद्धों को प्रश्रय दे रही है। कौन–सी स्वार्थवादी मानसिकता है जो एक देश को दूसरे देश से लड़ा रही है, और उन्हें एक साथ मिलकर रहने नहीं देना चाहती? चाहे संयुक्त राष्ट्र संघ हो या कोई भी वैश्विक संवैधानिक संगठन द्वारा निर्धारित मानदंड– इसे क्यों नहीं रोक पा रहे हैं? एक देश दूसरे देश पर हमला करता है और सभी देश मुट्ठी बाँधकर मौके का इंतजार करते हैं। यह कौन–सा मानवीय

दृष्टिकोण है? क्या पूरी दुनिया विचार–शून्य हो गई हैं, जो इन्हें आईना दिखाने से डरते हैं? क्या मनुष्यता की कोई अवधारणा अब किसी देश के वैचारिक केंद्र में नहीं रही? यदि नहीं रही, तो इसका कारण क्या है?

आने वाले समय में हम समाज को क्या देंगे, जिससे हमारा भविष्य जगमगाएगा? क्या ये बातें आने वाली पीढ़ी के लिए मार्गदर्शन साबित होंगी या वे इससे केवल सबक लेगी? और कैसा सबक! ये दोनों बातें विचारणीय हैं। घर बैठकर बड़ी–बड़ी बातें करना और सामने पड़ने पर चापलूसी करना– क्या हमारे समाज की यह दोगली नियति बन चुकी है! यदि ऐसा है, तो डंके की चोट पर कहा जा सकता है कि– यह गलत है; और इस गलत को गलत कहने का साहस हर एक बौद्धिक वर्ग या व्यक्ति में होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं है, तो वह बौद्धिक वर्ग का व्यक्ति नहीं है। ऐसे में कई बार यह लगता है कि किसे बौद्धिक व्यक्ति माना जाए? दुनिया के प्रोफेसर बनने वाले लोग क्या केवल नाम के बौद्धिक रहेंगे, या उनका कोई सामाजिक सरोकार भी है? क्या उनका कोई दृष्टिकोण है, जिसके आधार पर वे सत्ता और व्यवस्था को आईना दिखा सकें? यदि नहीं, तो फिर किस बात के वे बौद्धिक? आज हमारे पास चुनौतियाँ ही चुनौतियाँ हैं– चाहे वे शिक्षा की हों, समाज की हों, विचारों की हों, सिद्धांतों की हों, मान्यताओं की हों या संस्कारों की। कहीं भी कोई स्पष्ट मूल्य या मूल्य–दृष्टि दिखाई नहीं देते। ऐसे में प्रश्न उठता है– हम कर क्या रहे हैं? विकास के जो तमाम दावे हैं, वे हैं क्या? क्या अब विकास– विनाश का पर्यावाची हो गया है।... अब, जब भी प्रगति और विकास की कहीं बात होती है, तो मन में यह प्रश्न उठता है कि कहीं यह दुर्गति और विनाश की ही बात तो नहीं है!

'आलोचन दृष्टि' पत्रिका जिस उद्देश्य और विचार के साथ शुरू हुई थी, आज भी उसी उद्देश्य को बनाए रखने का हर संभव प्रयास कर रही है। अपने दस वर्षों के पूर्ण कालखंड में इसने किसी सत्ता–विशेष से संबंध स्थापित नहीं किये, चापलूसी नहीं की, बल्कि तटस्थ रहते हुए अपने वैचारिक चिंतन को सजग और स्पष्ट बनाये रखा है, नये दृष्टिकोण भी विकसित किए हैं।... पत्रिका के 'संरक्षक एवं सलाहकार मण्डल' और 'संपादक मण्डल' में– जो बदलाव किये जाने थे, वे आने वाले अंकों में परिलक्षित होंगे।

पत्रिका निकालना अत्यंत कठिन और जटिल कार्य है, खासतौर पर अपने शर्तों पर; फिर जब बात उसके आर्थिक सहयोग की पराधीनता हो तो और भी यह मुश्किल काम हो जाता है। एक अंक के निकालने का यदि सम्पूर्ण आकलन किया जाए तो न्यूनतम खर्च लगभग एक लाख रुपये से कम नहीं हो सकता। बड़े–बड़े विश्वविद्यालयों से निकलने वाली पत्रिकाओं का खर्च इससे भी कई गुना का होता है। हम इसे लगभग तीस हजार में पूरा करने का प्रयास करते हैं। ऐसे में सभी पाठकों, लेखकों से निवेदन है कि आवश्यक सहयोग की सम्पूर्ति करें ताकि पत्रिका को निकालने में आर्थिक–अभाव तो आड़े न आये। साथ ही, यह भी सूचना देना आवश्यक है कि पं. विद्यानिवास मिश्र के शताब्दी वर्ष के अवसर पर वाराणसी में आयोजित त्रिदिवसीय (13–15 जनवरी, 2026) राष्ट्रीय संगोष्ठी में जो विचार सामने आए, वे निश्चित रूप से समकालीन समय के लिए अत्यंत महत्त्वपूर्ण हैं। यदि उन विचारों को व्यवहार में लाया जाए, तो देश का बौद्धिक विकास अवश्य संभव होगा।

उपरोक्त पत्रिका का यह अंक कुल 22 शीर्षकों में प्रकाशित हो रहा है, जिसमें हिंदी–भाषा के 20 (ग्यारह) काव्यकृति 'मुक्ति बोध' की समीक्षा सहित, संस्कृत–भाषा का 1 (एक), और अंग्रेजी–भाषा का 1 (एक) शोध–पत्र शामिल है। सभी शोध–पत्र या लेख अपने–अपने क्षेत्र के विद्वानों की सराहनीय अभिव्यक्तियाँ हैं। इन लेखों से हमारे पाठक निश्चित ही लाभान्वित होंगे– ऐसा मेरा विश्वास है। इस अंक के संपादन हेतु 'आलोचन–दृष्टि परिवार' को सादर आभार ज्ञापित करता हूँ, जिनके वैचारिक सहयोग और सहकार से ही– पत्रिका का यह अंक अपना अंतिम स्वरूप ग्रहण कर रहा है। साथ ही, पाठकों–लेखकों के स्नेह एवं लगाव के प्रति भी आभारी हूँ।

शेष....

31 मार्च, 2026।

विषयानुक्रमणिका

- संपादकीय **iii-iv**
- विषयानुक्रमणिका **v-vi**

1. संगीत और नारीवाद 1-5
   डॉ. रेखा कुर्रे
2. स्वाधीनता आन्दोलन और हिंदी पत्रकारिता : स्वप्न से संकल्प तक 6-12
   अमित कुमार
3. विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में भारतीय संस्कृति का समन्वयात्मक स्वरूप 13-16
   डॉ. दिनेश साहू
4. बौद्ध युग में शिक्षा-व्यवस्था 17-20
   डॉ. श्री कान्त मिश्र
5. 'कामायनी' में जीवन-दर्शन, युगचेतना और मानवीय विकास 21-24
   डॉ. संगीता धुर्वे
6. राष्ट्रभाषा की समस्या एवं हिन्दी का स्थान 25-28
   मंजुला तिवारी
7. उत्तर भारत में शैव धर्म की प्रगति 29-31
   डॉ. प्रवीण पाण्डेय
8. कहानी 'बहादुर' एवं कहानी 'गुलमेहदी की झाड़ियों' में अंतर्निहित मानवीय मूल्य 32-35
   वीरेंद्र कुर्मी
9. हिंदी साहित्य में जनजाति अस्तित्व व अस्मिता 36-40
   डॉ. लोकेश कुमार साहू
10. हरिशंकर परसाई के व्यंग्य साहित्य में कबीर की निर्गुण भक्ति और गांधीवादी.... 41-46
    श्रीमती सीमा सिंह
11. लिंग-भेद पर आधारित हिंदी मुहावरे और लोकोक्तियों का विश्लेषण तथा कक्षा.. 47-50
    डॉ. अंदलीब
12. महर्षि दयानन्द सरस्वती : मूर्तिपूजा एवं सामाजिक-जीवन 51-59
    डॉ. हेमल अशोकभाई कणसागरा

13.	विशिष्ट शिक्षक-छात्र (दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों) के मध्य अंतःक्रिया :... *डॉ. राम कुमार मानिक*	60-63
14.	आरोप और बचाव के बीच 'सआदत हसन मंटो' *अनुज यादव एवं प्रो. कमलेश कुमारी*	64-69
15.	संस्कृत वाङ्मय में विवेचित सरस्वती नदी के ऐतिहासिक संदर्भ *बलराम एवं डॉ. देवेन्द्र सिंह राजपूत*	70-75
16.	संयुक्त राष्ट्र में हिंदी की पहली गूंज : अटल बिहारी वाजपेयी का भाषण (1977) *तुषार*	76-81
17.	राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के संदर्भ में 'हमारे आस-पास की दुनिया' विषय में... *डॉ. अंजुली सुहाने*	82-86
18.	समाज को समझने की समाजशास्त्रीय दृष्टि : भारतीय समाज, सामाजिक संरचना,... *डॉ. वरुण कुमार उपाध्याय एवं डॉ. अनुराग सिंह*	87-99
19.	राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 के परिप्रेक्ष्य में कक्षा 3 की हिंदी पाठ्यपुस्तक 'वीणा' : ... *डॉ. सर्वेश मौर्य*	100-104
20.	जगदीशभट्टदृष्ट्या कारकस्य तद्भेदस्य च विमर्शः *डॉ. नीरजकुमारभार्गवः*	105-109
21.	**Prehistoric Agricultural Knowledge Tradition and the Concept of....** *Dr. Heera Singh Gond*	110-111
22.	देवदत्त आर्य 'देवेन्द्र' का काव्य-संग्रह 'मुक्ति बोध' की समीक्षा *डॉ. सुनील कुमार मानस*	112-112

संगीत और नारीवाद

डॉ. रेखा कुर्रे*

प्रस्तावना :– संगीत मानव सभ्यता का वह अभिन्न अंग है जो केवल वैयक्तिक अनुभूतियों तक सीमित न रहकर सामाजिक परिवर्तन और प्रतिरोध का एक सशक्त माध्यम बनता है। संगीत और नारीवाद का अंतर्संबंध मात्र महिला कलाकारों की उपस्थिति का लेखा–जोखा नहीं है, अपितु यह इस सूक्ष्म विश्लेषण का विषय है कि कैसे स्वर, शब्द और निर्माण की तकनीकें स्थापित लैंगिक शक्ति–संरचनाओं (Gender Power Structure) को चुनौती देती हैं। भारतीय संदर्भ में यह विमर्श और भी जटिल हो जाता है। यहाँ शास्त्रीय संगीत की रूढ़िबद्ध 'गुरु–शिष्य परंपरा' से लेकर लोक–गीतों की सामूहिक अभिव्यक्ति और बॉलीवुड की समकालीन प्रस्तुतियों तक, स्त्रियों ने अपनी आवाज के माध्यम से सामाजिक बंधनों और पितृसत्तात्मक मर्यादाओं का निरंतर विखंडन किया है। यह शोध आलेख इसी परिप्रेक्ष्य में यह समझने का प्रयास करता है कि संगीत किस प्रकार नारीवादी चेतना को स्वर देने वाली एक 'प्रति–संस्कृति' (Counter & Culture) के रूप में उभरा है।

प्रस्तुत शोध का मुख्य उद्देश्य यह विश्लेषणात्मक पड़ताल करना है कि संगीत किस प्रकार नारीवादी आंदोलन के एक सक्रिय उपकरण के रूप में कार्य करता है। यह अध्ययन सिमोन द बोवुआर और जूडिथ बटलर के लैंगिक सिद्धांतों के वैश्विक परिप्रेक्ष्य को सुजाता पाटिल (समाजशास्त्री) तथा नीरजा माधव जैसी भारतीय विचारकों की अवधारणाओं के साथ संयोजित करता है। इस शोध का केंद्रीय प्रश्न उन ऐतिहासिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं की सूक्ष्म व्याख्या करना है, जिनके माध्यम से महिला कलाकारों ने न केवल मंच पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराई, बल्कि संगीत को पितृसत्तात्मक संरचनाओं के विरुद्ध एक सशक्त प्रतिरोध और महिला सशक्तिकरण के अनिवार्य माध्यम के रूप में पुनःस्थापित किया है। यह अध्ययन संगीत को एक ऐसी 'ध्वनि–राजनीति' (Sound Politics) के रूप में देखता है, जहाँ स्त्री की आवाज केवल मनोरंजन का साधन न रहकर, स्वयं की अस्मिता और सामाजिक परिवर्तन का उद्घोष बन जाती है।

संगीत और नारीवाद : एक सैद्धांतिक और ऐतिहासिक विश्लेषण

1. सैद्धांतिक आधार– नारीवाद का विकास तीन लहरों में हुआ (मताधिकार, कार्यस्थल समानता, और अंतर्संस्कृतिवाद), जिसका संगीत पर गहरा प्रभाव पड़ा :

- Feminist Musicology : सुजैन कुसेविट्सकी ने संगीत में 'मेल गेज' (पुरुष दृष्टि) की आलोचना की, जो संगीत रचनाओं को पुरुष–केंद्रित दृष्टिकोण से देखती है।
- जेंडर और परफॉरमेंटिविटी : जूडिथ बटलर के अनुसार, लिंग एक 'परफॉर्मेंस' है। संगीत के मंच पर कलाकार अपने प्रदर्शन से स्थापित लिंग–भूमिकाओं को चुनौती देता या उन्हें पुनर्निर्मित करता है।
- सबऑल्टर्न की आवाज : गायत्री स्पिवाक की 'सबऑल्टर्न' (अधीनस्थ) अवधारणा संगीत में उन हाशिए की महिलाओं की आवाज को समझने में मदद करती है, जिन्हें इतिहास में दबाया गया।

2. भारतीय संदर्भ : द्वंद्व और सौंदर्यशास्त्र

- शास्त्रीय द्वंद्व : भारतीय शास्त्रीय संगीत में 'स्त्री रागिनियों' का अस्तित्व स्त्री को प्रकृति के प्रतीक के रूप में पूजता तो है, लेकिन ऐतिहासिक रूप से इनका प्रदर्शन पुरुष–प्रधान रहा।
- विरोध के स्वर : ठुमरी और भजन जैसे रूपों में 'स्त्री–रस' की अभिव्यक्ति पितृसत्तात्मक मर्यादाओं को तोड़कर स्त्री की इच्छाओं और पीड़ा को केंद्र में लाती है।

3. कालक्रम के अनुसार नारीवादी संगीत में जो परिवर्तन आया उसके आधार पर विकास :

***असिस्टेंट प्रोफेसर, स्नातकोत्तर हिंदी विभाग, महात्मा गाँधी सरकारी कला महाविद्यालय, माहि, पुदुच्चेरी।**

युग	केंद्र बिंदु	प्रमुख प्रतिनिधि
मध्यकाल	आध्यात्मिक स्वतंत्रता	मीराबाई और अक्का महादेवी : इन्होंने ईश्वर भक्ति को गृहस्थी और पितृसत्ता से मुक्ति का मार्ग बनाया।
1920–1950	व्यक्तिगत स्वायत्तता	बेसी स्मिथ और ठुमरी गायिकाएं : इन्होंने निजी स्वतंत्रता और स्वाभिमान को संगीत का विषय बनाया। बेसी स्मिथ और बिली हॉलिडे जैसी गायिकाओं ने संगीत को घरेलू हिंसा के खिलाफ हथियार बनाया। उनका संगीत महिलाओं की आर्थिक और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की पहली बुलंद आवाज बना।
1990–2020	शरीर की स्वायत्तता और व्यवस्थागत विद्रोह	Riot Grrrl और पंक रॉक : बलात्कार संस्कृति, पितृसत्तात्मक ढांचे पर तीखे प्रहार किए और सामाजिक ढांचे के विरुद्ध आक्रामक स्वर प्रस्तुत किया।
वर्तमान	वैश्विक पहचान /डिजिटल नारीवाद	स्वतंत्र कलाकार : डिजिटल प्लेटफॉर्म के जरिए समानता और समावेशिता की वैश्विक मांग। पॉप और हिप–हॉप– बेयॉन्से जैसे समकालीन कलाकारों ने नारीवाद को मुख्यधारा के पॉप संगीत का हिस्सा बनाया।

इन सबका मुख्य संदेश है संगीत केवल स्वर नहीं, बल्कि पितृसत्ता के विरुद्ध एक निरंतर जारी सांस्कृतिक विद्रोह है। संगीत प्रोडक्शन और साउंड इंजीनियरिंग (जहाँ महिलाओं की भागीदारी 5 प्रतिशत से कम है) पर अधिकार करना आज का सबसे बड़ा क्रांतिकारी कदम है।

भारतीय शास्त्रीय संगीत : घरानों की पितृसत्ता और स्त्री प्रतिरोध : भारतीय शास्त्रीय संगीत (हिंदुस्तानी और कर्नाटक) ऐतिहासिक रूप से स्त्री कलाकारों के संघर्ष और विजय का गढ़ रहा है। गंगूबाई हंगल और किशोरी आमोणकर जैसी दिग्गज गायिकाओं ने पुरुष–प्रधान घराना प्रणाली को कड़ी चुनौती दी। यद्यपि हिंदुस्तानी संगीत के प्रमुख घराने (जैसे ग्वालियर, किराना, जयपुर–अतरौली) पुरुष उस्तादों द्वारा स्थापित थे, लेकिन जयपुर–अतरौली घराने की किशोरी आमोणकर ने रागों के भाव–पक्ष को प्रधानता देकर संगीत को एक नई 'स्त्री–संवेदना' से भर दिया। उन्होंने शास्त्रीय संगीत के कठोर नियमों के भीतर अपनी मौलिकता को स्थापित कर पुरुष–सत्तात्मक ढांचे को चुनौती दी।

ठुमरी, दादरा और भक्ति संगीत का विद्रोही स्वर : अर्ध–शास्त्रीय रूपों जैसे ठुमरी और दादरा में 'विरहिणी नायिका' की पीड़ा केवल वियोग का विलाप नहीं, बल्कि नारीवादी प्रतिरोध का प्रतीक है। मध्यकाल में मीराबाई का संगीत शुद्ध विद्रोह था। उन्होंने 'लोक–लाज' का त्याग कर सार्वजनिक रूप से गायन चुना, जो तत्कालीन पितृसत्तात्मक समाज के लिए एक खुली चुनौती थी। उनके भजन न केवल भक्ति के मार्ग थे, बल्कि पति–परित्याग और सती–प्रथा जैसी कुरीतियों के विरुद्ध एक वैचारिक उद्घोष थे। सुजाता पाटिल जैसे विद्वान जहाँ पारंपरिक भक्ति संगीत में स्त्री–उत्पीड़न के स्वर देखते हैं, वहीं मीरा और अक्का महादेवी ने इसी संगीत को अपनी स्वतंत्रता का माध्यम बनाया।

आवाज की राजनीति और वैश्विक मंच : कर्नाटक संगीत में एम.एस. सुब्बुलक्ष्मी ने अपनी कलात्मक उत्कृष्टता से न केवल वैश्विक ख्याति प्राप्त की, बल्कि उन संगीत अकादमियों के द्वार भी महिलाओं के लिए खोले, जो पहले पुरुष–प्रधान थीं। नारीवादी दृष्टिकोण से संगीत 'आवाज की राजनीति' का क्षेत्र है, जहाँ बेगम अख्तर की गजलें प्रेम और विरह में स्त्री की स्वायत्तता को स्वर देती हैं। यह संघर्ष वैश्विक है! 19वीं सदी के पश्चिम में जहाँ महिलाओं को केवल 'प्रेरणा' माना जाता था, वहाँ क्लारा शुमान जैसी महान संगीतकारों को अपने पति की छाया में दबना पड़ा। यह सिद्ध करता है कि संगीत में रचनात्मक शक्ति का दावा करना ही अपने आप में एक बड़ा नारीवादी कदम रहा है।

लोक संगीत : भारतीय नारीवाद का जन–आधार : लोक संगीत भारतीय नारीवाद का वह जमीनी धरातल है, जहाँ ग्रामीण और आदिवासी स्त्रियाँ सदियों से अपनी स्वायत्तता दर्ज कराती आई हैं। महाराष्ट्र में बहिणाबाई चौधरी ने अपने गीतों (ओव्या) के माध्यम से घरेलू श्रम और सामाजिक कुरीतियों पर तीखा प्रहार किया, जबकि पंजाब और राजस्थान की लोक परंपराओं में महिलाएँ संगीत को अपनी पहचान का माध्यम बनाती हैं। राजस्थान

की मांगणियार महिला गायिकाओं ने सामाजिक पर्दा–प्रथा को चुनौती देकर सार्वजनिक मंचों पर अपनी उपस्थिति दर्ज कराई है।

इच्छाओं की अभिव्यक्ति और 'फोक फेमिनिज्म' : उत्तर भारत में कजरी, चौता और सोहर जैसे गीत स्त्री की उन इच्छाओं और भावनाओं को व्यक्त करते हैं, जिन्हें मुख्यधारा का समाज अक्सर वर्जित मानता है। नारीवादी विद्वान नेहा सिंह इन्हें 'फोक फेमिनिज्म' का नाम देती हैं, जहाँ इन गीतों के माध्यम से दहेज–प्रथा, बाल–विवाह और पितृसत्तात्मक दमन का विरोध किया जाता है। 'कजरा ले लिही जाईं' जैसे गीतों का उदाहरण यह स्पष्ट करता है कि लोक परंपराओं में स्त्री की कामुकता और उसकी पसंद को सहज स्वीकृति प्राप्त थी, जो कि पितृसत्तात्मक नैतिकता के विरुद्ध एक सांस्कृतिक प्रतिरोध है।

हाशिए के स्वर और प्रकृति से जुड़ाव : पश्चिम बंगाल के भाटियाली और अन्य लोक रूपों में विधवाओं और परित्यक्त स्त्रियों की पीड़ा को स्वर दिया गया है, जो उनके सामाजिक संघर्ष का प्रतीक है। वहीं, छत्तीसगढ़ और मध्य भारत के आदिवासी संगीत (जैसे सुआ और करमा) में महिलाएँ प्रकृति और स्त्री–शक्ति के अंतर्संबंधों को उजागर करती हैं। आदिवासी संगीत पितृसत्ता से मुक्ति का एक ऐसा माध्यम है जहाँ स्त्री स्वयं को प्रकृति की तरह स्वतंत्र और सर्जक के रूप में स्थापित करती है। यह सिद्ध करता है कि लोक संगीत केवल परंपरा नहीं, बल्कि सत्ता के विरुद्ध एक निरंतर जारी 'सुरक्षा कवच' और 'हथियार' है।

फिल्मी संगीत और नारीवादी क्रांति : फिल्मी संगीत भारतीय सिनेमा का हृदय है, जिसने स्वतंत्रता पूर्व से लेकर वर्तमान (2026) तक नारीवादी चेतना को स्वर देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। 1940 के दशक से लता मंगेशकर ने अपनी गायकी के माध्यम से स्त्री–आवाज को एक गरिमापूर्ण पहचान दी। 1950–70 के स्वर्ण युग में 'प्यार किया तो डरना क्या' (मुगल–ए–आजम, 1960) जैसे गीतों ने पितृसत्तात्मक सत्ता के विरुद्ध स्त्री की प्रेमपरक और यौनिक स्वतंत्रता का उद्घोष किया। जहाँ लता जी ने विरहिणी नायिका को मानवीय गरिमा प्रदान की, वहीं आशा भोसले ने 'दम मारो डम' (हरे रामा हरे कृष्णा) जैसे गीतों के माध्यम से एक विद्रोही और अपरंपरागत स्त्री छवि को संगीत के केंद्र में स्थापित किया।

सशक्तिकरण के नए आयाम : 1980 के दशक में 'सलाम–ए–इश्क' जैसी प्रस्तुतियों ने जहाँ स्त्री की कलात्मक शक्ति को दिखाया, वहीं वर्तमान में स्वतंत्र महिला संगीतकारों ने बॉलीवुड के पारंपरिक ढांचे को तोड़कर समानता और वैश्विक पहचान को प्राथमिकता दी है। आज का फिल्मी संगीत पारंपरिक बंधनों के खिलाफ बगावत, आर्थिक आत्मनिर्भरता और निरंतर संघर्ष की कहानी बयां करता है, जो इसे नारीवादी क्रांति का एक सशक्त और लोकप्रिय माध्यम बनाता है।

उत्तर–आधुनिक दौर और आइटम सॉन्गस का द्वंद्व : सन 2000 के बाद का दौर 'पोस्ट–फेमिनिस्ट' विमर्श का रहा है, जहाँ 'आइटम सॉन्गस' को लेकर एक जटिल बहस छिड़ी। यद्यपि ये गीत पारंपरिक रूप से 'मेल गेज' (पुरुष दृष्टि) के लिए बनाए गए, लेकिन नारीवादी दृष्टिकोण से इनकी एक वैकल्पिक व्याख्या भी संभव है। आधुनिक दौर के कुछ नृत्य प्रधान गीतों में महिलाएँ अपनी कामुकता (Sexuality) पर स्वयं का अधिकार जताती नजर आती हैं। ये गीत नारी को केवल 'वस्तु' के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसी विद्रोही शक्ति के रूप में चित्रित करते हैं जो अपनी देह और अपनी पसंद के चुनाव में स्वतंत्र है। निम्नलिखित प्रसिद्ध गाने नारी को वस्तु न बनाकर अपनी इच्छा से मनोरंजन करने वाली शक्ति के रूप में दिखाते हैं, हालांकि आलोचक इन्हें मेल गेज (पुरुष दृष्टि)का हिस्सा मानते हैं। कई गीत स्त्री–सशक्तिकरण के प्रतीक बने। इक्कीसवीं सदी के प्रथम और द्वितीय दशक के प्रमुख चर्चित फिल्मी नारीवादी गीत और उसके उदाहरण–

क्रम	गीत	नायिका / फिल्म (वर्ष)	गायिका	नारीवादी संदेश
1	कजरारे कजरारे तेरे नैना	(एश्वर्या) बंटी और बबली 2005	अलीशा चीनय	आत्मविश्वास, मोहक आकर्षक और पारंपरिक भारतीय नारी को आधुनिक सन्दर्भ में पेश करता है, जहाँ वह अपनी आँखों के जरिये अपनी इच्छाओं और शर्तों को व्यक्त करती है।
2	बीढ़ी जलाइले	(बिपाशा बसु) ओमकारा 2006	सुनिधि चौहान	स्त्री की मुखरता, पारंपरिक भूमिकाओं को चुनौती, महिला की कामुकता (Sexuality) और उसकी अपनी पसंद पर नियंत्रण को केंद्र में रखता है।

3	ओ ओ वुमनिया	गैंग्स ऑफ वासेपुर (2012)	कल्पना पाटिल	ग्रामीण महिलाओं की ताकत और स्वतंत्रता को चित्रित करता है।
4	पटाखा गुड़दी	(आल्या भट्ट) हाईवे (2014)	नूरन सिस्टर्स	यह गाना महिलाओं को आजादी और बेफिक्र जीवन जीने की प्रेरणा देता है, विद्रोही भाव से भरा हुआ। सामाजिक बंधनों से मुक्ति, 'पटाखा गुड़दी' प्रतीक।
5	रुपैय्या	सत्यमेव जयते (2012)	सोना महापात्रा	यह गाना दहेज प्रथा के खिलाफ विद्रोह करता है, महिलाओं की आर्थिक स्वतंत्रता पर जोर देता है।दहेज–विरोध, स्त्री आत्मनिर्भरता पर बल देता है।
6	जिद्दी दिल	(प्रियंका चोपड़ा) मैरी कॉम (2014)	विशाल ददलानी, प्रशांत इंगोले और गियोकोंडा वेसिकेली	प्रेरणा और जूनून से भरा गाना है। यह गाना हार न मानने और सपनों के लिए लड़ने का संदेश देता है।
7	जीते हैं चाल	(सोनाम कपूर) नीरजा (2016)	कविश सेठ और अर्चना गोर	प्रेरणादायक गाना है। नीरजा भनोट की बहादुरी, साहस का गान है।
8	धाकड	दंगल (2016)	नेहा सिंह राठौर	लड़कियों की ताकत दिखाता यह गानाद्य गांव की रूढ़ियों के खिलाफ विद्रोह का प्रतीक है। कुश्ती में लड़कियों की जीत को दर्शाता है।
9	फेविकोल से	करीना कपूर, दबंग 2 (2012)	ममता शर्मा	यह गाना मजबूत महिला की छवि को दिखाता है, हालांकि विवादास्पद लेकिन सशक्त डांस के रूप में सराहा गया। स्त्री की कामुक शक्ति, लेकिन मेल गेज बहस।
10	शीला की जवानी	(कैटरीना कैफ) तीस मार खां, (2010)	सुनिधि चौहान	आत्मविश्वास और बॉडी पॉजिटिविटी को दर्शाता है, ष्आई एम सेक्सीष जैसे बोल से नारी की स्वायत्तता उभरती है।
11	चिकनी चमेली	(करीना कपूर) अग्निपथ, 2012	श्रेया घोषाल	चमेली का पात्र अपनी कामुकता पर नियंत्रण रखता है। वह डरी हुई नहीं है, बल्कि अपनी शर्तों पर नाच रही है और भीड़ को नियंत्रित कर रही है। महिला को एक 'उपभोग की वस्तु' की तरह दिखाते हैं, जो पितृसत्तात्मक सोच को बढ़ावा दे सकता है।
12	अनारकली डिस्को चली	(मल्लिका अरोड़ा हाउसफुल– 2 2012	ममता शर्मा	अनारकली का 'डिस्को' जाना प्रतीकात्मक रूप से पुरानी बंदिशों को तोड़कर आधुनिकता और अपनी मर्जी से जीने का संकेत है। महिला के अपनी पसंद के स्थान पर जाने और अपनी देह पर स्वयं के अधिकार को दर्शाता है।
13	कमली कमली	(कैटरीना कैफ) धूम 3, 2013	सुनिधि चौहान	ताकतवर नारी ऊर्जा को आइटम स्टाइल में प्रस्तुत करती है।
14	हंगामा हो गया	(कंगना राणावत) क्वीन, 2014	अरिजीत सिंह और अदिति सिंह शर्मा	यह गाना स्वयं की खोज करना सिखाता है। रानी के संकोच को छोड़ने और अपनी इच्छाओं को खुलकर जीने का प्रतीक है। पेरिस के क्लब में अकेले नाचना यह दिखाता है कि एक महिला की खुशी किसी पुरुष या समाज की मंजूरी की मोहताज नहीं है।
15	आ–रे–प्री तम प्यार	रावडी राठौर 2012	ममता शर्मा	यौन स्वायत्तता, पुरुष प्रधान समज को चुनौती, अभिव्यक्ति की स्वतंत्रतारू यह गाना पारंपरिक 'शर्मीली' भारतीय नारी की छवि को तोड़कर एक ऐसी महिला को पेश करता है जो बेबाक है और अपनी पसंद–नापसंद को जोर–शोर से व्यक्त करने से नहीं डरती।
16	हलकट जवानी	(करीना कपूर) हिरोइन, 2012	सुनिधि चौहान	महिला सशक्तिकरण या पितृसत्ता को चुनौती देने के बजाय, एक आइटम सॉन्ग के रूप में महिला के ग्लैमर और 'मस्ती' को दिखाने पर केंद्रित है, जिसे कभी–कभी

				'ऑब्जेक्टिफिकेशन' के लिए भी देखा जाता ह
17	गर्ल्स लाइक टू स्विंग	प्रियंका चोपड़ा दिल धड़कने दो 2015	सुनिधि चौहान	नारी की आजादी और मस्ती को विद्रोही अंदाज में दिखाता है।
18	आज की रात	तमन्ना भाटिया स्त्री–2 2024	मधुबंती बागची	गाने के बोल से स्पष्ट है "ख़रीदी नहीं जा सकती हसीनों की इजाज़त" सीधे तौर पर महिला की सहमति और स्वायत्तता की बात करते हैं। यह संदेश देता है कि महिला की पसंद बिकाऊ नहीं है।

उपरोक्त ये गीत लोकप्रियता से नारीवाद को फैलाते हैं। इस प्रकार के गानों की लम्बी सूची तैयार की जा सकती है। स्त्री कलाकारों की भूमिका और नायिकाओं की आवाज ने गीत और संगीत को और अधिक प्रभावशाली और शक्तिशाली बना दिया है। आइटम सॉन्गस पर बहस होती रही है और इसे पोस्ट फेमिनिस्ट कहा जाता है– स्त्री यौनिकता का उत्सव, लेकिन आलोचना मेल गेज (पुरुष दृष्टि) से की जाती है। ये गाने स्त्री को एक्जेटिव बनाते हैं, परन्तु बॉडी ऑब्जेक्टिफिकेशन बढ़ाते हैं।

फेमिनिस्ट आइटम सॉन्ग की प्रमुख विशेषताएं– फेमिनिस्ट आइटम सॉन्ग बॉलीवुड में दुर्लभ होते हैं, लेकिन इनकी प्रमुख विशेषताएं महिलाओं को सशक्त, स्वायत्त और विद्रोही रूप में चित्रित करना हैं। ये गाने पारंपरिक आइटम सॉन्गस के विपरीत पितृसत्तात्मक बंधनों को चुनौती देते हैं।

- स्वायत्तता पर जोर– महिलाएं अपनी कामुकता को स्वयं नियंत्रित करती हैं, पुरुषों के लिए प्रदर्शन न होकर आत्म–अभिव्यक्ति के रूप में। बोलों में आत्मविश्वास जैसे 'आई एम सेक्सी' या स्वतंत्रता के संदेश प्रमुख होते हैं।
- विद्रोही भाव– रूढ़िवादी सामाजिक मानदंडों के खिलाफ बगावत, जैसे ब्रेकअप के बाद मुक्ति या बॉडी पॉजिटिविटी, डांस में ताकतवर, एथलेटिक मूव्स जो कमजोरी न दिखाएं।
- सांस्कृतिक प्रभाव– दर्शकों द्वारा रीक्लेम्ड, Sexism से मुक्त व्याख्या संभव। महिला गायिकाओं की दमदार आवाज, जैसे आशा भोसले, सुनिधि चौहान, इला अरुण, ममता शर्मा, श्रेया घोषाल आदि। ये विशेषताएं गाने को मनोरंजन से आगे सशक्तिकरण का माध्यम बनाती हैं।

भारतीय संगीत में नारीवाद की चुनौतियां पितृसत्तात्मक घराने, यौनिक उत्पीड़न (मेटू मूवमेंट में कई संगीतकार आरोपी) और व्यावसायिक Me Too ने Music Too लाया, जहां कई स्त्री कलाकारों ने आरोप लगाए।

निष्कर्ष– संगीत नारीवाद का एक ऐसा सूक्ष्म परंतु शक्तिशाली हथियार सिद्ध हुआ है, जिसने समय की सीमाओं को लांघकर स्त्री–चेतना को नई दिशा दी है। भारतीय संगीत के व्यापक फलक पर मध्यकालीन मीराबाई के विद्रोही भजनों से लेकर लता मंगेशकर के कालजयी स्वर और लोक संगीत से लेकर आधुनिक फिल्मी गीतों तक स्त्री स्वर ने पितृसत्तात्मक मुख्यधारा को न केवल चुनौती दी है, बल्कि उसे पुनर्परिभाषित भी किया है। संगीत ने महिलाओं को अपनी अस्मिता (Identity) व्यक्त करने के लिए एक ऐसा 'अमूर्त' मंच प्रदान किया है, जहाँ सुरों की शक्ति उन बाधाओं को पार कर लेती है जहाँ शब्द प्रायः कम पड़ जाते हैं। नारीवादी संगीतशास्त्र (Feminist Musicology) यह सिद्ध करता है कि जब एक महिला संगीत का सृजन या प्रदर्शन करती है, तो वह केवल मनोरंजन नहीं कर रही होती, बल्कि अपनी सामाजिक उपस्थिति और एजेंसी का दावा कर रही होती है। अतः आज की आवश्यकता केवल मंच पर महिलाओं की उपस्थिति तक सीमित नहीं है, बल्कि संगीत उद्योग के हर स्तर पर स्त्री संगीतकारों और तकनीकी विशेषज्ञों को प्रोत्साहन देने की है। जब संगीत मनोरंजन के दायरे से बाहर निकलकर सशक्तिकरण का माध्यम बनता है, तभी वह पितृसत्ता की वैचारिक दीवारों को ढहाने में सफल होता है।

संदर्भ–सूची :–

1. https://www.vogue.in/culture-and-living/content/bollywood-item-songs-are-being-reclaimed-by-women-to-strip-them-of-their-sexism
2. https://feminisminindia.com/2019/01/31/20-indian-songs-feminist-playlist/
3. https://hindi.feminisminindia.com/2020/12/22/bollywood-and-sexist-songs-hindi
4. https://www.youtube.com/watch?v=0tF3Y7ANOAk
5. https://hindi.feminisminindia.com/2020/12/22/bollywood-and-sexist-songs-/
6. https://feminisminindia.com/2019/01/31/20-indian-songs-feminist-playlist/
7. https://www.abplive.com/entertainment/bollywood/international-womens-day2

स्वाधीनता आन्दोलन और हिंदी पत्रकारिता : स्वप्न से संकल्प तक

अमित कुमार*

'संकल्प' और 'स्वप्न' की चेतना के साथ हिंदी पत्रकारिता का उदय होता है। किसी भी राष्ट्र के उन्नति के लिए 'संकल्प' और 'स्वप्न' दोनों की जरूरत होती है। संकल्प की दृढ़ता के अभाव में कोई भी देश सशक्त राष्ट्र नहीं बन सकता है और स्वप्नशीलता के अभाव में कोई भी राष्ट्र जड़ और दिशाहीन राष्ट्र बन जाता है। किसी भी देश के लिए 'संकल्प' और 'स्वप्न' की महत्ता तब और बढ़ जाती है, जब वह देश पराधीन हो। हिंदी पत्रकारिता का मिजाज आरम्भ से स्वतंत्रता प्राप्ति तक 'संकल्प' और 'स्वप्न' के साथ आगे बढ़ा है। 'संकल्प' उसकी चेतना को नैतिक दृढ़ता प्रदान करता है, तो 'स्वप्न' उसकी चेतना को हर तरह के शोषण से मुक्त स्वतंत्रता के साथ जीने की आदिम लालसा। औपनिवेशिक दौर की पत्रिकाओं में इस संकल्प के मायने हैं– स्व के प्रति दृढ़ता, निज भाषा, स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग, सामाजिक सुधार, कुरीतियों का विरोध, शिक्षा का प्रचार–प्रसार, जनता में वैज्ञानिक चेतना का प्रसार और स्वप्न का मतलब है– स्वराज्य की अदम्य कामना। संकल्प और स्वप्न की लालसा ही भारतेंदु से लेकर प्रेमचन्द जैसे साहित्यकारों को भी पत्रकार बनने के लिए प्रेरित करती है। यही कारण है कि एक साहित्यकार अपने साहित्यिक दायित्व के साथ–साथ पत्रकार का दायित्व भी बखूबी तरीके से निभाता है। इसलिए भारतेंदु और प्रेमचन्द जितने बड़े साहित्यकार हैं, उतने बड़े पत्रकार भी हैं।

भारतीय पत्रकारिता और राष्ट्रीयता दोनों एक–दूसरे से बहुत गहरे स्तर पर गुँथे हुये हैं। राष्ट्रीयता ने पत्रकारिता को उद्देश्य दिया, तो पत्रकारिता ने राष्ट्रीयता को स्वर। इस राष्ट्रीयता के साथ स्वाधीनता की चेतना गहरे स्तर पर जुडी हुई है। अंग्रेजों ने भारत को न केवल भौतिक स्तर पर गुलाम बनाकर रखा था, बल्कि सांस्कृतिक स्तर पर भी वे भारत को पिछड़ा और असभ्य मानते थे। भारतीय नवजागरण से प्रभावित सांस्कृतिक आन्दोलन का सबसे प्रत्यक्ष और पहला लाभ राष्ट्रीय दृष्टि से यह हुआ कि इसने हमारी पराजयजनित निराशा और जड़ता को तोड़ा और हममें नये सिरे से जागृति की चेतना उत्पन्न की। इन सारे प्रयासों को सफल बनाने में प्रेस की महत्वपूर्ण भूमिका थी। आत्मविश्वास किसी भी लड़ाई को जीतने की पहली शर्त है। भारतीय पत्र–पत्रिकाओं ने न केवल सांस्कृतिक स्तर पर भारतीय जनता में आत्मविश्वास की चेतना का संचार किया, बल्कि स्वाधीनता की लडाई के लिए उन्हें एकजुट करने का भी काम किया।

भारतीय स्वतंत्रता संग्राम एक ऐसा ऐतिहासिक आंदोलन था, जिसने ब्रिटिश साम्राज्यवाद को चुनौती दी और भारतीय समाज में राष्ट्रीय एकता, जागरूकता और आत्मसम्मान की भावना जगाई। इस आंदोलन की सफलता में कई कारकों का योगदान था, लेकिन हिंदी पत्रकारिता की भूमिका को कम नहीं आंका जा सकता। हिंदी पत्रकारिता ने स्वतंत्रता संग्राम को जन–आंदोलन का रूप दिया, जहाँ कलम ने तलवार की तरह काम किया। यह न केवल सूचना का साधन बनी, बल्कि सामाजिक बदलाव, राजनीतिक जागृति और राष्ट्रीय एकता का भी मजबूत आधार बनी। इस संदर्भ में कृष्ण बिहारी मिश्र लिखते हैं– "पराधीनता काल के पत्रकारों का साम्राज्यशाही नृशंसता से सीधा मुकाबला हुआ था। देश की आजादी की लड़ाई मुख्यतः पत्र–पत्रिकाओं के माध्यम से लड़ी गयी। स्वतंत्रता–संग्राम को गतिशील और समृद्ध बनाने में पत्रकारिता की महत्वपूर्ण भूमिका रही है।"[1]

हिंदी पत्रकारिता की अहमियत इस बात में है कि यह उत्तर प्रदेश, बिहार, मध्य प्रदेश जैसे हिंदी भाषी क्षेत्रों की विशाल आबादी तक पहुंची, जहाँ अंग्रेजी पत्रकारिता का असर बहुत सीमित था। इसने न

***शोधार्थी, भारतीय भाषा केन्द्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली।**

केवल राजनीतिक चेतना जगाई, बल्कि छुआछूत, बाल–विवाह और स्त्री–शिक्षा की कमी जैसी सामाजिक कुरीतियों पर भी करारा प्रहार किया, जो स्वतंत्रता संग्राम की नींव बने। आँकड़ों के मुताबिक, 1924 तक हिंदी में 102 समाचार–पत्र प्रकाशित हो रहे थे, जिनमें से कई स्वतंत्रता आंदोलन के प्रमुख मंच बने।

हिंदी पत्रकारिता की शुरुआत उन्नीसवीं सदी में प्रिंटिंग प्रेस के आगमन के साथ हुई। 'हिन्दुस्तानियों के हित' के संकल्प के साथ हिंदी के प्रथम समाचार पत्र 'उतंड मार्तंड' का प्रकाशन की शुरुआत होती है, जिसे 30 मई, 1826 को कलकत्ता में पंडित युगल किशोर शुक्ल ने शुरू किया था। 'उदंत मार्तंड' ने हिंदी में आधुनिक सार्वजनिक मंच की नींव रखी। युगल किशोर शुक्ल ने अपनी पहली संपादकीय में स्पष्ट किया कि यह पत्र 'हिन्दुस्तानियों के हित' के लिए प्रकाशित हो रहा है। इस संपादकीय को हिंदी पत्रकारिता की पहली प्रतिज्ञा माना जा सकता है। 'उदंत मार्तंड' ने न केवल पहला हिंदी अखबार होने का गौरव प्राप्त किया, बल्कि खड़ीबोली और ब्रज के मिश्रण से ऐसी गद्य भाषा का उपयोग किया, जो हिंदी क्षेत्र की विभिन्न बोलियों को जोड़ने वाली सेतु भी बना। हालाँकि, संसाधनों की कमी, डाक व्यवस्था की समस्याओं और पाठक बाजार की अपरिपक्वता के कारण इसका प्रकाशन लंबे समय तक नहीं चल सका, फिर भी इसने कम समय में यह साबित किया कि हिंदी में समसामयिक समाचार और विचारों का नियमित मंच संभव है। औपनिवेशिक राजधानी कलकत्ता से प्रकाशित होने वाला यह साप्ताहिक पत्र उत्तर भारत के पाठकों को यह विश्वास दिलाता था कि उनकी जनभाषा भी औपचारिक संचार का माध्यम बन सकती है। यही विश्वास आगे चलकर हिंदी पत्रकारिता की आत्मविश्वास की बुनियाद बना।

भारतेंदु युग से पहले हिंदी पत्रकारिता में कोई ठोस क्रमबद्धता दिखाई नहीं देती। उस दौर के ज्यादातर पत्र अस्थायी थे– कुछ मासिक, तो कुछ साप्ताहिक। लेकिन सन् 1854 ई. में जब कलकत्ता से 'समाचार सुधावर्षन' नामक पत्रिका प्रकाशित हुई, तो हालात बदलने लगे। यह हिंदी का पहला दैनिक समाचार पत्र था, जिसने पत्रकारिता की निरंतरता को नया आयाम दिया। 1857 के स्वतंत्रता संग्राम में इस पत्र की भूमिका बेहद अहम रही। इसी साल दिल्ली से 'पयामे आज़ादी' का प्रकाशन शुरू हुआ, जिसके संपादक अजीमुल्ला खाँ थे। यह पत्र भी क्रांति की चेतना जगाने और लोगों में स्वतंत्रता की ललक पैदा करने में बेहद प्रभावशाली साबित हुआ। इसमें तत्कालीन भारत का राष्ट्रगीत छपा था–

आज शहीदों ने तुमको अहले वतन ललकारा ।
तोड़ो गुलामी की जंजीरें बरसाओ अंगारा।।"

इसके अलावा भारतेंदु के पत्रकारिता की दुनिया में आगमन के पहले सुधाकर, प्रजाहितैषी, बुद्धिप्रकाश, बनारस अखबार, ज्ञान प्रदायिनी आदि पत्र–पत्रिकाओं ने भी अंग्रेजों की शोषणकारी नीतियों की जमकर आलोचना की। अनेक संकटों का सामना करते हुए ये पत्र निकलते रहे। आगे भारतेंदु काल में हिंदी पत्रकारिता का जो विकास हुआ उसकी पृष्ठभूमि यहीं से तैयार हुई।

हिंदी पत्रकारिता में स्वाधीनता की चेतना को देखने से पहले यह जरूरी होगा कि तत्कालीन भारत की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों को देख–समझ लिया जाये। तत्कालीन भारत की स्थितियों पर विचार करते हुए के.एस. शेल्वेंकर ने एक बड़ी बात कही है। वे लिखते हैं– "भारत पहले भी पराजित हुआ था, किन्तु उन विजेताओं से जो इसी भूमि में आकर बसे और अपने को यहाँ के जीवन का एक अंग बना लिया। भारत कभी भी अपनी स्वतंत्रता से वंचित नहीं हुआ, कभी गुलाम नहीं बना। मतलब यह कि वह कभी भी एक राजनीतिक और आर्थिक पद्धति का अंग नहीं बनाया गया, जिसका मूल केंद्र कहीं अन्यत्र था, कभी भी वह ऐसी जाति के द्वारा पराधीन नहीं हुआ जो मौलिक प्रकृति और व्यक्तित्व में हमेशा ही उससे भिन्न थी और बनी रही।"[2] चूँकि अंग्रेजों के मन में भारतीय भूमि और भारतीयों के प्रति किसी प्रकार की आत्मीयता न थी, इसलिए यह स्वाभाविक था कि इस उर्वर भूमि को वह पूरी निर्ममता से लुटते। अंग्रेजों द्वारा इस लुट से भारतवर्ष का आर्थिक मेरुदण्ड ही झुक गया। जिस प्रादेशिक अंचल पर उनकी दृष्टि गई, वहीं दरिद्रता छा गई। इस आर्थिक दोहन पर टिप्पणी करते हुए एक अमेरिकी इतिहासकार ने लिखा है– "शायद जब से दुनिया शुरू हुई है, किसी भी पूँजी से कभी इतना मुनाफा नहीं हुआ, जितना कि हिंदुस्तान की लूट से, क्योंकि करीब–करीब पचास बरस तक ग्रेट ब्रिटेन का कोई भी मुकाबला करने वाला नहीं था।"

आर्थिक लूट का सबसे विकृत रूप यह था कि "आधुनिक ढंग से आर्थिक साम्राज्यवाद ने नये ढंग का आर्थिक शोषण शुरू किया, जो पहले के युगों में प्रचलित नहीं था। पहले भारतीय वस्तुओं की खपत बाजार में होती थी, किन्तु ब्रिटिश उद्योगपतियों के एक नये वर्ग ने पार्लियामेंट के प्रभाव से इसमें एक विचित्र परिवर्तन उपस्थित कर दिया। भारतीय माल के लिए ब्रिटिश बाजार बंद हो गये। कारोबार सम्बन्धी ऐसे–ऐसे कानून बनाये गये जिससे भारतीय व्यापारियों को बड़ा धक्का लगा। माल विदेश भेजना तो दूर अपने ही देश में उनके उत्पादन पर तरह–तरह के कर और प्रतिबंध लगा दिए गये। दूसरी ओर ब्रिटिश माल को भारतीय बाजारों से पूरी छुट दी गई, उसकी खपत के लिए भारत के बाजार मुक्त कर दिए गये। भारतीय गृह–उद्योगों पर यह एक ऐसा प्रहार था, जिसका एकमात्र परिणाम बेकारी और दरिद्रता ही हो सकता था।"[3] हिंदी पत्रकारिता इन शोषणकारी प्रक्रिया को देख रही थी, इसलिए हिंदी पत्रकारिता के शुरुआत से ही पत्रकारों ने आर्थिक शोषण पर प्रमुखता से लिखा। स्वयं भारतेंदु ने दादाभाई नौरोजी की भारत की आर्थिक शोषण को लेकर लिखी गई चर्चित पुस्तक 'पावर्टी एंड अनब्रिटिश रूल इन इण्डिया' को अपनी पत्रिका में प्रकाशित किया। भारतेंदु ने यह देखा कि किस तरह से भारतीय जनता अपने दैनिक जीवनचर्या की वस्तुओं के लिए भी किसी अन्य देश पर निर्भर है। एक पत्रकार के रूप में चेतावनी की मुद्रा में अपने देशवासियों से वे कहते हैं– "जैसे हजार धारा होकर गंगा समुद्र में मिली है। वैसे ही तुम्हारी लक्ष्मी हजार तरह से इंग्लैण्ड, जर्मनी, अमेरिका को जाती है। दियासलाई ऐसी तुच्छ वस्तु भी वहीं से आती है। जरा, अपने को देखो। तुम जिस मरकिन की धोती पहने हो, वह अमेरिका की बनी है। जिस लंकलाट का तुम्हारा अंगा है, वह इंग्लैंड का है। फ्रांसिस की बनी कंघी से तुम सिर झारते हो और जर्मनी की बनी बत्ती तुम्हारे सामने जल रही है।"[4] भारतेंदु ने न केवल विदेशी वस्तुओं के प्रति बढती निर्भरता को लेकर आगाह किया, बल्कि वे अपनी पत्रिका 'कविवचन सुधा' के माध्यम से भारतीय जनता को स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग का संकल्प लेने का भी सन्देश देते हैं। 'कविवचन सुधा' पत्रिका में वे लिखते हैं– "हमलोग सर्वान्तर्यामी सब स्थल में वर्तमान सर्वद्रष्ट और नित्य सत्य परमेश्वर को साक्षी देकर यह निमय मानते हैं और लिखते हैं कि कोई विलायती कपड़ा न पहिरैंगे और जो कपड़ा कि पहिले से मोल ले चुके हैं और आज की मिती तक हमारे पास हैं उनको तो उनके जीर्ण हो जाने तक काम में लावैगे पर नवीन मोल लेकर किसी भी भांति का भी विलायती कपड़ा न पहिरैंगे। हिंदुस्तान ही का बना कपड़ा स्वीकार करैंगे और अपना नाम इस श्रेणी में होने के लिए श्रीयुत बाबू हरिश्चन्द्र को अपनी मनीषा प्रकाशित करैंगे और सब देशी हितैषी इस उपाय के वृद्धि में अवश्य उद्योग करेगें।"[5] भारतेंदु के इस स्वदेशी संकल्प पर टिप्पणी करते हुए रामविलास शर्मा कहते हैं– "कांग्रेस ने अभी स्वदेशी आन्दोलन न विधिपूर्वक आरम्भ किया था, न बंगभंग आन्दोलन ने ही जन्म लिया था। केवल हिंदी में भारतेंदु ने स्वदेशी आन्दोलन का सूत्रपात बहुत पहले कर दिया था।" भारतेंदु मंडल के सभी पत्रकारों में मुख्य जोर संकल्प पर है। इस संकल्प में निज भाषा की उन्नति से लेकर सामाजिक सुधार और सांस्कृतिक आन्दोलन सब शामिल हैं।

सभ्यता के संघर्षशील इतिहास में 'निषेध' और 'प्रतिरोध' का संघर्ष बहुत पुराना है। सत्ताएँ निषेध का फरमान लाती हैं। जन प्रतिरोध के अवयव तैयार करता है। इस संघर्ष में निषेध का फरमान जितना कड़ा होगा, प्रतिरोध का शिल्प उतना ही रचनात्मक होगा। भारतेंदु युग में अंग्रेजी सरकार ने जिस शक्ति से प्रेस एक्ट लगाकर प्रतिरोध की चेतना को कुचलने की कोशिश की, भारतेंदु युग के पत्रकार उतने ही रचनात्मक तरीके से प्रतिरोध के साथ अंग्रेजी सरकार की शोषणकारी नीतियों की आलोचना करते हैं। इस संदर्भ में स्वयं भारतेंदु के लेखन के साथ–साथ प्रताप नारायण मिश्र और बालकृष्ण भट्ट आदि पत्रकारों की भाषा को देखा जा सकता है। इनकी भाषा में एक खास तरह की व्यंग्यात्मक चुटीलापन देखने को मिलता है।

भारतीय इतिहास में बीसवीं सदी का आरंभिक दशक राष्ट्रीय आन्दोलन और राजनीतिक गतिविधियों की बेहद सक्रियता का समय है। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में देश हर दृष्टि से जागृत हो गया था। उस दौरान भारत में स्वदेशी के प्रति आग्रह बढ़ रहा था, स्वराज्य का अर्थ राष्ट्रीय नेताओं के सामने स्पष्टतर होता जा रहा था और विदेशी शासन के प्रति असंतोष भी बढ़ता जा रहा था। इस बढ़ते असंतोष के खतरे को भांपकर लार्ड कर्जन ने कई तरह के कठोर कानून लगाये।

बीसवीं शताब्दी का आरंभिक वर्ष लार्ड कर्जन के कुकृत्यों के लिए काफी प्रसिद्ध है। भारतीय जातीय शक्ति को विघटित करने के लिए कर्जन ने नाना प्रकार के कुकृत्यों का आश्रय लिया। बंगाल की शक्ति का उसे सही ज्ञान था और ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा का उस पर दायित्व था। उसे साम्राज्य रक्षा की चिंता थी। इसलिए जरूरी था बंगाल की शक्ति को विच्छिन करना। इसलिए और बंगाल की राष्ट्रीय शक्ति को तोड़ने के लिए उसने बंगाल को ही तोड़ दिया। बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक की यह सबसे बड़ी राजनीतिक दुर्घटना थी, जिसपर टिप्पणी करते हुए लोकमान्य तिलक लिखते हैं– "लार्ड कर्जन बंगालियों की संघ शक्ति को कुचलना चाहता है, क्योंकि उसे डर है कहीं वे अंग्रेजी सरकार पर हावी न हो जाएँ।"[6] स्मरणीय है कि बंगीय जातीय चेतना इतनी बलवती और उग्र थी कि उससे कर्जन आतंकित हो गया था, किन्तु इस आतंक से त्राण पाने के लिए उसने जिस मार्ग का सहारा लिया, वह उसके उद्देश्य के प्रतिकूल पड़ा। सम्पूर्ण भारत ने बंगाल के प्रश्न के साथ अपनी अस्मिता को जोड़कर आन्दोलन को गहरा रंग दे दिया। इस बंग आन्दोलन ने स्वदेशी आन्दोलन को प्रेरित किया। स्वदेशी आन्दोलन की गति निरंतर तेज होती गई। स्थान–स्थान पर सभाएं होने लगीं। स्वदेशी वस्तु और वस्त्र–भण्डार खुलने लगे। 7 अगस्त 1905 ई. को कलकता के टाउनहाल में ऐतिहासिक सभा हुई थी। जिसमें हजारों व्यक्तियों ने विदेशी बहिष्कार और स्वदेशी प्रचार की शपथ ली थी और वंदेमातरम् का मन्त्रवत उच्चारण किया था। उन्नीसवीं सदी में धर्म और सांस्कृतिक आन्दोलन का बहुत प्रभाव था। बीसवीं शताब्दी में धर्म और समाज–सुधार के आन्दोलन कुछ पीछे निकल गये। इस युग की जातीय चेतना ने धीरे–धीरे राष्ट्रीय चेतना का रूप ग्रहण किया। फलतः इस दौर की पत्रकारिता साहित्य और राजनीति को साथ लेकर चलती है।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भिक दो दशकों की भारतीय राजनीति का नेतृत्व लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक के हाथों में था। इस अवधि को कुछ इतिहासकारों ने भारतीय स्वतंत्रता–संग्राम का तिलक युग कहा है। तिलक को 'केसरी' पत्र की पत्रकारिता के लिए 'पत्रकार शिरोमणि' की उपाधि दी गई। उन्होंने 1908 ई. से अपने केसरी पत्र का हिंदी संस्करण 'हिंदी केसरी' नाम से प्रकाशित करना प्रारंभ किया। तिलक स्वाधीनता आन्दोलन के सच्चे प्रतीक थे, जिन्होंने बड़े ही तेजस्वी स्वर में घोषणा कि की 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है।' लोकमान्य तिलक के सक्रिय सहयोगियों में विपिनचंद्र पाल, अरविन्द घोष और लाला लाजपत राय प्रमुख सहयोगी थे। उनके अनुगामियों में नयी पीढ़ी के वे सभी नवयुवक थे, जिन्होंने परवर्ती राजनीतिक परिवेश को नयी दिशा दी, नेतृत्व दिया और कालान्तर में स्वातंत्र्य–संग्राम के प्रमुख सेनानी बने। तिलक के नेतृत्व में हिंदुस्तान की अवाम 1857 के बाद पहली मर्तबा फिर से लड़ने पर अमदा हुई। तिलक की हलचलों और उनके कारावास की तथा अरविन्द घोष की खबरों से पूरा देश स्वाधीनता की चेतना ग्रहण कर रहा था। तिलक के 'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है' के उद्‌बोधन से प्रेरित होकर अम्बिका प्रसाद वाजपेयी अपनी 'नृसिंह' पत्रिका में लिखते हैं– "स्वराज्य की आवश्यकता भारतवासियों को इसलिए है कि विदेशी सरकार उन के अभाव–अभियोगों के समझने में असमर्थ हैं। यदि आज यहाँ स्वराज्य होता तो लाखों हिन्दुस्तानी दुर्भिक्ष के कारण दाने–दाने को टीआरएस कर प्राण न गँवाते... स्वराज्य के अभाव से ही प्रतिवर्ष 45 करोड़ रूपये इस दरिद्र देश से इंग्लैण्ड चले जाते हैं! और इसके बदले भारत में एक कानी कौड़ी तक नहीं आती है; जहाँ पांच करोड़ मनुष्यों को साल भर में एक समय भी पेट भर भोजन नहीं मिलता, जिस के पास जाड़े में रात को ओढने के लिए कम्बल तक नहीं है, जहाँ के शासक शासितों से सहानुभूति नहीं रखते, उस देश की विपत्तियों की तुलना किस से हो सकती है?... ऐसी स्थिति में स्वराज्य के बिना भारत की गति नहीं है। जिस प्रकार रोगी को औषधि की, भूखे को अन्न की और दरिद्र को धन की आवश्यकता होती है, उसी तरह भारत को स्वराज्य की आवश्यकता है।"[7] हम देख सकते हैं कि किस तरह से आर्थिक शोषण से त्रस्त जनता की एकता स्वाधीनता की चेतना में बदलती है। हिंदी पत्रकारिता के आरम्भ से स्वतंत्रता प्राप्ति तक स्वाधनीता की चेतना के साथ औपनिवेशिक भारत की आर्थिक और सामाजिक स्थिति की समीक्षा देखने को मिलती है। 1906 की कलकता कांग्रेस में मदनमोहन मालवीय ने देश की गरीबी और देशी उद्योग–धंधों के पिछड़े होने का कारण बताते हुए कहते हैं– "हमारे देश का कच्चा माल देश से बाहर चला जाता है और विदेशों से तैयार होकर उसका माल हमारे पास पास आता है। अगर हम स्वतंत्र होते तो ऐसा न होने देते।"

तिलक ने स्वराज्य का प्रश्न उठाया था, किन्तु तिलक की यह आवाज गाँव–गुरबा में रहने वाले किसानों और मजदूरों तक अभी नहीं पहुँची थी । यह महत्त कार्य गाँधी ने सम्पन्न किया। गाँधी अपने सत्याग्रह के आन्दोलन के साथ शहर के गली–मुहल्ले से लेकर गाँव–गुचा हर जगह पहुँचे। 18 मार्च, 1919 के काले कानून तथा अन्य सरकारी कानूनों को तोड़ने के लिए गाँधी ने एक समिति निर्मित कीद्य उसमें उन्होंने देशवासियों से सत्याग्रह की प्रतिज्ञा करायी और 30 मार्च 1919 को हड़ताल करने की अपील की। इस अपील के जवाब में पूरे देश ने अपनी जातीय जाग्रति का परिचय दिया।

1920 की कलकता कांग्रेस हिंदी पत्रकारिता के उन्नयन की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इसी अधिवेशन से हिंदी की चर्चा राष्ट्रभाषा के रूप में होने लगी। राजनीतिक पत्रकारिता में यह घटना रेखांकित करने योग्य है। शिवप्रसाद गुप्त ने बनारस से 'आज' पत्र का प्रकाशन शुरू किया। 5 सितम्बर, 1920 से इसका प्रकाशन शुरू हुआ था। इसके पहले ही अंक में इसके संपादक श्री विष्णु पराडकर ने लिखा था– "हमारा उद्देश्य अपने देश के लिए सब प्रकार से स्वातन्त्र्य उपार्जन है। हम हर बात में स्वतंत्र होना चाहते हैं। हमारा लक्ष्य यह है कि हम अपने देश का गौरव बढ़ावें, अपने देशवासियों में स्वाभिमान का संचार करें, उनको ऐसा बनावें कि भारतीय होने का उन्हें अभिमान हो, संकोच न हो।"

हिंदी पत्र–पत्रिकाओं के विकास को देखें तो उनमें स्वतंत्रता की चेतना धीरे–धीरे और सशक्त होती दिखाई देती है। 'आज' पत्र के संपादक अपने पत्र निकलने के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं– "हमारा उद्देश्य अपने देश के लिए सब प्रकार से स्वातंत्र्य उपार्जन है। हम हर बात में स्वतंत्र होना चाहते हैं। हमारा लक्ष्य यह है कि हम अपने देश का गौरव बढ़ावें, अपने देशवासियों में स्वाभिमान का संचार करें, उनको ऐसा बनावें कि भारतीय होने का उन्हें अभिमान हो, संकोच न हो।"[8] यह स्पष्ट है कि शिवप्रसाद गुप्त का उद्देश्य भारतीयों में आत्मसम्मान और राष्ट्रीय गौरव की भावना जगाना था, ताकि वे अपनी पहचान पर गर्व कर सके और विदेशी शासन की हीनता से मुक्त हों। उस दौर के अधिकांश पत्रकार, जो कि स्वतंत्रता सेनानी भी थे, वे चाहते थे कि भारतीय समाज इतना मजबूत बने कि हर व्यक्ति अपनी भारतीयता पर गर्व करे और स्वतंत्रता की रक्षा के लिए तैयार रहे। उनका लक्ष्य केवल अंग्रेजी शासन से मुक्ति तक सीमित नहीं था, बल्कि स्वतंत्रता को राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर पूर्ण रूप से स्थापित करना था।

भारतीय स्वाधीनता की दृष्टि में आम जनमानस में गाँधी की लोकप्रियता अगाध थी। आम जनता उन्हें अपना नेता मानती थी। 'मतवाला' के सम्पादक 31 मई, 1924 की अपनी सम्पादकीय टिप्पणी में गाँधी को भारतीय स्वाधीनता का नेता मानते हुए लिखते हैं– "यदि आप स्वतंत्रता के अभिलाषी हैं, अपने देश में स्वराज्य की प्रतिष्ठा चाहते हैं, तो तन–मन और धन से अपने नेता महात्मा गाँधी के आदेशों का पालन करना आरम्भ कीजिए।" गाँधी के प्रति इस तरह का भाव उस समय के साहित्य में भी देखने को मिलता है।

असहयोग आंदोलन के समय हिंदी पत्रकारिता ने मात्र समाचारों के प्रसार का कार्य नहीं किया, बल्कि वह जनता की चेतना को जाग्रत करने का माध्यम बनी। चरखे और खादी को जन–जीवन की आत्मा बनाना हो अथवा विदेशी वस्त्रों के बहिष्कार और सरकारी विद्यालयों तथा अदालतों के परित्याग का संदेश पहुँचाना– हिंदी पत्रकारिता ने इसे घर–घर तक पहुँचाकर आंदोलन को जीवंत बना दिया। गांधीजी के :नवजीवन' ने अनुशासन और अहिंसात्मक संघर्ष की भावना को ग्राम्य पाठकों तक पहुँचाया, तो वाराणसी से प्रकाशित 'आज' दैनिक ने सरल और सरस हिंदी में राजनीतिक शिक्षा देकर भाषा और जनमानस के बीच सेतु का कार्य किया। 'आज' पत्र के बारे में यह कहा गया कि "हिंदी सीखनी हो तो आज पढ़ो।"

सविनय अवज्ञा आंदोलन की आहट के साथ हिंदी पत्र–पत्रिकाओं ने गाँवों और कस्बों के छोटे–से छोटे संघर्ष को राष्ट्रीय स्वाधीनता–यज्ञ में पिरो दिया। नमक सत्याग्रह की लहर से लेकर स्थानीय कर आंदोलनों की हलचल तक, हर कथा को उन्होंने जन–मन के उत्साह से जोड़ दिया। औपनिवेशिक प्रतिबंधों ने जब सीधे विरोध की राह बंद कर दी, तब कवियों और संपादकों ने नयी शैली गढ़ी– रिपोर्ट में कविता का लय, संस्मरण की आत्मीयता और निबंध की गहराई का मेल कर, उन्होंने प्रतिरोध का स्वर रचा। इस

कलात्मक लेखन ने जनता को यह अनुभव कराया कि उनका संघर्ष केवल स्थानीय नहीं, बल्कि राष्ट्र की आत्मा से जुड़ा हुआ है।

भारत छोड़ो आंदोलन के समय तो जैसे पत्रकारिता ने अपने साहस की चरम परिणति दिखलाई। सेंसरशिप और गिरफ्तारियों के अंधकार में जब सत्य का वाचन अपराध बन गया, तब भूमिगत साहित्य ने दीपक की तरह अंधेरे को चुनौती दी। साइक्लोस्टाइल पर्चे, गुप्त बुलेटिन और कांग्रेस रेडियो ने न केवल सूचना का संचार किया, बल्कि आशा और साहस का संचार भी किया। हिंदी और हिंदुस्तानी के संक्षिप्त किंतु तीक्ष्ण वाक्य जन–जन के हृदय को प्रज्वलित करते रहे। इस प्रकार हिंदी पत्रकारिता ने दमन और भय की भीषण परिस्थितियों में भी अपने सृजन और साहस से स्वतंत्रता संग्राम को निरंतर ऊर्जा और गति प्रदान की।

गाँधी युग की हिंदी पत्रकारिता की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इस युग में साहित्यिक पत्रकारिता राजनीतिक पत्रकारिता से पृथक हुई। मतवाला, सुधा, चाँद, माधुरी, हंस और विशाल भारत जैदी पत्रकाएँ इसी समय निकलीं। इन पत्र–पत्रिकाओं में गाँधी युग की मूल चेतना मुखर है। ऐतिहासिक दृष्टि से बीसवीं शताब्दी के साथ ही आविर्भूत 'सरस्वती पत्रिका साहित्यिक महत्व और जातीय स्वर की दृष्टि से इसी युग की पत्रिका थी। इस युग की हिंदी पत्रकारिता के विशिष्ठ पुरस्कर्ताओं की चर्चा करते हुए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं– "इस काल में हिंदी में कुछ इतने महत्वपूर्ण पत्रकार पैदा हुए, जो दीर्घकाल तक याद किए जायेंगें। बुद्धिगत प्रौढ़ता के साथ–साथ चरित्रगत दृढ़ता ने इन पत्रकारों को बड़ी सफलता दी। गणेश शंकर विद्यार्थी, पराडकर जी, अम्बिका प्रसाद वाजपेयी, लक्ष्मीनारायण गर्दे और बनारसी दास चतुर्वेदी ऐसे ही पत्रकार हुए।" इन पत्रकारों ने देश को स्वाधीनता दिलाने के लिए जो त्याग–तपस्या की, भारतीय समाज सदा उसके लिए इनका ऋणी रहेगा। इन पत्रकारों ने स्वाधीनता के लिए सुख–सुविधा और अच्छे वेतन से भरपूर नौकरी को ठोकर मार दी और इन्होंने पत्रकारिता का धर्म चुना। बनारसी दास चतुर्वेदी पद्म सिंह को एक आत्मीय चिट्ठी में लिखते हैं– "अपनी स्वाधीनता के लिए मैंने कायस्थ पाठशाला के प्रिंसिपल का पद छोड़ दिया था, भला मैं किसी की स्वाधीनता का अपहरण कैसे कर सकता हूँ?" औपनिवेशिक भारत का अधिकांश पत्रकार स्वाधीनता प्राप्ति के लिए त्याग और नैतिक बल से भरा हुआ दिखाई देता है। स्वाधीनता की लालसा ने न जाने कितने आदमियों की पत्रकार बना दिया, कितनों ने स्वाधीनता की लडाई में अपने प्राणों की आहुति दी। स्वतंत्र भारत के इतिहास में इन सबका अमूल्य योगदान है।

औपनिवेशिक भारत में ब्रिटिश शासन का प्रभाव केवल राजनीतिक नियंत्रण तक सीमित नहीं था, बल्कि इसने भारतीय समाज को आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक स्तर पर भी गहराई से प्रभावित किया। अंग्रेजों का इरादा था कि जनता हर स्तर पर शोषण और दमन की शिकार बनी रहे, जिसके परिणामस्वरूप असंतोष और विद्रोह की भावना स्वाभाविक रूप से जन्मी। इस स्थिति को गहराई से समझते हुए 'मतवाला' पत्र के पत्रकारों ने लिखा– "ब्रिटिश सरकार के प्रति विरोध करने का एक मुख्य कारण यह है कि इसके कारण देश की साधारण जनता पिसी जा रही है। जब तक जनता का कष्ट दूर नहीं होता, तब तक देश में चैन नहीं। साम्राज्यवाद के अलावा देश की जनता को जो पीड़ित कर रहे हैं, वे देशी राजा लोग हैं, अंग्रेज और हिन्दुस्तानी पूंजीपति हैं और नौकरशाही तथा बड़े–बड़े जमींदार और ताल्लुकेदार। जब तक ब्रिटेन का राज यहाँ रहेगा, तब तक वे सभी बने रहेंगे और उसका दमन चक्र चलता रहेगा।"[9] लेखक का यह कथन औपनिवेशिक भारत की वास्तविकता को स्पष्ट करता है। ब्रिटिश शासन ने न केवल जनता को राजनीतिक रूप से गुलाम बनाया, बल्कि सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्तर पर भी उनका शोषण किया। राजनीतिक दृष्टिकोण से सारी शक्ति अंग्रेजी हुकूमत और उनकी नौकरशाही के पास थी, जिसके कारण भारतीय लोग निर्णय लेने की प्रक्रिया से पूरी तरह बाहर रहे। आर्थिक रूप से विदेशी पूंजीपति, स्थानीय राजा, जमींदार और ताल्लुकेदार मिलकर किसानों और मजदूरों का शोषण करते रहे, जिससे गरीबी और भुखमरी में वृद्धि हुई। सामाजिक स्तर पर साम्राज्यवाद ने वर्ग भेद और शोषण की खाई को और बढ़ाया, जिससे जनता निरंतर पीड़ा में रही। सांस्कृतिक रूप से अंग्रेजी शासन ने भारतीय पहचान और स्वाभिमान

को चोट पहुँचाई, जिससे हीनता और निर्भरता की भावना पैदा हुई। स्पष्ट रू॰ से स्वतंत्रता का लक्ष्य केवल अंग्रेजी शासन से आजादी नहीं था, बल्कि उस पूरे शोषणकारी ढांचे से मुक्ति था, जो राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक सभी स्तरों पर जरूरी थी।

किसी भी देश के इतिहास की दशा और दिशा को समझना है तो 'पत्रकारिता' और 'साहित्य' ये दो माध्यम सबसे कारगर और सटीक माध्यम हैं। पत्र–पत्रिकाओं से किसी देश की स्थिति का पता चलता है तो साहित्य से उसके सांस्कृतिक मिजाज का। हिंदी साहित्य और हिंदी पत्रकारिता केवल इतिहास के दस्तावेज नहीं हैं बल्कि इन्होंने स्वाधनीता आन्दोलन में अपने योगदान से भारतीय चेतना को जागृत करने का भी काम किया है। पत्र–पत्रिकाएँ जन समुदाय में स्वाधीनता की चेतना फ़ैलाने का महत्वपूर्ण माध्यम थे। यही वजह है कि साहित्यकार के साथ–साथ तिलक, लाला लाजपत, गाँधी और राजेद्र प्रसाद सरीखे नेताओं ने भी अपने पत्र निकाले। पत्र–पत्रिकाओं की ताकत का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि स्वयं भगत सिंह भी 'चाँद आदि हिंदी पत्रिकाओं में छद्म नाम से लिखते थे। अकबर इलाहाबादी लिखते हैं–

खींचों न कमानों को न तलवार निकालो।
जब तोप मुकाबिल है तो अखबार निकालो।"

1947 की भारतीय स्वाधीनता भारतीय जनमानस के 'संकल्प' और 'स्वप्न' के एकमेव होकर साकार होने का समय है। हिन्दी पत्रकारिता ने अपने संकल्प और स्वप्न की दृढ इच्छाशक्ति से यह दिखा दिया कि सामूहिक प्रयास की निरंतरता और स्वाधीनता के प्रतिरोध को बहुत दिन तक कैद करके नहीं रखा जा सकता है, एक न एक दिन अवाम उन जंजीरों को तोड़ फेकेंगी, भले ही गुलामी का इतिहास कितना भी पुराना क्यों न हो। भारतीय पत्रकारिता का इतिहास भारतीय अवाम के 'प्रतिरोध' और 'संघर्ष' का इतिहास है।

संदर्भ–सूची :–

1. कृष्ण बिहारी मिश्र, भूमिका, हिन्दी पत्रकारिता : जातीय अस्मिता की जागरण–भूमिका, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण– 1996, पृष्ठ संख्या– 09
2. जे. नटराजन, भारतीय पत्रकारिता का इतिहास, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, संस्करण– 2002, पृष्ठ संख्या– 52।
3. कृष्ण बिहारी मिश्र, भूमिका, हिन्दी पत्रकारिता : जातीय अस्मिता की जागरण–भूमिका, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण– 1996, पृष्ठ संख्या– 27।
4. भारतेंदु हरिश्चंद्र, भारतवर्षोन्नति कैसे हो सकती है, सम्पादक– रामजी यादव, भारतेंदु संचयन, भारतीय पुस्तक परिषद, पृष्ठ संख्या– 341।
5. भारतेंदु समग्र, सम्पादक– ओमप्रकाश सिंह, खण्ड– 06, प्रकाशन संस्थान, संस्करण– 2010, पृष्ठ संख्या– 276।
6. कृष्ण बिहारी मिश्र, भूमिका, हिन्दी पत्रकारिता : जातीय अस्मिता की जागरण–भूमिका, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण– 1996, पृष्ठ संख्या– 26।
7. नृसिंह पत्रिका, हमारी पत्रकारिता हमारी विरासत, भाग– 01, (सम्पादक– प्रो. शम्भुनाथ सिंह), पुस्तक से उद्धृत, वाणी प्रकाशन, प्रथम संस्करण– 2012, पृष्ठ संख्या– 189।
8. शिव प्रसाद गुप्त, आज पत्र, अर्जुन तिवारी, स्वाधीनता आन्दोलन और हिन्दी पत्रकारिता पुस्तक से उद्धृत, प्रथम संस्करण– 1982, पृष्ठ संख्या– 113।
9. मतवाला पत्रिका, हमारी पत्रकारिता हमारी विरासत (सम्पादक– प्रो. शम्भुनाथ सिंह), भाग–01, पुस्तक से उद्धृत, वाणी प्रकाशन– संस्करण– 2012, पृष्ठ संख्या– 409।

विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में भारतीय संस्कृति का समन्वयात्मक स्वरूप

डॉ. दिनेश साहू*

पंडित विद्यानिवास मिश्र ऐसे सशक्त रचनाकार थे जिनकी जड़ें भारतीय परंपरा और संस्कृति में गहराई तक समाई हुई थीं। उनके निबंध अपनी चिरस्थायी प्रासंगिकता, वैचारिक गहराई और साहित्यिक गरिमा के कारण आज भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं। अपनी असाधारण विद्वत्ता और रचनात्मक प्रतिभा के बल पर उन्होंने हिंदी निबंध साहित्य में एक नया मानदंड स्थापित किया था। प्रख्यात निबंधकार होने के साथ–साथ वे एक संवेदनशील कवि, गंभीर आलोचक और सजग पत्रकार के रूप में भी प्रतिष्ठित थे। उन्होंने निबंध को केवल बौद्धिक विवेचन का माध्यम न बनाकर उसे ललित संवेदना, लोक–संस्कृति और भारतीय परंपरा की सुगंध से समृद्ध किया। उनके लेखन में आधुनिक दृष्टि और पारंपरिक मूल्यों का सशक्त समन्वय दिखाई देता है। संस्कृत के मर्मज्ञ विद्वान होने के कारण उन्होंने शास्त्रीय चेतना को लोकजीवन की सहजता के साथ अभिव्यक्त किया। हिंदी के प्रख्यात आलोचकों के अनुसार उन्होंने भाषा में आंचलिक एवं लोक प्रचलित शब्दों को विशेष महत्त्व दिया था जिससे उनकी शैली में सजीवता और आत्मीयता का संचार हुआ। उनके निबंधों में भारतीय लोक–मानस, सांस्कृतिक बोध, जीवन–मूल्य और ऐतिहासिक चेतना गहराई से अभिव्यक्त हुए हैं। भारतीय साहित्य और संस्कृति की सुगंध को वैश्विक स्तर तक पहुँचाने वाले साहित्यकारों में उनका स्थान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

पं. विद्यानिवास मिश्र 'वसुधैव कुटुम्बकम्' को भारतीय सनातन मूल्य–व्यवस्था का अभिन्न अंग मानते थे। उनके अनुसार भारतीयता एक जीवंत सांस्कृतिक चेतना है जो विविधताओं को समेटकर एकता का अद्‌भुत उदाहरण प्रस्तुत करती है तथा यह ऐसी व्यापक संस्कृति है जिसमें धर्म, दर्शन, कला, साहित्य, संगीत और नृत्य के साथ–साथ विविध जीवन–शैलियाँ तथा लोक–जीवन के अनेक आयाम समाहित हैं और जो अपनी विशालता के कारण सर्वसमावेशी स्वरूप धारण करती है। पंडित जी भारतीयता को परिभाषित करते हुए लिखते हैं–"भारतीयता किसी से कुछ छीनती नहीं, किसी से कुछ वसूलती नहीं, बस सुवास की तरह छा जाती है, जो उसमें एक बार शामिल हो जाता है। शामिल होने की और कोई शर्त नहीं, सिवाय इसके कि जिस देश के पंचमहाभूतों (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश) के साथ संपर्क करते हों, उस देश की उदारता और रमणीयता, दूसरों के आतिथ्य में बिछ जाने की विनम्रता और दूसरों को प्रिय लगने के लिए सहज मधुरता को समझे। यह भाव किसी जाति–विशेष, इतिहास–विशेष, धर्मग्रंथ–विशेष की इजारेदारी नहीं, सबके हैं, बस हाथ बढ़ाओ, तुम्हारी अंजलि में जितना आए, वह सब तुम्हारा है।"[1] 'भारतीयता' अपनी संस्कृति और परंपराओं को समझने और उन्हें अपनाने का एक तरीका है। इसने हमें जीवन के मूलभूत मूल्य सिखाए हैं, जैसे धैर्य, आत्म–संयम, त्याग, उदारता, रचनात्मकता, भाईचारा और सह–अस्तित्व। लगभग पाँच हज़ार वर्षों तक फैली अपनी इस यात्रा के दौरान जीवन के इसी मार्ग का हमने निरंतर अनुसरण किया है।

पंडित विद्यानिवास मिश्र के महत्त्वपूर्ण निबंध संग्रहों की सूची इस प्रकार है– छितवन की छाँह (1952) कदम की फूली डाल (1955), तुम चंदन हम पानी (1956), आँगन का पंछी और बनजारा मन (1963), मैंने सिल पहुँचाई (1966), भोर का आवाहन (1969), वसंत आ गया है पर कोई उत्कंठा नहीं (1970), मेरे निबन्ध मेरी पसंद की (1974), कँटीले तारों के आर–पार (1976), कौन तू फुलवा बीनन हारि (1980), अस्मिता के लिए (1981), भ्रमरानंद के पत्र (1981), तमाल के झरोखे से (1981), परम्परा बंधन नहीं (1981), संचारिणी (1982), साहित्य का प्रयोजन (1983), अंगद की नियति (1984), गांव का मन (1985), अग्निरथ (1985), महाभारत का काव्यार्थ (1985), लागो रंग हरी (1985), मेरे राम का मुकुट भींग रहा है

* सहायक प्रोफेसर, हिंदी विभाग, सिक्किम विश्वविद्यालय, सिक्किम।

(1986), साहित्य की चेतना (1987), शेफाली झर रही है (1987), नैरन्तर्य और चुनौती (1988), भारतीयता की पहचान (1989), सोऽहम् (1991), देश, धर्म और साहित्य (1992), नदी, नारी और संस्कृति (1993), बूँद मिले सागर में (1994), जीवन अलभ्य है जीवन सौभाग्य है (1994), फागुन दुई रे दिना (1994), पीपल के बहाने से (1994), शिरीष की याद आई (1995), भारतीय चिंतन–धारा (1995), साहित्य का खुला आकाश (1996), सपने कहाँ गये (1997), लोक और लोक का स्वर (2000), गिर रहा है आज पानी (2001), कितने मोर्चे (2006) आदि।

पं. विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में विश्वभावना, आध्यात्मिकता, भक्ति, दार्शनिक चेतना, संस्कार, अहिंसा, त्याग, शांति, राष्ट्रीयता तथा प्रकृति–प्रेम जैसे भारतीय सांस्कृतिक मूल्य स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त होते हैं। उनका व्यक्तित्व भारतीय संस्कृति में गहराई से रचा–बसा था और उनका विशेष झुकाव लोक–जीवन तथा ग्रामीण समाज की ओर था। यही सांस्कृतिक चेतना और लोक–संवेदना उनके निबंधों में प्रभावशाली रूप में प्रतिबिंबित होती है। उन्होंने 'तुम चंदन हम पानी' निबंध में चंदन को विश्वभावना का प्रतीक मानते हुए कहते हैं कि चाहे चंदन किसी भी रंग में सना हो वह हमारी विश्वभावना का ही एक सूक्ष्म अंश है जिसे पुनः रसरिक्त करना हमारा सतत कर्तव्य है। उनके अनुसार अर्चनीय देवता और अर्चक भक्त दोनों ही हममें निहित हैं। परंतु यह विस्तार–बोध तभी जाग्रत होता है जब हम प्रभु को चंदन और स्वयं को जल के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार वे उदात्त रूपों के माध्यम से उनके सार को ग्रहण कर जीवन को विश्वहित में समर्पित करने की प्रेरणा देते हैं। भारतीय संस्कृति मूलतः आध्यात्मिकता पर आधारित है और पाश्चात्य संस्कृति आध्यात्मिक मूल्यों की अपेक्षा भौतिकता को अधिक महत्त्व देती है। परन्तु आज के समय में भारत में भी भौतिकवादी संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगे हैं। पंडित जी ने अपने निबंध 'बढ़ती समृद्धि, बिखरती संस्कृति' में इसी स्थिति को व्यंग्यात्मक शैली में प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि "एक परिवार में बंटवारा हो जाता है, अब जब बच जाते हैं ठाकुर जी और उनका सोने का सिंहासन, कोई भी ठाकुरजी को लेने को तैयार नहीं होता, सिंहासन के लिए तैयार रहते हैं। सिंहासन के पीछे ठाकुरजी भी वस्तु बन गए थे संस्कृति भी उन्हीं ठाकुरजी की तरह सोने के सिंहासन के पीछे गिरी वस्तु हो गयी है।"[2] यह उद्धरण भारतीय समाज में भौतिकवाद के बढ़ते प्रभाव पर तीखा व्यंग्य करते हुए अंकित है कि आधुनिक समाज में आध्यात्मिक मूल्यों की अनदेखी हो रही है। लेखक ने पौराणिक शैली में स्पष्ट किया है कि संस्कृति भी अब बाहरी आडंबरों के पीछे उपेक्षित होती जा रही है। वैश्वीकरण के आगमन के बाद से आधुनिकता और वैश्विक ताकतों ने भारतीय संस्कृति पर गहरा प्रभाव डाला है। वर्तमान समय में सांस्कृतिक मूल्यों और जीवन–शैलियों में तेज़ी से बदलाव आ रहे हैं। जहाँ पहले संस्कृति की परिभाषा रीति–रिवाजों, विचारों और आध्यात्मिक विरासत से तय होती थी, वहीं आज उसकी पहचान अधिकाधिक बाहरी वस्तुओं से निर्धारित हो रही है। इस विषय पर विद्यानिवास मिश्र लिखते हैं– "अब संस्कृति पहचानी जाती है निरीह वस्तुओं से। खाने–पीने से, पहनने से, रोजमर्रा के काम में आनेवाले औजारों से, रिहायसी सामानों से।"[3]

पं. विद्यानिवास मिश्र इस बात पर चिंता व्यक्त करते हैं कि वर्तमान संस्कृति के प्रति एक सीमित और भौतिकवादी दृष्टिकोण मानव के भीतर हावी हो गया है। वही भारतीय संस्कृति जो कभी अपने विचारों, मूल्यों और जीवन–दर्शन के लिए पूजनीय थी। परन्तु आज महज़ उपभोग की वस्तुओं और सतही प्रतीकों तक सिमटकर रह गई है। संस्कृति के इस स्वरूप में उसकी आत्मा और संवेदनशीलता का धीरे–धीरे क्षरण हो रहा है, जिसमें जीवन की गहराई, परंपराओं और आध्यात्मिकता को हाशिए पर धकेल दिया गया है। वे लिखते हैं–"भारतीय संस्कृति उसी प्रकार एक–दूसरे से कुछ अलग दिखने वाले, एक–दूसरे के पूरक बनकर, एक–दूसरे से मिथुन–भवन की स्थिति में जुड़े हैं। जैसे पर्वत, नदी से और वनराजि खेती से, चट्टानें निर्झर से, हिंसक और अहिंसक पशु से (जैसे साँप, नेवले से, बाघ, गाय से, अश्व महिष से) वैसे ही भारतीय संस्कृति में परस्पर–विरोधी दिखने वाले भाव, एक–दूसरे से ओतप्रोत हैं। स्त्रियाँ जब किसी शुभ–कार्य में देवताओं को, पितरों को निमंत्रण देती हैं, तो वे साँप–बिच्छू को भी निमंत्रण देती हैं, कुश–काँटे को भी निमंत्रण देती हैं। वे उसी प्रकार 'रुद्राध्यायी' में शिव के भयावह और कोमल दोनों रूपों की साथ–साथ वंदना करती हैं। जिसका अभिप्राय यही है कि विरोध में भारतीय संस्कृति पर्यवसान नहीं खोजती है।"[4] भारतीय संस्कृति की

एक अनूठी विशेषता यह है कि वह विरोधाभासों के बीच भी सामंजस्य स्थापित करने की क्षमता रखती है। यहाँ विरोध कभी भी संघर्ष का रूप नहीं लेता है, यहाँ विरोधाभासों को एक–दूसरे के पूरक के रूप में देखा जाता है। यह दृष्टिकोण केवल धार्मिक या सामाजिक रीति–रिवाजों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि जीवन के हर पहलू में संतुलन और तालमेल की भावना स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। भारतीय परंपराएँ मानवीय अनुभवों के विशाल विस्तार को समेटे हुए हैं और उन्हें एक गहन सांस्कृतिक ताने–बाने में पिरो देती हैं। भारतीय संस्कृति के भीतर, विपरीत भावनाएँ भी एक साथ मिलकर एक सुंदर सामंजस्य का निर्माण करती हैं। भारत में ईश्वर को सच्चिदानंद एवं सत्य के रूप में देखा जाता है। इस सन्दर्भ में पं. विद्यानिवास मिश्र लिखते हैं– ''कुछ विशिष्ट लोगों का मत है कि भारतीय संस्कृति के मूल में शिव की खोज या समरसता, समानुपात, संतुलन, समन्वय आदि में सौन्दर्य की खोज से कहीं अधिक सत्य की खोज का उपादान है। सत्य को जब जब अन्वेषकों ने अवरुद्ध देखा, ज्वालामान मुख पर हिरण्यमय पात्र का ढक्कन देखा, तब–तब उन्होंने इसके लिए प्रयत्न किया कि वह ढक्कन खुले, सत्य को गति मिले।"[5] ठीक वैसे ही वे 'महाभारत का सत्य' निबन्ध में सत्य का निरूपण करते हुए कहते हैं कि महाभारत का वर्ण विषय मूल रूप से युद्ध नहीं है, इसमें कौरवों और पांडवों के माध्यम से भारतीय धार्मिक, सामाजिक, नैतिक और आध्यत्मिक मूल्य की प्रतिष्ठा हुई है। यथा– "यह प्रासंगिक नहीं है कि महाभारत के प्रारम्भ में दो वृक्षों की कल्पना की गई है। एक वृक्ष है दुर्योधन, क्रोध, ईर्ष्या जैसे विकारों का आगार। कर्ण इस वृक्ष का तना है। शकुनी इसकी शाखा है। दुशासन इसके फल–फूल और विचार शून्य धृतराष्ट्र इसकी जड़ है। दूसरे वृक्ष हैं– युधिष्ठिर, धर्ममय–सत्य, अहिंसा, करुणा जैसे गुणों के आगार। अर्जुन इसके तने हैं। भीम इसकी शाखा है और नकुल–सहदेव इसके फल–फूल है। इसकी जड़ है श्रीकृष्ण।"[6] इस प्रकार पं. विद्यानिवास मिश्र के निबन्धों में सत्य को सर्वोपरि मानते हुए उसकी निरंतर खोज, स्थापना और विजय की बात कही गई है, जिसे वे अनेक उदाहरणों के माध्यम से स्पष्ट करते हैं।

भारतीय संस्कृति और लोक मानस पं. विद्यानिवास मिश्र के निबंधों के अभिन्न अंग रहे हैं, उस पर भी पौराणिक कथाओं और उपदेशों की फुहार उनके निबंधों को और अधिक प्रवाहमय बना देते हैं। उन्होंने 'दाम्पत्य दत्त दध्यम' निबंध में एक पौराणिक कथा के माध्यम से भारतीय संस्कृति में योग, दान और अहिंसा का चित्रण प्रस्तुत किया है। यथा–"देवता, मनुष्य और असुर तीनों ने घोर तपस्या की। ब्रह्मा ने प्रसन्न होकर तीनों से वर मांगने के लिए कहा, तीनों ने यही माँगा कि हमें कोई ऐसा सन्देश दीजिए कि जो हमारे लिए जीवन मंत्र हो, ब्रह्मा को परेशानी हुई क्योंकि ये तीनों तीन स्वभाव वाले हैं और तीनों के लिए एक ही मंत्र की आवश्यकता है, तभी उनका कर्ममंडल गुड़गुडाया और संकेत मिला। ब्रह्मा ने कहा द–द–द यही जीवन मंत्र है। देवता ने अर्थ लगाया हमें भोग का दमन करना चाहिए। मनुष्य ने अर्थ लगाया हमें ममता का दान करना चाहिए, और असूर के अनुसार हम हिंसा करते हैं अतः हमें दया सीखनी चाहिए।"[7] भारतीय संस्कृति के स्वरूप को उजागर करते हुए विद्यानिवास मिश्र ने 'भोर का आवाहन' निबंध में लिखते हैं "जीवन का लक्ष्य क्या है, उससे वैदिक उषा सूक्त से लेकर उर्वसी और अंधायुग तक का शिष्ट साहित्य तथा असंख्य अनाम कंठों में मुखर होनेवाली ग्राम्यगीतियाँ अपने अनुभवों की गरिमा अनायास और अनजाने उल्लास के क्षण में उड़ेलकर रख देते हैं। उनके लिए जड़ चेतन, प्रकृति–पुरुष, दुःख–सुख और तम–प्रकाश जीवन के परम लक्ष्य की सहज ही उपलब्धी हो जाती है।"[8] पं. विद्यानिवास मिश्र का यह कथन भारतीय संस्कृति की उस व्यापकता और गहराई को उजागर करता है, जहाँ जीवन के हर अनुभव में परम सत्य की झलक मिलती है और साधारण से साधारण व्यक्ति भी उसे सहज रूप में अनुभव कर सकता है। भारतीय संस्कृति में जीवन के परम लक्ष्य की अभिव्यक्ति दार्शनिक ग्रंथों के साथ–साथ लोक में भी हुई है।

पं. विद्यानिवास मिश्र ने 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' निबन्ध–संग्रह के नौ निबन्धों में विंध्य प्रदेश की गौरवशाली सांस्कृतिक परंपरा का संवेदनात्मक वर्णन किया है। विंध्य प्रदेश की सांस्कृतिक विविधता, ऐतिहासिक स्मृतियाँ तथा वहाँ के जनजीवन की विशिष्ट अनुभूतियाँ प्रभावी ढंग से उनके निबन्धों में चित्रित हुई हैं। वे अपने प्रसिद्ध निबंध 'मेरे राम का मुकुट भीग रहा है' में भारतीय संस्कृति के प्रति अपनी गहरी संवेदना और जागरूकता व्यक्त करते हैं। इस निबंध में वे लोक संस्कृति के विविध प्रतीकों, मूल्यों और

विश्वासों को प्रकट करते हैं। भारतीय संस्कृति में मांगलिक प्रतीकों के महत्व पर प्रकाश डालते हुए वे भाव–बंधन और श्रद्धा के प्रतीक नारियल के विषय में लिखते हैं कि नारियल जीवन में तप और रस का प्रतीक है। वह निरंतर तप की साधना से प्राप्त जीवन की मृदुता और मधुरता का द्योतक है। इसलिए वह परम मंगल है। इस निबंध में वे भारत के स्वरूप को चित्रित करते हुए कहते हैं कि यहाँ विविध भाषाओं, विविध धर्मों, विविध रीति–रिवाजों के होते हुए भी भारत एक राष्ट्र है। भारत रूपी शरीर का मस्तक हिमालय है, विन्ध्य कटि प्रदेश है, और समुद्र उसके चरण है। उन्होंने भारत माता का श्रृंगार मुकुट, मेखला और नूपुर से किया है और इनकी प्रतीकात्मकता व्यक्त करते हुए लिखा है–"जैसे इन तीन श्रृंगारों के प्रतिरूप से हिमालय, विन्ध्य और सागर भारत की अनूठी समरसता के विधायक हों, मुकुट की दीप्ति, मेखला की ध्वनि और नूपुर का उन्मुक्त विलास पूरक और उपकारक हैं और विलग नहीं।"[9]

भारतीय संस्कृति में मनाए जाने वाले पर्व–त्योहारों और अनुष्ठानों की अपनी एक अलग पहचान होती है। होली, दीपावली, नवरात्री, कुंभ आदि पर्व हमें नए आनंद का संसार प्रदान करते हैं और हमारे भीतर नया उत्साह भरते हैं। इतना ही नहीं ये हमें जीवन जीने की कला भी सिखाते हैं। होली के संदर्भ में अपने विचार व्यक्त करते हुए पंडित जी लिखते हैं– "होली पूरी संसृति में परकीया भाव की चेतना है। इसी से इस युग को प्यार का दुर्निवार, सहज अकृतिम प्यार का संदेश देने वाले चैतन्य महाप्रभु इस दिन अवतीर्ण हुए.... होली इसी भाव के लिए आमंत्रण है। शोर में कोई सुने न सुने, वसंत ही माधव है। यह बसंत कोई अपने भीतर न पाए। वह विरहेगा और पुकारेगा। आओ बसंत रस में सम्मिलित हो, भूल जाओ, तुम कहां कब किस कूल में जन्मे, कहां पले।"[10] पं. विद्यानिवास मिश्र हम सभी भारतीयों की आस्था का प्रतीक कुम्भ पर्व की आध्यात्मिक महिमा का निरूपण करते हुए लिखते हैं– "कुम्भ हमारी संस्कृति में कई दृष्टियों से महत्वपूर्ण है, पूर्णता प्राप्त करना हमारा लक्ष्य है, पूर्णता का अर्थ है समग्र जीवन के साथ एकता, अंग को पूरे अंगी की प्रतिस्मृति, एक टुकड़े के रूप में होते हुए अपने समूचे रूप का ध्यान करके अपने छुटपन से मुक्ति। इस पूर्णता की अभिव्यक्ति है कुम्भ।"[11] उनकी दृष्टि में कुम्भ पूर्ण की आकांक्षा और एकता का पर्व है। इसतरह पंडित जी के अनुसार भारतीय पर्व–त्योहार केवल उत्सव नहीं बल्कि प्रेम एकता, समरसता और आध्यात्मिक पूर्णता की भावना को जागृत करने वाले महत्वपूर्ण सांस्कृतिक प्रतीक हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि विद्यानिवास मिश्र के निबंधों में भारतीय संस्कृति का व्यापक, जीवंत और समन्वयात्मक स्वरूप अत्यंत प्रभावशाली ढंग से अभिव्यक्त हुआ है, जिसमें लोक–जीवन, परंपरा, अध्यात्म, सत्य, समरसता और मानवता जैसे मूल्यों का सुंदर चित्रण मिलता है। उनके अनुसार भारतीय संस्कृति आंतरिक चेतना, सह–अस्तित्व, प्रेम और पूर्णता की ओर अग्रसर एक जीवन–दृष्टि है, जो विविधताओं में एकता स्थापित करते हुए समस्त मानवता के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती है। उपर्युक्त विवेचित निबंधों के अतिरिक्त भी उनके ऐसे अनेक निबंध हैं, जिनमें वे भारतीय संस्कृति की अत्यंत सजीव और सार्थक अभिव्यक्ति प्रस्तुत की है।

संदर्भ–सूची :–

1. विद्यानिवास मिश्र, नदी, नारी और संस्कृति, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली 1996, पृ.19।
2. विद्यानिवास मिश्र, अग्निरथ, पृ.86।
3. विद्यानिवास मिश्र, स्वरूप विमर्श, भारतीय ज्ञानपीठ, 2016, पृ.31।
4. विद्यानिवास मिश्र, स्वरूप विमर्श, भारतीय ज्ञानपीठ, 2016, पृ.16।
5. विद्यानिवास मिश्र, आंगन का पंछी और बंजारा मन, पृ.34।
6. विद्यानिवास मिश्र, अग्निरथ, पृ.86।
7. विद्यानिवास मिश्र, तुम चन्दन हम पानी, पृ. 5–6।
8. विद्यानिवास मिश्र, भोर का आवाहन, प्रभात प्रकाशन, 1971 पृ. 39।
9. विद्यानिवास मिश्र, मेरे राम का मुकुट भीग रहा है, पृ.2।
10. विद्यानिवास मिश्र, भारतीयता की पहचान, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली 2008, पृ.114।
11. विद्यानिवास मिश्र, शेफाली झर रही है, पृ. 47।

बौद्ध युग में शिक्षा-व्यवस्था

डॉ. श्री कान्त मिश्र*

बौद्ध धर्म का उदय उत्तर वैदिकाल में वैदिक धर्म में उत्पन्न हुई विकृतियों की प्रतिक्रिया स्वरूप होने के कारण हुआ था। इसलिए वैदिक धर्म के सिद्धांतों के प्रति उसका विरोधी होना स्वाभाविक था। वैदिक युग में धार्मिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक जीवन ने अपने युग की शिक्षा–पद्धति को बहुत अधिक प्रभावित किया था। अतः बौद्ध धर्म और दर्शन ने भी तत्कालीन प्रचलित शिक्षा–प्रणाली से पृथक एक नवीन शिक्षा–पद्धति का प्रतिपादन किया था। इस शिक्षा–पद्धति पर बौद्ध धर्म के सिद्धांतों और नियमों का पर्याप्त प्रभाव देखा जा सकता है। यद्यपि इस शिक्षा में वैदिक धर्म की अनेक विधियों से प्रेरणा अवश्य ली थी, किन्तु उनकी प्रकृति और स्वरूप सर्वथा मित्र थे। उदाहरण के रूप में उपनयन संस्कार के स्थान पर 'पब्बजा' या 'प्रव्रज्या' संस्कार को लिया जा सकता है। उपनयन की भाँति छात्र को शिक्षा में प्रवेश के समय 'पब्बजा' संस्कार से गुजरना पड़ता था, किन्तु इसमें उपनयन की तरह कर्मकाण्ड आदि नहीं होता था।[1]

बौद्ध शिक्षा के उद्देश्य :–बौद्ध शिक्षा के निम्न उद्देश्य थे–

सर्वोच्चय लक्ष्य–मोक्ष प्राप्ति :– बौद्ध शिक्षा का सर्वोच्च उद्देश्य 'सादा जीवन उच्च विचार' के सिद्धांत को अपनाते हुए समाधि लेना अर्थात् निर्वाण प्राप्त करना था। निर्वाण के लिये जीवन में उदारता, दया, करूणा, सत्य, अहिंसा, पवित्रता, शुद्धता, त्याग, तप, बलिदान, मानवता और कर्तव्यपरायणता आदि गुणों का होना बहुत आवश्यक है। अतः बौद्ध शिक्षा–प्रणाली में इनको सर्वाधिक महत्व दिया जाता था। यही कारण था कि भिक्षु एक विशेष प्रकार का अत्यधिक सादा पहनावा धारण करते थे, जिसे चीर कहा जाता था। वे भिक्षा–पात्र में ही भिक्षा लेकर सादा भोजन करते थे और पेड़ों के नीचे निवासकर भूमि पर ही सोते थे। अपनी न्यूनतम आवश्यकता से अधिक का संग्रह वे कभी नहीं करते थे। गुरू व शिष्य दोनों को ही इस प्रकार की जीवन–पद्धति का निर्वाह करना पड़ता था।

धार्मिक शिक्षा प्रदान करना :– बौद्ध शिक्षा का एक प्रमुख उद्देश्य जनमानस को बौद्ध धर्म के नियमों और सिद्धांतों का ज्ञान कराना था। इसके लिये मठों और विहारों में नियमित रूप से व्याख्यान, शास्त्रार्थ–सम्मेलन–शंका, समाधान तथा प्रदर्शनी आदि विधियों के द्वारा धर्म एवं अध्यात्म पर चर्चा होती थी। इस चर्चा में भिक्षु–गुरू व शिष्यों दोनों की सक्रिय भूमिका होती थी।

ज्ञानार्जन :– वैदिक धर्म की भाँति बौद्ध धर्म में भी अज्ञान को अन्धकार माना गया है। इस अन्धकार को केवल ज्ञान के प्रकाश द्वारा ही दूर किया जा सकता है। बुद्ध कहते हैं– अपने लिये स्वयं प्रकाश के स्त्रोत बनो। ईश्वर या कोई अन्य तुम्हें ज्ञान प्रदान नहीं कर सकता, स्वयं अपना मार्गदर्शन करो। इस प्रकार बौद्ध शिक्षा में स्वाध्याय, चिन्तन, मनन, ध्यान और साधना के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। स्वयं भगवान् बुद्ध को भी बोधगया में कठिन तप–साधना के बाद ही ज्ञान प्राप्ति हुई थी। इसके बाद इनका नाम बोधिसत्व पड़ गया था।

प्रकृति का व्यावहारिक ज्ञान :– बौद्ध दशर्न प्रकृति और भौतिक संसार के अस्तित्व में विश्वास करता था। यही करण था कि उसने संयमित और वैराग्यपूर्ण जीवन की सिफारिश करते हुए भी शरीर को अत्यधिक प्रताड़ित करने का निषेध किया है। अतः बौद्ध शिक्षा में प्रकृति के भौतिक स्वरूप को महत्व प्रदान हुए उसके सम्यक् ज्ञान का मार्ग बताया है। मनुष्य को अपने परिवेश के साथ संतुलन स्थापित करते हुए ही अपनी इच्छाओं को सीमित करना चाहिए। मठों और विहारों के भवनों की विशालता और सुन्दतरता इसके स्पष्ट प्रमाण हैं।

*** सहायक प्राध्यापक–इतिहास, शासकीय महाराजा मार्तण्ड महाविद्यालय, कोतमा, जिला–अनूपपुर (म.प्र.)**

चरित्र की पावनता :– बौद्ध शिक्षा में चरित्र की पवित्रता एवं शुद्धता पर विशेष जोर दिया गया है। इसके लिए धर्म, संघ व बुद्ध के प्रति समर्पण, उदारता, कर्तव्यनिष्ठता, दया, करूणा, सत्य, अहिंसा एवं सादगी को शिक्षा में अनिवार्य स्थान दिया गया है।

व्यावसायिक शिक्षा :– बौद्ध शिक्षा के पाठयक्रम में कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, गणित तथा कला–कौशलों आदि विषयों का व्यावहारिक ज्ञान सुनिश्चित किया गया है। इस ज्ञान के द्वारा मानव अपना सामाजिक विकास करने के साथ–साथ व्यावसाय करने में भी समर्थ होता था। अष्टांग मार्ग में भी 'सम्यक् आजीव' को स्थान दिया गया है।

संसार को दुखों से मुक्त करना :– बौद्ध धर्म के अनुसार ये संसार दुखों का सागर है। चारों ओर दुःख व्याप्त है। इस दुःख को दूर करने के लिये अष्टांग मार्ग पर चलना ही एक मात्र उपाय है।[2]

वैदिक शिक्षा की भाँति बौद्ध शिक्षा भी धर्म–प्रधान थी। अतः धार्मिक और आध्यात्मिक शिक्षा इसके सभी स्तरों पर अनिवार्य रूप से पढ़ाई जाती थी। जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य निर्वाण को प्राप्त करने के लिए भी धार्मिक शिक्षा को ही प्रमुख आधार बनाया गया था। इसलिए धार्मिक शिक्षा के अंतर्गत गौतम बुद्ध के उपदेश, धर्मशास्त्र और बौद्ध धर्म के तीन ग्रंथ पिटक– (सुत्त पिटक, विनय पिटक तथा धम्म पिटक आदि) के अध्ययन को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया गया था।

प्राथमिक शिक्षा के पाठयक्रम में पठन, पाठन, लेखन, गणित आदि विषयों का ज्ञान कराया जाता था। इसे लौकिक पाठयक्रम भी कहा जाता था। इसके अंतगर्त कृषि, पशुपालन, वाणिज्य (व्यवसाय) तथा चिकित्सा आदि का भी समावेश किया गया था।

उच्च शिक्षा में दर्शन, धर्म, आयुर्वेद, सैन्य–शिक्षा, संगीत, व्याकरण, ज्योतिष, योग, यंत्र, इतिहास आदि विषयों का अध्ययन कराया जाता था। अधिक योग्य शिष्यों के लिये वेद, वेदांग, पुराण, उपनिषद्, ध्वनि विज्ञान तथा काव्य आदि का अध्ययन करने की भी सुविधा दी जाती थी। यहाँ तक कि वैदिक साहित्य के सम्यक् ज्ञान के लिये संस्कृत भाषा का अध्ययन भी कराया जाता था। इस शिक्षा में मठों व विहारों की वास्तुकला, निर्माण–प्रक्रिया, रख–रखाव तथा उनके विकास से सम्बन्धित ज्ञान भी कराया जाता था। कोई छात्र भिक्षु अपनी सुविधानुसार किसी भी विषय का अध्ययन कर सकता था।

प्रश्नोत्तर अथवा शंका समाधान विधि :– शिक्षण के दौरान प्रायः शिष्यगण प्रश्नों तथा अपनी शंकाओं के द्वारा विषय–वस्तु को समझने का प्रयत्न करते थे। गुरू भी उदाहरणों, तर्क और व्याख्या द्वारा उनको सन्तुष्ट करने का यथासंभव विनम्र भाव से प्रयास करते थे।

बौद्ध शिक्षा में अनुशासन :– बौद्धकालीन शिक्षा में भी वैदिक शिक्षा की भाँति सभी गुरूओं और शिष्यों को कठोर अनुशासन का पालन करना पड़ता था, किंतु इस काल में शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाता था। प्रारंभिक शिक्षा में प्रव्रज्या के बाद श्रमणों को धम्मपद के तीन वचन (सरणत्रयी) तथा शिक्षा के दस नियमों का कड़ाई से पालन करना अनिवार्य होता था। सभी को 'सादा जीवन उच्च विचार' के सिद्धांत का पालन करना होता था, जो भिक्ष शिक्षक के रूप में होते थे, उन्हें उक्त नियमों के साथ पूर्व में बताये गये 8 अन्य नियमों का भी पालन करना पड़ता था। भिक्षु और भिक्षुणियों दोनों को अपने सिर घुटवाकर रखने पड़ते थे तथा पहनने के लिये मात्र एक विशेष परिधान (चीवर) धारण करना पड़ता था। भूमि पर सोना, वृक्ष के नीचे रहना और शिक्षा से ही भोजन करना आदि भी कुछ ऐसे कठोर नियम थे, जिनका पालन करना सभी के लिये अनिवार्य था।

ध्यान और योग के द्वारा गुरू व शिष्य दोनों आत्मनिरीक्षण करते थे तथा दोषी पाये जाने पर दण्ड के भागी भी होते थे। भिक्षुओं के लिये अविवाहित रहना एक आवश्यक शर्त होती थी। इस प्रकार बौद्ध शिक्षा में शारीरिक दण्ड को छोड़कर वैदिक युग से चला आ रहा दमनात्मक अनुशासन ही प्रचालित था।

बौद्ध शिक्षा में शिक्षक का स्थान :– बौद्ध शिक्षा में शिक्षक को बहुत उच्च स्थान प्राप्त था, किंतु वैदिककाल की भाँति उन्हें भगवान् के समान पद नहीं दिया जाता था। इस शिक्षा–पद्धति में भिक्षु ही शिक्षक कार्य करते

थे। शिक्षक–भिक्षुओं को 8 वर्ष की विशेष भिक्षु–शिक्षा ग्रहण करना अनिवार्य था। जो भिक्षु–शिक्षक के रूप में कार्य करते थे, उन्हें उपाध्याय भी कहा जाता था। गुरू चाहे किसी भी स्तर का हो, उसके लिये अविवाहित रहना, भिक्षु जीवन व्यतीत करना उच्चकोटि का विद्वान होना, स्वावलम्बी होना, सत्य–अहिंसा का पालन होना तथा विनम्र होना आदि बहुत आवश्यक था।

बौद्व काल में शिष्यों को यह अधिकार प्राप्त था कि वे अपने शिक्षकों के आचरण पर दृष्टि रख सके। यद्यपि शिक्षकों को दण्डित करने का अधिकार कुछ श्रेष्ठ भिक्षुओं एवं संघ के सम्मानित सदस्यों को ही था, किंतु व्यावहारिक आत्मनिरीक्षण तथा शंकाओं के माध्यम से सभी शिक्षक स्वतः अनुशासित रहने का प्रयत्न करते थे।[3]

बौद्ध शिक्षा में गुरू–शिष्य सम्बन्ध :– बौद्ध काल में गुरू–शिष्य के पारस्परिक सम्बन्ध बहुत–कुछ वैदिक युग से मिलते–जुलते थे। दोनों एक दूसरे के प्रति विनम्र, संवेदनशील, दयालु तथा अनुरागी होते थे। गुरू अपने शिष्यों से पुत्रवत् प्रेम करते थे। और शिष्य भी अपने गुरू के प्रति पूर्ण सम्मान प्रदर्शित करते थे। पब्बजा के पश्चात् जब शिष्य मठ में रहकर विद्याध्ययन करते थे तो गुरू एक अभिभावक की भूमिका निभाते हुए शिष्यों के भोजन, वस्त्र व आवास का पूरा उत्तरदायित्व वहन करते थे। आवश्यकता पडने पर उनकी चिकित्सा आदि का भी प्रबन्ध करते थे। छात्रों के वैयक्तिक एवं शैक्षिक विकास का भी सम्पूर्ण दायित्व गुरू ही उठाते थे। छात्रों को भाषा, धर्म, अध्यात्म का ज्ञान कराना, उनका चारित्रिक विकास करना, उनमें सत्यासत्य विवेक जागृत करना, उन्हें बौद्ध धर्म के नियमों व उपदेशों की जानकारी देना, भगवान् बुद्ध के महान् जीवन से प्रेरणा देना तथा निर्वाण–प्राप्ति के लिये आवश्यक आचरण का अभ्यास कराना आदि कुछ ऐसे कार्य थे, जो गुरू–शिष्य के मध्य दैनिक व्यवहार के आदान–प्रदान के प्रमुख अंग थे।

वस्तुतः बौद्ध भिक्षु उपाध्याय का कार्य करते थे, अपने शिष्यों के सम्मुख अपने संयमी, त्यागी एवं उच्च जीवन का एक ऐसा जीता–जागता उदाहरण प्रस्तुत करतें थे, जिसका अनुकरण कर शिष्य भी उन्हीं के अनुसार अपना आचरण निर्धारित करते थे। शिष्य अपने गुरू के प्रति अगाध श्रद्धा रखते हुए उनकी सेवा करते थे। वे गुरू के जागने से पहले उठ जाते थे, उनसे कोई भूल या चूक हो जाने पर समुचित कार्यवाही करते थे और उनके शयन पर जाने के बाद ही सोने के लिये जाते थे। यदि गुरू के आचारण को लेकर उन्हें कोई भ्रम या संदेह होता था, तो वे मुक्त भाव से उनसे प्रश्न करके अपनी शंका का निवारण करते थे। यदि इस पर भी सन्तुष्ट नहीं होते थे, तो संघ के सम्मानित सदस्यों तक अपनी बात पहुँचाते थे। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि गुरू अपने छात्रों के सम्मुख आदर्श उपस्थित करते थे और बदले में छात्रों से अधिकारपूर्वक सेवा कराते हुए उनके जीवन का निर्माण करते थे।

बौद्ध युग में स्त्री शिक्षा :–बौद्ध काल में सैद्धान्तिक रूप से स्त्री की शिक्षा पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं था, किंतु अत्यधिक कठोर और महिलाओं की दृष्टि से अव्यावहारिक अनुशासन प्रणाली से कारण इस काल में स्त्री–शिक्षा विशेष प्रगति नहीं कर सकी। स्त्री–शिक्षा की राह में सबसे पहला रोड़ा तो संघ में महिलाओं के प्रवेश को लेकर ही था। इस दिशा में स्त्रियों पर अनेक प्रकार के प्रतिबन्ध स्वयं ही लग गये थे। सबसे बड़ी तो यही थी कि पब्बजा की इच्छुक बालिकाएँ संघ में प्रवेश की निर्धारित योग्यताओं और प्रतिबन्धों पर खरी नहीं उतर पाती थीं। उस पर स्त्रियों को भी सिर मुड़वा कर सादे वस्त्रों में एक पुरूष भिक्षु की भाँति रहना अनिवार्य था। प्रथम तो कन्याओं के माता–पिता ही उनको भिक्षुणी बनाने की अनुमति ही नहीं दे पाते थे। उसके बाद भिक्षुणी का पद व सम्मान पुरूष भिक्षुओं से सदैव नीचा ही रहता था। डॉ. आर. के मुखर्जी ने इस परिस्थिति का वर्णन निम्न शब्दों में किया है– ''एक सौ वर्षों तक अनुभववाली भिक्षुणी को भी अपने कार्यों के लिये एक भिक्षु की ओर देखना पड़ता था, चाहे वह भिक्षु प्रारंभिक स्तर का ही क्यों न हो ?''[4]

प्रारंभ में तो मठों और विहारों में महिलाओं का प्रवेश ही निषेध था, किंतु बाद में बुद्ध की विमाता महाप्रजापति तथा आनन्द जैसे कुछ प्रमुख शिष्यों के विचारों से उक्त स्थिति में कुछ परिवर्तन आया और स्त्रियों को प्रवेश की अनुमति दी गयी। सुमका नाम की भिक्षुणी की विद्वत्ता का इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि उनके व्याख्यानों को सुनने के लिये लोग उमड़े पड़ते थे। आगे चलकर जियांका, शील भट्टारिका, प्रभावती,

नयनिका तथा प्रभुदेवी आदि भिक्षुणियों का ज्ञान और आध्यात्मिक स्तर इतना उच्चकोटि का सिद्ध हुआ कि उन्होंने अपने देश के साथ–साथ विदेशों में भी बुद्ध का प्रचार किया था। राजा हर्षवर्धन की बहन एक विदुषी महिला थीं, जिन्होंने अनेक शास्त्रार्थ किये थे। सम्राट अशोक की बहन संघमित्रा तो भी एक प्रसिद्ध भिक्षुणी थी, जिन्होंने श्रीलंका, बर्मा आदि अनेक देशों में अपने भाई महेन्द्र के साथ बौद्ध धर्म की पताका फहराई थी।

उक्त अनेक प्रसिद्ध भिक्षुणियों द्वारा कियें गये कार्यों को भिक्षुओं के समान ही सम्मान व प्रसिद्धि एवं मान्यता प्रदान की गई, किंतु धीरे–धीरे महिलाओं की शक्ति समाज में घटने लगी और बौद्ध–शिक्षा प्रणाली में स्त्री शिक्षा की कोई स्थायी व समुचित व्यवस्था नहीं बन सकी। बौद्ध धर्म के अधिकांश अनुयायी चाहते थे कि ज्यादा से ज्यादा लोग साधु और भिक्षु बनें। अतः महिलाओं के लिये इस धर्म में विशेष कुछ करने की संभावनाएँ क्षीण हो गई थीं। हिन्दू समाज में कम आयु में ही बालिकाओं के विवाह की कुप्रथा ने भी धीरे–धीरे स्त्री–शिक्षा के द्वारा बन्द करने प्रारंभ कर दिये। बौद्ध शिक्षा–प्रणाली भी महिलाओं के लिये ठोस प्रयास करने में सफल नहीं हो सकी।

संदर्भ–सूची :–

1. डॉ0 शशिकांत सिंह–बौद्धकालीन संस्कृति–19।
2. डॉ0 अनिल कुमार सिंह–बौद्धकालीन शिक्षा पद्धति, पृ. 21।
3. लक्ष्मी भार्गव– भारतीय शिक्षा व्यवस्था एवं परिदृश्य, पृ. 39।
4. डॉ0 अवनीन्द्र शील–भारतीय शिक्षा का विकास एवं समस्याएँ–70।

'कामायनी' में जीवन-दर्शन, युगचेतना और मानवीय विकास

डॉ. संगीता धुर्वे*

आधुनिक हिन्दी कविता में 'छायावाद' का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण और विशिष्ट है, क्योंकि इस धारा ने काव्य को आत्मानुभूति, कल्पनाशीलता और सौन्दर्यबोध की नई दिशा प्रदान की। इस युग के प्रमुख स्तम्भों में जयशंकर प्रसाद का नाम सर्वोपरि है, जिन्होंने अपनी काव्य–प्रतिभा से हिन्दी साहित्य को एक नई ऊँचाई दी। उनकी अमर कृति कामायनी न केवल छायावादी काव्यधारा का शिखर है, बल्कि सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य की एक अद्वितीय उपलब्धि भी है। 'कामायनी' में प्रसाद ने विविध तत्वोंकृकल्पना, पौराणिकता, प्रकृति, अध्यात्म, प्रेम और मानवीय अनुभूतियोंकृका अत्यंत सुंदर समन्वय किया है। इस काव्य में पराधीन भारत की पीड़ा, उसके भीतर उठते द्वन्द्व तथा स्वतंत्रता की आकांक्षा को प्रतीकात्मक रूप में प्रस्तुत किया गया है। मनु, श्रद्धा और इड़ा जैसे पात्रों के माध्यम से कवि ने मानव जीवन के बौद्धिक, भावात्मक और क्रियात्मक पक्षों को अभिव्यक्ति दी है। प्रसाद ने भारतीय संस्कृति के प्राचीन और ऐतिहासिक प्रसंगों को आधार बनाकर एक ऐसी कथावस्तु का निर्माण किया है, जो केवल अतीत का चित्रण नहीं करती, बल्कि वर्तमान और भविष्य की दिशा भी निर्धारित करती है। 'कामायनी' में निहित युगबोध उस समय के भारतीय समाज में नवचेतना, आशा और आत्मविश्वास का संचार करता है। इस प्रकार, 'कामायनी' केवल एक महाकाव्य नहीं, बल्कि मानव सभ्यता, संस्कृति और चेतना के विकास की एक गहन दार्शनिक गाथा है, जो आधुनिक मानवता के मार्गदर्शन में आज भी प्रासंगिक बनी हुई है– 'कामायनी' का रचना विधान जितना जटिल है उतना ही व्यापक तथा महत्त्वाकांक्षी भी। यह एक ओर मानव संस्कृति के विकास का आख्यान है, और साथ ही आदिम मनुष्य के उत्तरोत्तर जटिल और संघटित होता रूप भी।.... सभ्यता के विकास के साथ–साथ मनुष्य के अंतःकरण का विकास भी 'कामायनी' में चित्रित हुआ है।''[1] इस काव्य में एक ओर आध्यात्मिक और ऐतिहासिक भावबोध निहित है, तो दूसरी ओर यह अपने रचनाकालीन समाज और परिस्थितियों का भी सजीव साक्षात्कार कराता है। यही कारण है कि 'कामायनी' की कथा दो स्तरों पर समानान्तर रूप से संचालित होती है। पहला स्तर पौराणिक और ऐतिहासिक है, जिसमें मनु, श्रद्धा और इड़ा जैसे पात्रों के माध्यम से प्राचीन कथा का रूप प्रस्तुत किया गया है; जबकि दूसरा स्तर मनुष्य के आंतरिक जीवन, उसकी मानसिक अवस्थाओं और मनोवैज्ञानिक विकास की गहन व्याख्या करता है।

इस काव्य में वर्णित सभ्यता और संस्कृति केवल मनुकालीन युग की नहीं है, बल्कि उसमें कवि के समकालीन यथार्थ का भी प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। जयशंकर प्रसाद ने अतीत की कथा का सहारा लेकर अपने समय के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक द्वन्द्वों को अभिव्यक्ति दी है। इस प्रकार 'कामायनी' केवल अतीत का पुनरावर्तन नहीं, बल्कि वर्तमान का पुनर्सृजन भी है– ''कामायनी में गाथा को 'रूपक' ही नहीं 'इतिहास' की भी उपाधि देकर प्रसाद ने पुनीत को इहलौकिक तथा स्मृति को तथ्य/यथार्थ में बदल दिया। इससे वे 'कामायनी' के कलात्मक महाकाव्य को वर्तमान से भविष्य तक ले जाने के दावेदार बन गए।''[2] कामायनी में युग–बोध की तीव्र अभिव्यक्ति निरंतर सुनाई देती है। जैसे जीवन में सब कुछ नष्ट हो जाने के बाद भी आशा की एक छोटी–सी किरण मनुष्य को पुनः आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है, उसी प्रकार जल–प्रलय के बाद समस्त सृष्टि के विनाश के बीच मनु का जीवित रहना और आगे बढ़ना मानव जाति के लिए आशा, ऊर्जा और नवजीवन का प्रतीक बन जाता है।

जयशंकर प्रसाद ने अपनी समकालीन परिस्थितियों, विशेषकर पराधीन भारत की मानसिक स्थिति और संघर्षशील चेतना को ध्यान में रखते हुए 'मनु' को अपने काव्य का केंद्र बनाया। मनु यहाँ केवल

*** सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, पंडित शंभूनाथ शुक्ला विश्वविद्यालय, शहडोल म.प्र.।**

पौराणिक पात्र नहीं, बल्कि संघर्षरत मानव का प्रतिनिधि है, जो विपरीत परिस्थितियों में भी साहस, धैर्य और आशा के साथ आगे बढ़ता है। इस प्रकार 'कामायनी' में मनु के माध्यम से कवि ने मानवता की अटूट जीवटता और पुनर्निर्माण की भावना को सशक्त रूप में प्रस्तुत किया है– ''यह कथा मनुष्य के मनोवैज्ञानिक विकास की कहानी बन जाती है।... उनका उद्देश्य मनुष्य की मनोवैज्ञानिक समस्याओं का चित्रण और समाधान था। अतएव, उन्होंने वैदिक और पौराणिक साहित्य के वन में बिखरी हुई मन्वन्तर की क्षीण कथा–कड़ियों को जोड़कर वह माध्यम प्रस्तुत कर लिया जिसके द्वारा मनुष्य का मनोवैज्ञानिक इतिवृत काव्य के रूप में उपस्थित किया जा सकता था।[3] कामायनी की कथा अनेक मोड़ों और संकेतों से विकसित होती है। जल–प्रलय के बाद एकमात्र जीवित बचे मनु हिमालय की शिला पर खड़े होकर विनष्ट सृष्टि को देखते हैं। यह दृश्य केवल विनाश का नहीं, बल्कि गहन आत्मचिंतन का भी प्रतीक है। प्रलय से पूर्व वहाँ एक समृद्ध सभ्यता विद्यमान थी, किंतु भोग–विलास की अति ने प्रकृति के संतुलन को बिगाड़ दिया, जिसके परिणामस्वरूप विनाश अवश्यंभावी हो गया।

कवि जयशंकर प्रसाद यहाँ भोगवाद के दुष्परिणामों को रेखांकित करते हैं, जो व्यक्ति और समाज को पतन तथा मानसिक विकृतियों की ओर ले जाता है। परंतु जब प्रकृति पुनः शांत होती है, तब नवजीवन और आशा का संचार होता है। यही आशा विपरीत परिस्थितियों में भी मनुष्य को आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है और पराधीनता के अंधकार में स्वाधीनता की नई संभावना जगाती है। सभी आपदाओं के बीच प्रकृति जब शांत होती है तो पुनः आशा का संचार होता है, यही आशा पराधीनता में स्वाधीनता की गंध पैदा करती हैं– ''द्वन्द्व और समरसता के माध्यम से कवि आनन्द की भाव–भूमि तक पहुँचना चाहता है जो भारतीय परंपरा में वैदिक और शैव दोनों धाराओं के अन्तर्गत जीवन का परम लक्ष्य स्वीकार किया गया है। मनु नये युग के चितानंद है, चिन्ता से आनंद तक की यात्रा करते हुए और यों दोनों भाव–भूमियों को एक साथ जोड़ते हुए।... अपने कृतित्व में प्रसाद यों जितने पुनर्जागरण–चेतना से प्रेरित हुए हैं उतना ही उन्होंने उसे समृद्ध किया है।''[4] कामायनी का सम्पूर्ण रचना–विधान परम्परागत कथा को आधुनिक जीवन–संदर्भों में रूपांतरित करने का उत्कृष्ट उदाहरण है। इस काव्य में मनु की चिंता केवल पौराणिक नहीं रह जाती, बल्कि वह आधुनिक मनुष्य के अस्तित्व, जीवन–मूल्य और सार्थकता से जुड़ जाती है। जयशंकर प्रसाद ने परम्परा और आधुनिकता के समन्वय को विशेष महत्व दिया है। आधुनिक विचारधारा में जहाँ नवीनता का आग्रह है, वहीं परम्परा के मूल्यों को भी नकारा नहीं गया है। 'कामायनी' में कवि ने इन दोनों धाराओं को संतुलित करते हुए मानव जीवन की सकारात्मक प्रवृत्तियों को उभारने का प्रयास किया है।

कवि का उद्देश्य मनुष्य के भीतर निहित श्रेष्ठ गुणों को जागृत कर उसे असीम आनन्द, संतुलन और स्थिरता की ओर अग्रसर करना है। इस प्रकार 'कामायनी' केवल अतीत की कथा नहीं, बल्कि आधुनिक जीवन के लिए मार्गदर्शक दार्शनिक काव्य के रूप में प्रतिष्ठित होती है। ''अपनी मर्मग्राहिणी प्रतिभा के द्वारा मानव–प्रकृति का विश्लेषण कर प्रसाद जी ने 'कामायनी' काव्य की रचना की है। इसमें मानवीय प्रकृति के मूल मनोभावों को बड़ी सूक्ष्म दृष्टि से पहचानकर संग्रह किया गया है। यह मनु और कामायनी की कथा तो है ही, मनुष्य के क्रियात्मक, बौद्धिक और भावात्मक विकास में सामंजस्य स्थापित करने का अपूर्व काव्यात्मक प्रमाणित भी है।''[5] कामायनी में मनु के भीतर उत्पन्न विचलन, अस्थिरता और अनिश्चितता उसके अवचेतन में निहित अतीत की स्मृतियों से जुड़ी है, जब वह स्वतंत्र और स्वाभिमानी जीवन जीता था। यह मानसिक स्थिति केवल मनु की नहीं, बल्कि पराधीन भारत के जनमानस की भी प्रतीक है। जयशंकर प्रसाद ने इन भावों के माध्यम से स्वतंत्रता की गहरी आकांक्षा और उसकी मधुर स्मृतियों को अभिव्यक्त किया है।

'कामायनी' में केवल परोक्ष या कल्पनात्मक जीवन का ही चित्रण नहीं, बल्कि प्रत्यक्ष जीवन की यथार्थ अनुभूति भी सशक्त रूप में उपस्थित है। कवि ने सूक्ष्म संकेतों और प्रतीकों के माध्यम से विभिन्न मनोभावों को अत्यंत प्रभावी ढंग से प्रस्तुत किया है। इस प्रकार यह काव्य संवेदनाओं, मनोवैज्ञानिक गहराई और प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का अद्‌भुत समन्वय प्रस्तुत करता है। ''कामायनी के पात्र केवल पौराणिक बन नहीं रह जाते, वे युगों पूर्व होकर भी नवीनतम परिस्थितियों में चलते दिखई देते हैं। प्रसाद ने यथार्थ–आदर्श के समन्वय से चरित्र–चित्रण किया।''[6] कामायनी में कल्पना का स्वरूप बहुस्तरीय और अत्यंत

प्रभावशाली रूप में प्रकट होता है। कवि मानता है कि कल्पना के बिना मनुष्य न तो अपनी परिस्थितियों का सही आकलन कर सकता है और न ही उन्हें सुधारने की दिशा में अग्रसर हो सकता है। जब व्यक्ति निराशा में डूब जाता है, तब कल्पना ही उसे प्रेरणा, आशा और नवचेतना प्रदान करती है। यही कल्पना पराधीनता के बीच भी स्वाधीनता के युगबोध को जागृत करती है। जयशंकर प्रसाद ने मनु, श्रद्धा और इड़ा के माध्यम से इस युगबोध को अत्यंत सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है। जल–प्रलय के पश्चात् दुःख से व्याकुल मनु का श्रद्धा से मिलन होता है, जो प्रेम, त्याग और करुणा की प्रतीक है। श्रद्धा अपने समर्पण से जीवन में सौन्दर्य और संतुलन स्थापित करती है, जिससे सृष्टि का पुनर्निर्माण संभव होता है। किंतु मनु का असुर प्रवृत्तियों की ओर झुकाव और पशु–वध जैसे कर्म श्रद्धा के साथ उसके संबंधों में दरार उत्पन्न करते हैं। इसके बाद मनु का सारस्वत प्रदेश की ओर गमन और इड़ा से मिलन एक नए चरण की शुरुआत करता है। इड़ा बुद्धि, ज्ञान और संगठन की प्रतीक है। उसके प्रभाव में मनु शासन–व्यवस्था में संलग्न होता है, किंतु धीरे–धीरे उसका शासन शोषण, अन्याय और निरंकुशता का रूप धारण कर लेता है। यह स्थिति प्रसाद के युगीन सामाजिक–राजनीतिक संदर्भों को अभिव्यक्त करती है, जहाँ अंग्रेजी शासन के प्रति असंतोष और विद्रोह की भावना व्याप्त थी।

मनु के विरुद्ध प्रजा का संघर्ष उस समय के जनमानस को प्रेरित करता है कि अन्याय के विरुद्ध संगठित होकर अपने अधिकारों के लिए संघर्ष किया जाए। इस प्रकार 'कामायनी' केवल काव्य नहीं, बल्कि युगचेतना और सामाजिक संदेश का सशक्त माध्यम बन जाती है। ''प्रसाद जी के अन्तःकरण में जो एक जीवित और जीवन्त, छटपटाती हुई, दुखती हुई ग्रंथि है– वह अभ्यन्तर ग्रन्थि अपने पूरे दुःख, अपने सम्पूर्ण ज्ञान, अपने पूरे आवेग और अपने सम्पूर्ण भान, और भान में उलझाव के साथ कामायनी में प्रकट हुई है।''[7] कामायनी में जीवन–सौन्दर्य का चित्रण अनेक स्तरों पर अत्यंत प्रभावशाली रूप में हुआ है। कवि की दृष्टि मूलतः जीवन के प्रति सकारात्मक और आशावादी है। यही कारण है कि जब भी मनु के जीवन में निराशा, अन्धकार और विषाद का वातावरण उत्पन्न होता है, उसी क्षण आशा की एक छोटी–सी किरण प्रकट होकर उसे आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है। इस प्रकार मनु निरंतर संघर्ष करते हुए जीवन की धारा में सक्रिय बना रहता है। जयशंकर प्रसाद ने 'कामायनी' के सृजनकाल (1928–1936) में राष्ट्रीय चेतना के उभार और स्वतंत्रता की आकांक्षा को गहराई से अनुभव किया। यह अनुभूति काव्य में सकारात्मक ऊर्जा और स्वाधीनता की भावना के रूप में व्यक्त होती है। विशेषतः 'श्रद्धा' सर्ग में कवि ने जीवन के इस आशावादी और प्रेरणादायी स्वरूप को अत्यंत सुंदर और प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया है, जो मनुष्य को निराशा से उबारकर आशा, विश्वास और प्रगति की ओर अग्रसर करता है।

''और यह क्या तुम सुनते नहीं विधाता का मंगल वरदान,
'शक्तिशाली' हो, विजयी बनों, विश्व में गूँज रहा जयगान।
डरो मत, अरे अमृत संतान। अग्रसर है मंगलमय वृद्धि,
पूर्ण आकर्षण जीवन केन्द्र खिंची आवेगी अकल समृद्धि।''[8]

कामायनी के व्यापक सौन्दर्य के विवेचन में सामाजिक संदर्भों का निरंतर विकास दृष्टिगोचर होता है। जयशंकर प्रसाद के समय में भारत अंग्रेजी दासता से जूझ रहा था और स्वतंत्रता की तीव्र आकांक्षा जनमानस को उद्वेलित कर रही थी। उस दौर में स्वतंत्रता केवल एक राजनीतिक लक्ष्य नहीं, बल्कि एक महत्वपूर्ण जीवन–मूल्य बन चुकी थी।

कवि ने इसी सामाजिक और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को अपने काव्य में सूक्ष्म रूप से अभिव्यक्त किया है। स्वतंत्रता का भाव अतीत की स्मृतियों और सांस्कृतिक चेतना से जुड़कर एक प्रेरक शक्ति के रूप में कार्य करता है, जो मनुष्य को संघर्ष और नव निर्माण के लिए प्रेरित करता है। ''कामायनी एक विषिष्ट शैली का महाकाव्य है उसका गौरव उसके युगबोध, परिपुष्ट चिन्तन महत्व उद्देश्य और प्रौढ़ शिल्प में निहित है। उसमें प्राचीन महाकाव्यों का सा वर्णनात्मक विस्तार नहीं है पर सर्वत्र कवि की गहन अनुभूति के दर्शन होते हैं।''[9] कामायनी में युग–बोध एक निरन्तर प्रवाहित होने वाली प्रक्रिया के रूप में उपस्थित है, जो समय और परिस्थितियों के साथ विकसित होता रहता है। यह काव्य केवल किसी एक युग का प्रतिबिम्ब नहीं, बल्कि

मानव जीवन की सतत् चेतना का द्योतक है। जयशंकर प्रसाद ने अपने जीवन–दर्शन के माध्यम से मनुष्य की भावनाओं, ज्ञान और कर्म के समन्वय पर बल दिया है। 'कामायनी' का संदेश यह है कि मनुष्य अपनी संवेदनाओं, बौद्धिकता और क्रियाशीलता को संतुलित करते हुए लोक–कल्याण की दिशा में अग्रसर हो, जिससे जीवन सार्थक और उद्देश्यपूर्ण बन सके। इसीलिए मनु कहता है–

''मनु ने कुछ–कुछ मुसक्याकर कैलास ओर दिखलाया,
बोले देखो कि यहाँ पर कोई भी नहीं पराया।
हम अन्य न और कुटुंबी हम केवल एक हमीं हैं,
तुम सब मेरे अवयव हो जिसमें कुछ नहीं कमी है।''[10]

जयशंकर प्रसाद ने कामायनी में नारी चेतना को विशेष महत्व प्रदान किया है। उनके अनुसार नारी की उन्नति और समृद्धि ही समाज के विकास का आधार है। इस दृष्टि से 'कामायनी' में श्रद्धा और इड़ा दोनों सशक्त नारी पात्र हैं, जो जीवन के विभिन्न पक्षों का प्रतिनिधित्व करते हैं। श्रद्धा को कवि ने धीरोदात्त, संवेदनशील और आदर्श नारी के रूप में चित्रित किया है, जो प्रेम, त्याग और करुणा की प्रतीक है। वह मनु का मार्गदर्शन करती है और जीवन में संतुलन स्थापित करती है। श्रद्धा का चरित्र पूर्ण विकसित, प्रभावशाली और आकर्षक है, जो नारी की गरिमा और शक्ति को उजागर करता है। ''श्रद्धा केवल दर्शन का रूपान्तर मात्र नहीं रह जाती। उसके नारी– सुलभ सौन्दर्य, सुकुमारता तथा वात्सल्य भी है और वह एक सचेतन शक्ति बन गयी है। उसमें श्रद्धा का तत्व अपने सर्वोत्तम स्वरूप में निहित है।''[11]

निष्कर्ष :– समग्रतः कहा जा सकता है कि कामायनी जयशंकर प्रसाद तथा छायावाद की एक प्रौढ़, सशक्त और प्रतिनिधि कृति है, जिसमें कवि के जीवन–दर्शन और युग–बोध की स्पष्ट एवं गहन अभिव्यक्ति मिलती है। इस महाकाव्य की रचना–प्रक्रिया पर आधुनिक जीवन–परिस्थितियों का गहरा प्रभाव है, जिसके कारण इसमें मानव जीवन की जटिलताओं, द्वन्द्वों और संभावनाओं का सूक्ष्म चित्रण हुआ है। 'कामायनी' का जीवन–दर्शन मनुष्य की चेतना को समृद्ध करते हुए उसे सार्थकता और पूर्णता की ओर अग्रसर करता है। इसमें अनेक ऐसे प्रसंग हैं जो व्यक्ति को आत्मचिंतन, संतुलन और आनंद की प्राप्ति की दिशा दिखाते हैं। प्रसाद की काव्य–साधना का चरम उत्कर्ष इसी कृति में परिलक्षित होता है, जहाँ सभी पात्र संघर्ष के माध्यम से अंततः आनंद की प्राप्ति करते हैं। कवि की इतिहास–दृष्टि अत्यंत सजग और व्यापक है, जिसमें अतीत, वर्तमान और भविष्य का सुंदर समन्वय दिखाई देता है। 'कामायनी' की कथावस्तु भले ही अतीत पर आधारित हो, पर उसकी शाखाएँ वर्तमान से जुड़कर भविष्य की दिशा निर्धारित करती हैं। यही विशेषता इसे सार्वकालिक और युगद्रष्टा काव्य बनाती है।

औरों को हँसता देखो मनु–हँसो और सुख पाओ।
अपने सुख को विस्तृत कर लो सब को सुखी बनाओ।[12]

संदर्भ–सूची :–

1. प्रसाद निराला अज्ञेय– रामस्वरूप चतुर्वेदी, पृष्ठ संख्या– 58।
2. 'कामायनी' पर नयी किताब– रमेष कुंतल मेघ– 63।
3. पंत, प्रसाद और मैथिलीशरण– रामधारी सिंह दिनकर, पृष्ठ संख्या– 49।
4. हिन्दी साहित्य और संवेदना का विकास– रामस्वरूप चतुर्वेदी पृष्ठ संख्या–141।
5. हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी– नन्द दुलारे बाजपेयी, पृष्ठ संख्या– 39।
6. प्रसाद का काव्य– प्रेमशंकर, पृष्ठ संख्या– 219।
7. कामायनी : एक पुनर्विचार– गजानंद माधव मुक्तिबोध पृष्ठ संख्या– 8।
8. कामायनी– जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ संख्या– 24।
9. हिन्दी साहित्य कोष– ज्ञान मण्डल वाराणसी, पृष्ठ संख्या– 83।
10. कामायनी– जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ संख्या– 108।
11. प्रसाद का काव्य– प्रेमशंकर, पृष्ठ संख्या– 223।
12. कामायनी भाग–2 (कर्म) जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ संख्या– 40

राष्ट्रभाषा की समस्या एवं हिन्दी का स्थान

मंजुला तिवारी*

सारांश :– शिक्षा मंत्रालय,भारत सरकार के UDISE की वर्ष 2021–22 के विवरण के अनुसार संख्या में हिंदी व अन्य भारतीय भाषाओं का शिक्षण माध्यम अंग्रेजी से कई गुना अधिक है लेकिन उसी रिपोर्ट में यह भी सामने आता है कि अंग्रेजी माध्यम लगातार अपने दायरे का विस्तार करता जा रहा है एवं अँग्रेजी माध्यम विद्यालयों की संख्या का प्रतिशत ऊर्ध्वाधर गति में है। आधिकारिक रूप से चिन्हित 121 मातृभाषाओं वाले इस देश में विदेशी भाषा बनाम मातृभाषा की स्थिति पर एवं उस विदेशी भाषा के समक्ष खड़ी हिन्दी पर गहन विश्लेषण की आवश्यकता है। यह शोध आलेख 21वीं सदी के भारत की भाषाई स्थिति एवं राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की स्थिति का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

बीज शब्द :– राष्ट्रभाषा, मातृभाषा, भारतीय भाषाएँ, UDISE।

प्रस्तावना :– डॉ. रामविलास शर्मा अपनी किताब "भारत की भाषा समस्या" में राष्ट्रभाषा की परिभाषा देते हुए लिखते हैं कि "राष्ट्रभाषा ऐसी होनी चाहिए जिसे बहुसंख्यक जनता जानती हो और जो लोग उसे ना जानते हों वे उसे आसानी से सीख सकें।"[1] अब प्रश्न यह है कि क्या भाषाई विविधता वाले इस देश को किसी एक केंद्रीय भाषा की अवश्यकता है? अगर हाँ तो वह भाषा कौन सी है। पं. जवाहरलाल नेहरू ने लिखा था "प्रांतीय भाषाओं के अधिकार क्षेत्र का जरा भी उल्लंघन किये बिना हमारे लिए आवश्यक है कि अखिल भारतीय व्यवहार की एक सामान्य भाषा हो।"[2] स्पष्ट है कि राष्ट्रभाषा से तात्पर्य एक ऐसी भाषा से है जो अखिल भारतीय स्तर पर जानी–समझी और व्यवहार में लाई जाती हो। यद्यपि उनकी प्रांतीय राजभाषा कोई भी भारतीय भाषा कहलाती हो। भारत में राष्ट्रीय गौरव, स्वाभिमान, एकता एवं सांस्कृतिक स्वाभिमान के लिए एक ऐसी भाषा तो होनी ही चाहिए जो अखिल भारतीय स्तर पर एकता का द्योतक हो।डॉ. रामविलास शर्मा लिखते हैं "किसी भी देश और जाति की उन्नति में वह आत्मसम्मान की भावना जनता में जोश भर देती है, उसे संगठित होकर नए–नए मोर्चे फतह करने में बेहद मदद देती है।"[3] भारत को एक उप–महाद्वीप मानने का विरोध करते हुए वे लिखते हैं कि "भारत विभिन्न जातियों द्वारा निर्मित संघ नहीं है, वह ऐतिहासिक विकासक्रम में संगठित एक राष्ट्र है।साथ ही भारत देश एक राष्ट्र है, 'सब कॉन्टीनेन्ट' (उप–महाद्वीप) नहीं है। यहाँ सोवियत देश की तरह मजदूर वर्ग द्वारा सत्ता प्राप्त करने के बाद विभिन्न जातियों द्वारा स्वेच्छा से संघ बनाने का प्रश्न नहीं उठता। भारत विभिन्न जातियों द्वारा निर्मित संघ नहीं है, वह ऐतिहासिक विकासक्रम में संगठित एक राष्ट्र है। भारतीय जनता में राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास विश्व इतिहास की अभूतपूर्व घटना है। समाजवादी सत्ता कायम होने से पहले इस तरह की बहुजातीय राष्ट्रीयता का विकास किसी देश में नहीं देखा गया।"[4] स्पष्ट है उस राष्ट्रीय एकता के लिए एक अखिल भारतीय भाषा का होना आवश्यक तो है ही।

भारत की भाषाई विविधता एवं हिन्दी बनाम अँग्रेजी :– भारत की 2011 की जनगणना के लैंग्वेज एटलस ऑफ इंडिया, के अनुसार मातृभाषा वह भाषा होती है जिसमें शिशु की माँ उससे बात करती है तथा माँ के न होने की स्थिति में वह भाषा जिसका प्रयोग बाल्यावस्था के दौरान परिवार में किया जाता हो।"[5] इस परिभाषा को ध्यान में रखते हुए मातृभाषा सम्बन्धी कुछ तथ्य आंकड़ों के रूप में इस प्रकार हैं:

भारत की भाषाओं को 5 भाषा–परिवारों में विभक्त किया गया है जिसमें :–

- 78.07% भारोपीय भाषा परिवार की भाषाएं बोलते हैं।
- 19.64% द्रविण भाषा परिवार की भाषाएं बोलते हैं।

***ऑनरेरी शिक्षक, पंडित शंभूनाथ शुक्ला विश्वविद्यालय, शहडोल म.प्र.।**

- 1.11% एस्ट्रो एशियाटिक परिवार की भाषाएं बोलते हैं। एवं
- 1.01% तिब्बत – बर्मी परिवार की भाषाएं बोलते हैं।

तथा इन भाषा परिवारों की भाषाओं के प्रयोग पर आधारित प्रयोगकर्ताओं का प्रतिशत निम्नानुसार है:–

हिन्दी	43.63%	उड़िया	3.10% .	कश्मीरी	0.56%
बंगाली	8.03%	कन्नड़	3.61%	नेपाली	0.24%
मराठी	6.86%	मलयालम	2.88%	सिंधी	0.23%
तेलुगु	6.70%	पंजाबी	2.74%	डोगरी	0.21%
तमिल	5.70%	असमिया	1.26%	मणिपुरी	0.15%
गुजराती	4.58%	मैथिली	1.12%	बोडो	0.12%
उर्दू	4.19%	संथाली	0.61%	संस्कृत	0.00%

इसमें महत्वपूर्ण तथ्य यह निकल कर आता है कि,

- 43.63% भारतीयों की मातृभाषा हिन्दी है।
- अन्य किसी भाषा का विस्तार इतना नहीं है।

मातृभाषा के रूप में हिन्दी भारत की लगभग आधी आबादी की भाषा है। लेकिन राष्ट्रभाषा के रूप में इसके सामर्थ्य की पहचान करने के लिए हमें इन सरकारी आंकड़ों से इतर व्यवहारिक दुनिया की भाषा की भी पड़ताल करनी होगी। इस संदर्भ में हम सबसे पहले हिन्दी सिनेमा व हिन्दी गानों की लोकप्रियता की पड़ताल करेंगे। यह तथ्य है कि विश्व में बनने वाली हर चौथी फिल्म भारत की होती है। "भारत में निर्मित होने वाली 60 प्रतिशत फिल्में हिन्दी भाषा में बनती हैं वे ही सबसे अधिक चलन में होती हैं, वे ही सर्वाधिक लोकप्रिय हैं।"6 हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानने ना मानने के विरोध में विशेषकर तमिलनाडु से हिन्दी के विरोध का स्वर उठता रहता है। लेकिन इसी तमिलनाडु के प्रमुख तीन शहर मदुरै, चेन्नई एवं कोयम्बदुर में हिंदी फिल्म 'शोले' ने स्वर्ण जयंती मनाई थी। 'गदर', 'लगान', 'दिलवाले दुल्हनिया ले जाएंगे' जैसी फिल्में पूरे देश में लोकप्रिय रहीं। राष्ट्रभाषा के सम्बंध में यह महत्वपूर्ण है कि उसे आम जनता आसानी से सीख सके इस दृष्टि से यह बहुत रोचक तथ्य है कि हिन्दी फिल्मों में अहिन्दी भाषी कलाकारों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उदा. के लिए श्रीदेवी, हेमामालिनी, कमल हसन, मन्ना डे (बंगाल), या डेनी डोंगजोंपा (सिक्किम) । हिन्दी फिल्मों के प्रसिद्ध लोकप्रिय संगीतकार सचिन देव बर्मन एवं राहुल देव वर्मने का संबंध मणिपुर घराने से है वहीं हिंदी फिल्मों के लोकप्रिय अभिनेता जितेन्द्र की लोकप्रियता दक्षिण भारत में भी वैसे ही है जैसे रजनीकांत की उत्तर भारत में। दक्षिण भारत में गांधीजी अपने अनुभव के विषय में लिखते हैं, "यह कहना सही नहीं है कि मद्रास में अंग्रेजी के बिना काम नहीं चलता। मैंने अपने सारे कामों के लिए वहाँ सफलतापूर्वक हिन्दी का व्यवहार किया है। मैंने रेल में मद्रासी मुसाफिरों को दूसरों से हिन्दी में बातें करते सुना है।"7 दिल्ली के असिस्टेंट रेजिडेंट मेटकाफ ने २६ अगस्त, 1806 को हिन्दुस्तानी के अपने शिक्षक गिलक्रिस्ट के नाम एक पत्र में लिखा था, "भारत के जिस भाग में भी मुझे काम करना पड़ा है, कलकत्ता से लेकर लाहौर तक, कुमाऊँ के पहाड़ो से नर्मदा तक, अफगानों, मराठों, राजपूतों, जाटों, सिखों और उन प्रदेशों के सभी कबीलों में जहाँ मैंने यात्रा की है, मैंने उस भाषा का आम व्यवहार देखा है जिसकी शिक्षा आपने मुझे दी थी। अपने अनुभव से और दूसरों से सुनी हुई बातों के बल पर मैं कन्याकुमारी से कश्मीर तक या जावा से सिंधु के मुहाने तक इस विश्वास से यात्रा करने की हिम्मत कर सकता हूँ कि मुझे हर जगह ऐसे लोग मिल जाएंगे जो हिन्दुस्तानी बोल लेते होंगे।"8 इसी सन्दर्भ में मराठी भाषी लोकमान्य तिलक का यह कथन उल्लेखनीय है कि "मैं उन लोगों में से हूँ जो चाहते हैं और जिनका विचार है कि हिन्दी ही भारत की राष्ट्रभाषा हो सकती है।"[9] और इसी विचार को मूल रूप देने के लिए उन्होंन 'केसरी' का एक हिस्सा हिंदी में प्रकाशित करना शुरू कर दिया था।

मातृभाषा एवं भाषाई प्रेम की दृष्टि से देखने पर स्पष्ट है कि बहुभाषी इस देश में एक तो हिन्दी भाषियों की संख्या अधिक है दूसरी हिंदी भाषा की सीमा सिर्फ उसके प्रदेश तक सीमित नहीं है बल्कि भारत के अधिकांश भाग में इसका प्रसार है।

भाषा सम्बन्धी विश्लेषण का एक अन्य माध्यम है समाचार पत्रों एवं पत्रिकाओं के प्रसार का विश्लेषण। लैंग्वेज वाइज स्टडी ऑफ द प्रेस (वर्ष 2018–19) के 8वें चैप्टर में भारतीय पत्रिकाओं एवं समाचर पत्रों आदि की स्थिति संबंधी आंकड़े प्रस्तुत किए गए हैं जिसमें:–

1. हिंदी प्रेस 4,333 दैनिक समाचार पत्रों के साथ प्रथम स्थान पर है। वहीं
2. अंग्रेजी 897 दैनिक समाचार पत्रों के साथ द्वितीय स्थान पर है। जिसमें दिल्ली से प्रकाशित होने वाला 'हिंदुस्तान टाइम्स' सर्वाधिक वितरित दैनिक समाचार पत्र है।

यहाँ समाचार पत्रों की मांग में हिन्दी सर्वोपरि है तथा यह अन्तर ही इस बात को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है कि क्यूँ हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है। लेकिन हम दूसरे पायदान पर खड़े अंग्रेजी को नजर अंदाज नहीं कर सकते इसलिए एक विहंगम दृष्टि शिक्षा के माध्यम के रूप में अंग्रेजी, हिन्दी एवं अन्य भारतीय भाषाओं की स्थिति का अवलोकन करना होगा। भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय की यूनीफाइड डिस्ट्रिक्ट इंफॉरमेशन सिस्टम फॉर एजुकेशन (UDISE) की 2021 की रिपोर्ट के अनुसार –

- 42% से अधिक का माध्यम हिंदी है
- 26% विद्यार्थी अंग्रेजी माध्यम में शिक्षा ग्रहण करते हैं।
- 32%, अन्य भारतीय भाषाओं के विद्यार्थी हैं।

जिसमें एक अच्छा उदाहरण बंगाल का है जहाँ अंग्रेजी माध्यम में पढ़ने वाले विद्यार्थियों का प्रतिशत मात्र 5.3% है।

यह तो सभी दृष्टियों से स्पष्ट है कि हिन्दी का क्षेत्र अंग्रेजी से उल्लेखनीय रूप से अधिक है लेकिन इसी विवरण (यूनीफाइड डिस्ट्रिक्ट इंफॉरमेशन सिस्टम फॉर एजुकेशन न्क्पै) में यह भी बताया गया है कि अंग्रेजी माध्यम विद्यालयों की संख्या में लगातार बढ़ोत्तरी हो रही है। अंग्रेजी भाषा को ज्ञान–विज्ञान की भाषा कहते हुए संपूर्ण देश के ऊपर मढ़ देने की नीति साम्राज्यवादी शासन व्यवस्था की सोची समझी योजना थी। लेकिन आश्चर्य यह है कि अंग्रेजी के साम्राज्यवाद को अंग्रेजों के साम्राज्यवाद की समाप्ति के बाद और अधिक प्रश्श्रय मिलता रहा। और यहीं से हमारा भाषाई औपनिवेशिक काल प्रारम्भ हुआ। अंग्रेज व्यापारी बनकर आए थे और शासक बनकर हुकूमत करने लगे ठीक वैसे ही 15 वर्ष की समानान्तर भाषा के रूप में संविधान में सम्मलित अंग्रेजी आज ज्ञान की देवी बनकर बैठ रही है। लैंग्वेज एटलस ऑफ़ इंडिया से स्पष्ट होता है कि अंग्रेजी को मातृभाषा के रूप में अपनाने वाले भारतीयों की संख्या मात्र 0.02% है। लैंग्वेज वाइज स्टडी ऑफ द प्रेस के अनुसार अंग्रेजी अखबार को पढ़ने वालों की संख्या का मुख्य केन्द्र दिल्ली है। दिल्ली अर्थात उच्चाधिकारियों का निवास या भविष्य में उच्चाधिकारी बनने का सपना देखने वालों की तैयारी का निवास स्थल। जिस भाषा में औपचारिक रूप से शिक्षित जनसंख्या का प्रतिशत सभी माध्यमों में शिक्षा ग्रहण करने वालों का मात्र 26% हो वो भाषा राष्ट्रभाषा की अपेक्षाओं को पूरी करने में सक्षम नहीं हो सकती। इसका प्रसार हो रहा है तो इसका कारण देश की आत्मा नहीं रोजगार की निम्नलिखित स्थितियाँ हैं:–

- चिकित्सा एवं इंजीनियरिंग की पढ़ाई 2025 तक भी हिंदी या अन्य भाषाओं में सुलभ नहीं हो सकी है।
- माननीय उच्चतम एवं उच्च न्यायालय के जिरह एवं निर्णयों की भाषा अंग्रेजी है।
- सन् 1979 तक संघ लोक सेवा आयोग की परीक्षा माध्यम मात्र अंग्रेजी था। 2025 तक प्रथम प्रश्न पत्र के बोधगम्यता वाले अंश तथा उससे संबंधित प्रश्नों का अंग्रेजी से हिंदी अनुवाद किया जाता है जो प्रकृति में दुरुह शब्दावली व हिन्दी की स्वाभाविक वाक्य संरचना से कम साम्यता रखने के कारण कठिन प्रतीत होता है।

- देश के बड़े शिक्षण संस्थानों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी है तथा पाठ्य सामग्री की भी सहज उपलब्धता है।

स्पष्ट, है अंग्रेजी उच्च पदों पर पहुंचने की भाषा है इसीलिए इसका प्रभुत्व बढ़ता जा रहा है। डॉ रामविलास शर्मा के अनुसार "भारतीय भाषाओं में मुख्य अन्तर्विरोध हिन्दी अहिन्दी का नहीं है, मुख्य अन्तविरोध अंग्रेजी और समस्त भारतीय भाषाओं का है। राज्यों में अंग्रेजी के प्रभुत्व का कारण है– केन्द्रीय सेवाओं में उसका व्यवहार।"10 लेकिन इसका यह आशय कदापि नहीं है कि अंग्रेजी को राष्ट्रभाषा माना जाए। राष्ट्रभाषा के संबंध में मुंशी प्रेमचंद का यह मत उल्लेखनीय है जो उन्होंने "हंस" के माध्यम से व्यक्त किया था "राष्ट्रभाषा केवल रईसों और अमीरों की भाषा नहीं हो सकती उसे किसानों और मजदूरों की भाषा बनना पाड़ेगा"।

सन्दर्भ सूची :–

1. लेखकः शर्मा रामविलास, पुस्तकः भारत की भाषा समस्या, संस्करणः 2017, पृष्ठ संख्याः 147।
2. नेशनल लैंग्वेज फॉर इंडिया ए सिम्पोजियम, इलाहाबाद 1941, पृष्ठ संख्याः 49–50।
3. लेखकःशर्मा रामविलास पुस्तकः भारत की भाषा समस्या, संस्करणः 2017, पृष्ठ संख्याः 35।
4. लेखकः शर्मा रामविलास पुस्तकः: भारत की भाषा समस्या, संस्करणः 2017, पृष्ठ संख्याः 122।
5. Website: ruralndiaonline.org, Report: Language Atlas of India, 2011।
6. Website: webdunia.com, कर्वे दीपा भालचंद्र, हिन्दी को लोकप्रियता में फिल्मों का योगदान।
7. गांधी महात्मा, Thoughts On National Language प्रकाशनः नवजीवन प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 06।
8. गिलक्रिस्ट जे० बी०, ए वाकैबुलरी, हिन्दुस्तानी एण्ड इंग्लिश, इंग्लिश एण्ड हिन्दुस्तानी,प्रकाशन स्थानः एडिनबरा।
9. तिलक लोकमान्य, पत्रिकाः सरस्वती, संस्करणः फरवरी 1917।
10. लेखकः शर्मा रामविलास, पुस्तकः भारत की भाषा समस्या, संस्करणः 2017, पृष्ठ संख्याः 348।

उत्तर भारत में शैव धर्म की प्रगति

डॉ. प्रवीण पाण्डेय*

बौद्ध धर्म के ह्रास और वैदिक धर्म के पुनरुत्थान के काल में वैष्णव धर्म के साथ–साथ शैव धर्म भी भारत के विभिन्न प्रदेशों में फलता–फूलता रहा। चौथी सदी में जब गुप्तवंश के प्रतापी राजाओं ने अपनी शक्ति का उत्कर्ष किया और भारत के बड़े भाग को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया, तो शैव धर्म की तुलना में वैष्णव धर्म की अधिक उन्नति प्रारम्भ हुई, क्योकि गुप्तवंश के बहुसंख्यक राजा वैष्णव धर्म के अनुयायी थे। पर इसका यह अभिप्राय नहीं, कि गुप्त युग में शैव धर्म का ह्रास होने लग गया था। वस्तुतः शैव धर्म ने भी इस काल में अच्छी उन्नति की। संस्कृत के सबसे महान् कवि कालिदास शिव के उपासक थे। उन्होंने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य रघुवंश का प्रारम्भ 'पार्वतीपरमेश्वरी' की वन्दना के साथ किया है।[1] 'कुमार–सम्भव' काव्य में उन्होंने कुमार या स्कन्द (जन्म) का बड़े उदात्त व सरस रूप से वर्णन किया है।[2] कालिदास का समय गुप्त युग में ही माना जाता है। वे चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य की राजसभा के नौ रत्नों में एक थे। वायुपुराण[3] और मत्स्यपुराण[4] की रचना भी गुप्त युग में ही हुई थी। इन पुराणों में शिव की महिमा तथा पूजा का विशद रूप से उल्लेख है। गुप्त वंशी राजा कुमार गुप्त प्रथम (415–555 ई0) के सिक्कों पर मयूर पर आरूढ़ कार्तिकेय (स्कन्द) की प्रतिमा अंकित है, जिससे यह संकेत मिलता है कि यह राजा कार्तिकेय का उपासक था, जिन्हें शिव का पुत्र माना गया है। कुमार गुप्त ने अपने पुत्र का नाम स्कन्दगुप्त रखा था, यह बात भी शैव धर्म के प्रति उसकी आस्था को सूचित करती है। महाकवि भारवि ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीय में अर्जुन और किरात वेशधारी शिव के युद्ध का वर्णन किया है।[5] भारवि का समय सातवीं सदी में प्रतिपादित किया गया है, जब भारत में हर्षवर्धन का शासन था।

गुप्त वंश के समय में तथा उससे पूर्व जिन अनेक विदेशी जातियों ने भारत पर आक्रमण किया था, उनके अनेक राजाओं तथा अन्य व्यक्तियों ने शैव धर्म को भी अपनाया था। कुशाण वंश का राजा विम कदफिसस (पहली सदी) शैव धर्म का अनुयायी था। उसके सिक्कों में पृष्ठ भाग पर प्रायः त्रिशूलधारी शिव की प्रतिमा अंकित है, और कुछ सिक्कों पर शिव के साथ नन्दी को भी प्रदर्शित किया गया है। कनिष्क का बौद्ध धर्म के प्रति अधिक झुकाव था, और उसे बौद्ध भी माना जाता है। पर वह शैव धर्म के प्रति भी आस्था रखता था, यह उसके सिक्कों से स्पष्ट है। उसके बहुत से सिक्कों पर शिव की मूर्ति भी अंकित है। कनिष्क के उत्तराधिकारी कतिपय अन्य कुषाण राजा भी शैव धर्म के प्रति आस्था रखते थे, यह उनके सिक्कों से सूचित होता है। गुप्तवंश के शासन काल में छठीं सदी में भारत पर हूणों ने आक्रमण किये थे, जिनके कारण गुप्त साम्राज्य को बहुत क्षति उठानी पड़ी थी। प्रसिद्ध हूण राजा मिहिरकुल शैव धर्म का अनुयायी था, और उसने बौद्धो पर अत्याचार भी किये थे। मिहिरकुल के समान अन्य हूण लोगों ने भी भारत में आकर शैव धर्म को अपना लिया था। हर्ष का समकालीन बंगाल का राजा शशांक शैव धर्म का अनुयायी था। वाकाटक, मैत्रक, कदम्ब और परिव्राजक वंशों के राजा भी मुख्यतया इसी धर्म को मानने वाले थे। गुप्तवंश के शिलालेखों में दो आमात्यों का उल्लेख आया है, जो शैव धर्म के अनुयायी थे। इनके नाम शाव और पृथ्वीषेण है।[6] अपने नाम को अमर करने के लिए इन्होंने शिव–मन्दिरों का निर्माण भी कराया था। गुप्त युग तथा उसके पश्चात् के काल में जो बहुत से शिव–मन्दिर भारत में बने, उनके अनेक अवशेष इस समय भी विद्यमान हैं, और उनकी उपलब्ध मूर्तियों द्वारा इस धर्म के प्रचार के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

गुप्त युग से पहले ही शिव, कार्तिकेय, गणेश, दुर्गा आदि की मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। शिव की मूर्तियाँ दो प्रकार से बनायी जाती थीं, मानवाकार में और लिंग के रूप में। गुप्तवंश के समय में भी इन्हीं दोनों प्रकारों से शिव की मूर्तियाँ बनायी जाती रहीं। मानवाकार शिव की मूर्तियों में कोसम में

***असिस्टेंट प्रोफ़ेसर (अतिथि प्रवक्ता), मिरांडा हाउस, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।**

प्राप्त हुई शिव–पार्वती की मूर्ति उल्लेखनीय है। इसमें शिव और पार्वती साथ–साथ खड़े है, दोनों ने अपने दायें हाथ ऊपर की ओर उठाये हुए हैं, शिव के बायें हाथ में जल पात्र हैं, और पार्वती ने अपने बायें हाथ में त्रिशूल लिया हुआ है। एल्लोरा के गुहा मन्दिरों में कैलाश–मन्दिर सबसे महत्त्व का है। इसका निर्माण आठवीं सदी में राष्ट्रकूट वंश के राजा कृष्ण द्वारा कराया गया था। मन्दिर के लिये चट्टान का कटाव करते हुये शिल्पियों ने बहुत सी पौराणिक गाथाएं उस पर उत्कीर्ण कर दी हैं। इनमें से अनेक कथाओं का सम्बन्ध शैव धर्म के साथ है। एक दृश्य में रावण कैलाश को उठा रहा है और भय से त्रस्त पार्वती शिव के विशाल भुजदण्ड का सहारा लिये खड़ी है। शिव अचल होकर खड़े हैं, और अपने चरणों से कैलाश को दबाकर रावण के श्रम को व्यर्थ कर रहे हैं। एक अन्य चित्र में शिव और पार्वती का विवाह अंकित किया गया है।

पूर्व–मध्य युग के अभिलेखों के अनुशीलन से इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि वैष्णव धर्म के समान शैव धर्म का भी इस काल से बहुत प्रचार था। अनेक राजवंशो के राजा शैव धर्म के अनुयायी थे, और उनके द्वारा बहुत से शैव मन्दिरों का निर्माण भी कराया गया था। इस युग के अनेक अभिलेखों का प्रारम्भ 'नमः शिवाय' के साथ हुआ है, और उनमें विभिन्न प्रकार से भगवान् शिव के प्रति श्रद्धा प्रकट की गई है। जैसे वैष्णव राजा अपने नाम के साथ 'परमवैष्णव' सदृश विरूदों का प्रयोग करते थे, वैसे ही शैव राजा अपने को 'परममाहेश्वर' लिखा करते थे। सेन वंश के राजा विजयसेन की देवपारा प्रशस्ति के प्रारम्भ में जहाँ शिव को नमस्कार किया गया है, वहाँ देवी (पार्वती) के मुकुलित मुखचन्द्र को देखते हुए भगवान् शम्भु के सस्मित रूप का जयजयकार भी इस प्रशस्ति में विद्यमान है।[7]

राज भोज ने न केवल अपने राज्य में ही अपितु सुदूर कश्मीर में भी शैव मन्दिरों का निर्माण कराया था। उदयपुर (ग्वालियर) से प्राप्त एक अभिलेख में भोज द्वारा बनवाए गए केदारेश्वर, रामेश्वर, सोमनाथ, काल, रूद्र और अनल के मन्दिरों का वर्णन है।[8] और राजतरंगिणी से सूचित होता है कि मालवाधिपति भोज द्वारा भेजे गए धन से पद्मराज नामक व्यापारी ने काश्मीर के कपटेश्वर नामक स्थान पर एक कुण्ड का निर्माण कराया था।[9] इस कुण्ड का जल भोज के उपयोग के लिए उसकी राजधानी में भेजा जाता था। यह कुण्ड काश्मीर में अब भी विद्यमान है। इसके समीप ही एक मन्दिर भी है, जिसे भोज द्वारा बनवाया हुआ माना जाता है। राजपूताना में चित्तौड़ के दुर्ग में शिव का एक मन्दिर है, जिसके सम्बन्ध में एक अभिलेख से यह सूचित होता है कि उसका निर्माण भी भोजराज द्वारा करवाया गया था। बंगाल के पालवंशी राजा बौद्ध धर्म के अनुयायी थे, पर शैव धर्म के प्रति भी उनकी आस्था थी। राजा नारायणपाल के भागलपुर ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि उसने 'शिवभट्टारक' (भगवान शिव) के 'सहस्रायतन' (हजार गृह या मन्दिर) बनवाये थे और उनमें शिव की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की थीं। इसी ताम्रपत्र में यह भी उल्लिखित है कि भगवान् शिवभट्टारक के निमित्त नारायणपाल ने अपने तथा माता–पिता के पुण्य के प्रयोजन में ग्रामों का दान भी किया था।[11] चन्देल वंश के अनेक राजा शैव धर्म के अनुयायी थे।[10] उनके द्वारा बनवाये हुये जो बहुत से मन्दिर खजुराहो में विद्यमान हैं, उनमें सबसे विशाल कन्दर्य महादेव का मन्दिर है। गुर्जर–प्रतिहार वंश के राज वैष्णव थे, पर शिव के प्रति भी उनकी आस्था थी। राजा वाउक के एक अभिलेख में उस द्वारा निर्मित सिद्धेश्वर महादेव के 'तुंग' मन्दिर का उल्लेख है।[12] पूर्व–मध्य युग के अन्य भी बहुत से अभिलेखों में राजाओं के शैव होने तथा उन द्वारा शिव मन्दिरों का निर्माण कराने के उल्लेख विद्यमान हैं। इसमें सन्देह नहीं, कि इस काल में शैव धर्म भी वैष्णव धर्म के समान ही लोकप्रिय था।

पूर्व–मध्य युग में शैव के दो सम्प्रदाय विशेष रूप से प्रचलित थे– कापालिक तथा पाशुपत। पाशुपात के प्रवर्तक लकुलीश थे, जिन्हें शैव लोग शिव का अवतार मानते हैं। लकुलीश के चार शिष्य थे– कुशिक, गार्ग्य, मित्रक और कौरुष्य। ये चारों भी पाशुपात सम्प्रदाय के आचार्य माने जाते है। लकुलीश को शिव का अवतार मान कर इस ढंग से उनके प्रति भक्ति की अभिव्यक्ति की गई है। पाल वंशी राजा नारायणपाल के भागलपुर ताम्रपत्र[13] में जहाँ भगवान् शिव भट्टारक के मन्दिरों के निर्माण का उल्लेख है, वहीं पर 'पाशुपत आचार्य परिषदश्च' (पाशुपत सम्प्रदाय के आचार्यों की परिषद् के) शयन, आसन, भैषज्य और परिष्कार आदि के लिए दान दिए जाने का भी विवरण दिया गया है।

कापालिक सम्प्रदाय का उपास्य देव भैरव है। उन्हें भी शिव का अवतार माना जाता है, और कापालिकों के मत में सृष्टि का सृजन और संहार भैरव ही करते है। इस सम्प्रदाय के अनुयायी सुरापान तथा अभक्ष्य भोजन करना साधना का अंग समझते है। गुप्त वंश के पश्चात् भारत के धर्मों में उन प्रवृत्तियों का प्रादुर्भाव हुआ था, जिन्हें स्थूल रूप से वाममार्गी कहा जाता है। बौद्धों के वज्रयान सम्प्रदाय में इसी प्रकार की प्रवृत्तियां विद्यमान थी। शैव धर्म में कापालिक एक वाममार्गी सम्प्रदाय था। पूर्व–मध्य युग में इस सम्प्रदाय का भी अच्छा प्रचार हुआ था। प्रसिद्ध महाकवि भवभूति (आठवीं सदी) ने अपने नाटक मालतीमाधव में श्रीशैल को कापालिकों का प्रधान पीठ (केन्द्र) बताया है।[14] इस सम्प्रदाय की पूजा विधि का भी इस नाटक से परिचय प्राप्त होता है। कपालकुण्डली नामक स्त्री, जो इस सम्प्रदाय की अनुयायी थी, नरकपालों की माला धारण कर नाटक की नायिका मालती को सोती हुई दशा में उसके पिता के घर से उठा ले जाती है और श्मशान के समीप स्थित कराला–चामुण्डा की मूर्ति के सम्मुख इस प्रयोजन से उपस्थित करती है, ताकि आचार्य अघोरकण्ठ उसकी बलि दे सकें। इससे सूचित होता है कि कापालिक लोग नरबलि को भी अपनी पूजा व साधना का अंग मानते थे। इसी सम्प्रदाय का एक वर्ग कालमुख था। इसकी साधनापद्धति और भी अधिक रौद्र थी। वे भोजन तथा जलपान के लिए नरकपाल का प्रयोग करते थे, नरभस्म को शरीर पर लगाते थे, और सुरापान को साधना के लिए अनिवार्य मानते थे। पूर्व–मध्य युग के कतिपय अभिलेखों में भी इस सम्प्रदाय का उल्लेख मिलता है। उदयपुर–प्रशस्ति में एक ऐसे मठ का वर्णन है, जिसमें कापालिक साधु निवास करते थे।[15]

उपरोक्त विवरणों से यह सिद्ध हो जाता है कि उत्तर भारत में वैष्णव धर्म के समान शैव धर्म की लोकप्रियता विद्यमान थी। शैवधर्म को कई राजवंशो ने संरक्षण भी प्रदान किया था। मंदिर निर्माण के कार्यो से लेकर सिक्कों पर अंकन इसकी महत्ता को दिग्दर्शित करता है।

संदर्भ–सूची :–

1. रघुवंश–नारायण राम आचार्य काव्यतीर्थ, चौखम्भा प्रकाशन, वाराणसी, द्वितीय भाग, 2002।
2. कुमारसम्भव – अरूणगिरी नाथ और नारायण, (3 भाग) टी0जी0 शास्त्री, पृ0 32, 36 त्रिवेन्द्रम् 1913–14 (4.33)।
3. वायुपुराण–देवेषु महान देवो महादेवस्ततः स्मृतः, 5.41, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1987।
4. मत्स्यपुराण – 188.61।
5. किरातार्जुनीय – सुरेश चन्द्र बैनर्जी, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, पृ0 215, 1989।
6. दि0चं0 सरकार कृत 'सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन' जिल्द–2, कुमारगुप्त प्रथम, मंदसौर अभिलेख।।
7. प्रो0 एफ0 कीलहॉन, देवपारा स्टोन इन्सक्रीप्शन ऑफ विजय सेन, एपि0इ0खण्ड 2, पृ0 305 व आगे, सन् 1892।
8. आर0 सी0 मजूमदार, द ग्वालियर प्रशस्ति ऑफ दि गुर्जर प्रतिहार किंग भोज, एपि0 इ0 खण्ड 18, पृ0 99–177, सन् 1925.।
9. राजतरंगिणी (कल्हण), अंग्रेजी अनुवाद, एम0ए0 स्टोन, दो भाग, वेस्मिनिस्टिर, 1900।
10. महाराजाधिराज श्री नारायणपाल देवेन स्वयंकारित सहसत्रायतनमस्य, तत्र प्रतिष्ठापितस्य भगवतः शिवभट्टारकस्य यथाट्र्ट पूजाबलिचरू समनवकर्माधर्थ यथोपरिलिखित मकुतिका ग्रामः यावत् माता पित्रोरात्मनश्च पुण्य यशोऽभिवृद्धये भगवंत शिवभट्टारकमुधिश्च शासनीकृत्य प्रदत्तः।। नारायणपाल, भागलपुर ताम्र अभिलेख, एपि0 इ0 खण्ड 15, पृ0 306, सन् 1919–20।
11. जी0 ब्युहलर, धंग (चंदेल शासक) का लक्ष्मणजी (चतुर्भुज) मंदिर अभिलेख, खजुराहो, वि0स0 1011, एपि0 इ0 खण्ड 1, पृ0 127, सन् 1892।
12. आर0सी0 मजूमदार, जोधपुर इन्सक्रीप्शन ऑफ प्रतिहार बाउक, वि0संवत् 894, एपि0इ0 खण्ड 18, पृ0 87 व आगे, सन् 1925।
13. नारायणपाल, भागलपुर ताम्रपत्राभिलेख, एपि0 इ0 खण्ड 15, पृ0 306 व आगे, सन् 1919–20।
14. भवभूति (मालतीमाधव), विद्याकार, डेनियल एच0एच0 इनगेल्स, एन एन्थोलॉजी ऑफ संस्कृत कोर्ट पोएट्री, हार्वर्ड ओरिएटंल सीरीज, खण्ड 44, पृ0 75।
15. जी0 ब्यूहलर, द उदेपुर प्रशस्ति ऑफ दि किंग्स ऑफ मालवा, एपि0 इ0 खण्ड 1, पृ0 222 व आगे, सन् 1892।

कहानी 'बहादुर' एवं कहानी 'गुलमेहदी की झाड़ियों' में अंतर्निहित मानवीय मूल्य

वीरेंद्र कुर्मी*

शोध सारांश :– यह शोध पत्र हिंदी कहानी साहित्य में गरीबी, दैनिक संघर्ष और मानवीय संवेदना के जटिल द्वंद्व का गहन अध्ययन तरुण भटनागर की कहानी गुलमेंहदी की झाड़ियाँ (2008, भारतीय ज्ञानपीठ, वागीश्वरी पुरस्कार 2009) और अमरकांत की कहानी बहादुर के माध्यम से करता है। दोनों रचनाएँ बाल–दृष्टिकोण अपनाकर समाज के हाशिए पर खड़े पात्रों की आंतरिक पीड़ा, जिजीविषा और संवेदना के क्षरण–पुनरुत्थान को मार्मिक रूप से चित्रित करती हैं। गुलमेंहदी की झाड़ियाँ ग्रीष्म की दोपहर में रेलवे ब्रिज के नीचे गुलमेंहदी की झाड़ियों के बीच खेलती एक छोटी लड़की की कहानी है। पिघलती डामर पर नंगे पैर दौड़ने की शारीरिक जलन, पिछले साल टूटी चप्पल की याद, माँ से चप्पल की जिद और झाड़ियों पर खिलते छोटे फूलों के प्रति निर्दोष आकर्षण गरीबी की क्रूरता तथा बचपन की कोमल संवेदना के बीच तीव्र बवदजतेंजव प्रस्तुत करता है। कहानी प्रकृति की सुंदरता और अभाव की कठोरता को एक साथ उभारती है। बहादुर में 12–13 वर्षीय नेपाली बालक दिलबहादुर (बहादुर) को मध्यवर्गीय परिवार नौकर रखता है। शुरू में "बहादुर" नाम देकर अपनाया जाता है, लेकिन धीरे–धीरे क्रूरता, गाली, मारपीट और अपमान बढ़ता है। बहादुर की मेहनत, निर्दोषता और स्वाभिमान अंत में उसे चुपचाप नौकरी छोड़ने पर मजबूर करता है, जिससे परिवार में अपराधबोध जागृत होता है। यह कहानी मध्यवर्ग की दोहरी चेतना और वर्ग–शोषण को यथार्थवादी ढंग से उजागर करती है।

शोध प्रविधियाँ :– मुख्य रूप से पाठ्य–विश्लेषण, तुलनात्मक विधि और सामाजिक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया गया है। प्रतीकों (पिघलती डामर, गुलमेंहदी के फूल, बहादुर का नाम और व्यवहार), संवादों, चरित्र–चित्रण और कथा–संरचना का सूक्ष्म अध्ययन किया गया।

शोध का महत्व :– समकालीन उपभोक्तावादी और वर्ग–विभाजित समाज में गरीबी मात्र आर्थिक समस्या नहीं, बल्कि मानवीय संबंधों, करुणा और आत्मसम्मान के क्षरण का कारण बन चुकी है। यह अध्ययन दर्शाता है कि हिंदी कहानी साहित्य कैसे व्यक्तिगत संवेदना को सामाजिक यथार्थ से जोड़कर पाठक में सहानुभूति और आत्म–चिंतन जगाता है। दोनों कहानियाँ सिद्ध करती हैं, कि गरीबी संवेदना को कुचल सकती है, लेकिन पूरी तरह नष्ट नहीं कर सकती। यह शोध समकालीन आलोचना को बाल–मनोविज्ञान और वर्ग–संघर्ष का नया आयाम प्रदान करता है तथा शिक्षकों, छात्रों और सामाजिक कार्यकर्ताओं को गरीब बच्चों के प्रति अधिक संवेदनशील बनने की प्रेरणा देता है।

कुंजी शब्द– गरीबी, संघर्ष, मानवीय संवेदना, द्वंद्व, आत्मसम्मान, बाल–दृष्टि, तरुण भटनागर, अमरकांत।

1. प्रस्तावना :– हिंदी कहानी साहित्य की परंपरा में गरीबी और संघर्ष प्रेमचंद से शुरू होकर समकालीन कथाकारों तक निरंतर विकसित होता रहा है। प्रेमचंद ने गरीबी को सामाजिक यथार्थ के रूप में चित्रित किया, जबकि नई कहानी धारा में मनोवैज्ञानिक गहराई आई। तरुण भटनागर की गुलमेंहदी की झाड़ियाँ (2008) और अमरकांत की बहादुर इन दोनों प्रवृत्तियों का सफल समन्वय प्रस्तुत करती हैं। ये कहानियाँ गरीबी को केवल आर्थिक अभाव नहीं, बल्कि मानवीय मूल्यों, करुणा, सहानुभूति, आत्मसम्मान और जिजीविषा के द्वंद्व के रूप में देखती हैं। तरुण भटनागर (जन्म 1968, रायपुर, छत्तीसगढ़) युवा पीढ़ी के प्रमुख कथाकार हैं। उनका पहला कहानी–संग्रह गुलमेंहदी की झाड़ियाँ वागीश्वरी पुरस्कार से सम्मानित हुआ। यह संग्रह युवा ताजगी, काव्यात्मक भाषा और यथार्थ की गहराई के लिए जाना जाता है। शीर्षक कहानी ग्रीष्म की

***शोधार्थी, हिन्दी विभाग, पंडित शंभूनाथ शुक्ला विश्वविद्यालय, शहडोल म.प्र.।**

दोपहर में रेलवे ब्रिज के नीचे गुलमेंहदी की झाड़ियों के बीच खेलती एक छोटी लड़की की कहानी है। पिघलती डामर पर नंगे पैर दौड़ने की जलन, चप्पल की जिद और फूलों के प्रति निर्दोष आकर्षण गरीबी की शारीरिक–मानसिक पीड़ा तथा बचपन की संवेदनशीलता को उभारता है। अमरकांत (1925–2014) हिंदी के प्रमुख यथार्थवादी कथाकार हैं। उनकी कहानियाँ मध्यवर्गीय चेतना, दोहरे मानदंडों और शोषण को बेनकाब करती हैं। बहादुर उनकी प्रसिद्ध कहानी है, जो स्कूली पाठ्यक्रम में भी शामिल रही है। यह 12–13 वर्षीय नेपाली बालक दिलबहादुर की कहानी है, जिसे मध्यवर्गीय परिवार नौकर रखता है। शुरू का अपनापन क्रूरता, मारपीट और अपमान में बदल जाता है। बहादुर का स्वाभिमानी चुपचाप चले जाना परिवार में अपराधबोध जगाता है। अमरकांत की कहानी नौकर–मालिक संबंधों में वर्ग–शोषण और संवेदना–क्षरण को यथार्थवादी ढंग से चित्रित करती है।

यह दोनों कहानियाँ बाल–दृष्टि अपनाती हैं, जो यथार्थ को अधिक मार्मिक बनाती है। गुलमेंहदी की झाड़ियाँ व्यक्तिगत–प्राकृतिक स्तर पर गरीबी का चित्रण करती है, जबकि बहादुर सामाजिक–वर्गीय स्तर पर। अमरकांत मध्यवर्ग की दोहरी चेतना को उजागर करते हैं। तरुण भटनागर की कहानियाँ काव्यात्मकता के साथ अभाव की कारुणिक कथा विस्तार करती हैं। यह शोध पत्र पाठ्य–विश्लेषण, तुलनात्मक विधि और सामाजिक–मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाता है। शोध का महत्व आज के वर्ग–विभाजित समाज में निहित है, जहाँ गरीबी मानवीय संबंधों को प्रभावित करती है। ये कहानियाँ संवेदना की विजय का संदेश देती हैं और पाठक को सामाजिक न्याय की ओर प्रेरित करती हैं।

2. कहानियों का संक्षिप्त परिचय :– गुलमेंहदी की झाड़ियाँ (तरुण भटनागर) कहानी ग्रीष्म की तपती दोपहर पर केंद्रित है। रेलवे ब्रिज की सड़क पर पिघली डामर फिसलन भरी हो गई है। छोटी लड़की (सुंदर की सहेली) ब्रिज के नीचे गुलमेंहदी की झाड़ियों के बीच खेलती है। पिछले साल ऐसी ही गर्मी में उसकी चप्पल डामर में फंसकर टूट गई थी, जिससे पूरी गर्मी नंगे पैर चलना पड़ा। पैरों का तला जलता, जलन होती। अब वह सतर्क होकर अँगूठे और ऐढ़ियों पर टिककर तेजी से रोड पार करती है। वह माँ से चप्पल की जिद करती रही रोती–झींकती। अंत में बरसात के बाद माँ नई चप्पल लाकर देती है। कहानी में गुलमेंहदी के छोटे फूल, फल और प्रकृति की जिद (हर साल उगना) बच्ची की कल्पनाशीलता और संवेदना को जीवित रखती है। फल खाने से पेट दर्द होता है, फिर भी आकर्षण बना रहता है। यह कहानी अभाव और सुंदरता के बीच के वैषम्य को काव्यात्मक भाषा में प्रस्तुत करती है। बहादुर (अमरकांत) कहानी प्रथम पुरुष में कथावाचक (लेखक स्वयं) द्वारा सुनाई गई है। परिवार नौकर रखने का फैसला करता है क्योंकि रिश्तेदारों के यहाँ नौकर हैं और उनकी सुविधा देखकर ईर्ष्या होती है। बहादुर 12–13 वर्षीय नेपाली लड़का है, जो माँ की मार से तंग आकर घर से भाग आया है। शुरू में परिवार उसे प्यार से "बहादुर" नाम देता है। वह मेहनती, हँसमुख, निर्दोष और आज्ञाकारी है। घर के सारे काम करता है, बर्तन माँजना, झाड़ू–पोंछा, बच्चों को संभालना। धीरे–धीरे परिवार का व्यवहार बदलता है। लेखक की पत्नी, बच्चे (किशोर) और अन्य सदस्य गाली देते, मारते–पीटते और झूठे आरोप लगाते हैं। बहादुर चुपचाप सहता है। अंत में एक दिन वह बिना बताए चला जाता है। परिवार को उसकी कमी महसूस होती है और अपराधबोध जागता है। कहानी मध्यवर्गीय सनक, दोहरे मानदंड और गरीबी से उत्पन्न शोषण को उजागर करती है। "कहानीकार ने यह तथ्य भी उजागर किया है कि वर्तमान समाज झूठे प्रदर्शन व मान प्रतिष्ठा में स्वयं को इतना फँसा चुका है कि वह अपनी मनुष्यता व संवेदना को नष्ट करता जा रहा है।" (रावत, "बहादुर कहानी की समीक्षा") "बहादुर कहानी का प्रधान चरित्र उसी पिछड़े बेसहारा वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है।" दोनों कहानियाँ छोटी हैं, लेकिन गहरी प्रभाव छोड़ती हैं। एक व्यक्तिगत अभाव पर, दूसरी सामाजिक संबंधों पर केंद्रित है।

3. गुलमेंहदी की झाड़ियाँ में गरीबी, संघर्ष और संवेदना :– तरुण भटनागर की कहानी गरीबी को शारीरिक यातना के रूप में चित्रित करती है। ग्रीष्म की लू, पिघलती डामर, जलते पैर और टूटी चप्पल गरीबी की दैनिक पीड़ा हैं। लड़की ब्रिज के नीचे उतरते समय सावधान रहती है, पिछले साल चप्पल फंसकर टूट गई थी, जिससे पूरी गर्मी नंगे पैर चलना पड़ा। "पैर का तला जलने लगता। वह थोड़ी देर तक ब्रिज के नीचे खड़े रहकर खुद को तैय्यार करती थी..."यह वर्णन गरीबी के शारीरिक संघर्ष को जीवंत बनाता है। मानसिक

संघर्ष चप्पल की जिद में दिखता है। लड़की माँ से रोती–झींकती जिद करती है। यह जिद केवल आराम की नहीं, बल्कि आत्मसम्मान की अभिव्यक्ति है। गरीबी बच्चे को वयस्क बनाती है, वह अपनी तकलीफ खुद सहती है और माँ पर बोझ नहीं बनना चाहती। फिर भी संवेदना जीवित है। गुलमेंहदी की झाड़ियाँ, उनके छोटे–छोटे फूल और फल बच्ची की कल्पनाशीलता को जगाते हैं। वह फूलों को देखकर खुश होती है, सुंदर के साथ खेलती है। फल खाने की मनाही के बावजूद आकर्षण बना रहता है। प्रकृति की जिद (हर साल उगना) और बच्ची की जिद समानांतर चलती है। लेखक गरीबी को केवल दुख नहीं, बल्कि उसमें छिपी जिजीविषा दिखाते हैं।

कहानी का प्रतीकात्मक स्तर गहरा है। पिघलती डामर आधुनिक विकास की कठोरता का प्रतीक है, जबकि गुलमेंहदी की झाड़ियाँ प्रकृति की कोमलता और गरीब बच्चे की संवेदना का। डामर और फूलों का वैषम्य गरीबी के द्वंद्व को उभारता है, दर्द के बीच सुंदरता की तलाश। भाषा काव्यात्मक है, जो यथार्थ को मार्मिक बनाती है। यह कहानी बाल–मनोविज्ञान को उजागर करती है। बच्ची की संवेदना वयस्कों की संवेदनहीनता (माँ की प्रारंभिक अनदेखी) के विरुद्ध खड़ी होती है, लेकिन अंत में माँ चप्पल दिलाती है, संवेदना की छोटी विजय। तरुण भटनागर की शैली में कथ्य और तथ्य का युवा ताजापन परिपक्व और परिपूर्ण है, जो कहानी को विशेष बनाता है।

4. बहादुर में गरीबी, संघर्ष और संवेदना :– अमरकांत की कहानी गरीबी को सामाजिक शोषण के रूप में प्रस्तुत करती है। बहादुर गरीबी और घरेलू हिंसा (माँ की मार) से भागकर शहर आता है। मध्यवर्गीय परिवार उसे नौकर रखता है क्योंकि "सभी भाई–रिश्तेदारों के यहाँ नौकर थे" और उनकी सुविधा देखकर ईर्ष्या होती है। शुरू में परिवार करुणा दिखाता है, नाम "बहादुर" रखकर अपनाता है। वह मेहनती, निर्दोष, हँसमुख है और सारे काम बिना शिकायत किए करता है। संघर्ष धीरे–धीरे बढ़ता है। परिवार का व्यवहार बदलता है, गाली, मारपीट, झूठे आरोप। लेखक का पुत्र किशोर उसे पीटता है, पत्नी डाँटती–मारती है। बहादुर चुपचाप सहता है क्योंकि गरीबी उसे विकल्प नहीं देती। यह संघर्ष शारीरिक (मार) और मानसिक (अपमान) दोनों स्तर पर है। संवेदना का द्वंद्व कहानी का केंद्र है। बहादुर की निर्दोषता परिवार में संवेदना जगाती है, लेकिन मध्यवर्गीय सनक और वर्ग–भावना उसे कुचल देती है। अंत में बहादुर स्वाभिमान बनाए रखते हुए चुपचाप चला जाता है। परिवार को उसकी कमी महसूस होती है, बर्तन, सफाई, बच्चों की देखभाल में दिक्कत होती है। अपराधबोध जागता है, लेकिन बहादुर वापस नहीं आता।

अमरकांत मध्यवर्ग की दोहरी चेतना को बेनकाब करते हैं, वे खुद को "सम्मानित" मानते हैं, लेकिन गरीब के प्रति क्रूर होते हैं। शोध गंगा प्रबंधों में उल्लेख है कि अमरकांत की कहानियाँ मध्यवर्गीय चेतना के यथार्थवादी चित्रण के लिए प्रसिद्ध हैं। बहादुर का चरित्र स्वाभिमान, मेहनत और कोमलता का प्रतीक है। उसका नाम "बहादुर" विडंबनापूर्ण है, वह शारीरिक बहादुरी नहीं, बल्कि नैतिक बहादुरी दिखाता है। कहानी बाल–मनोविज्ञान भी छूती है। बहादुर बच्चा है, लेकिन वयस्कों की क्रूरता उसे परिपक्व बना देती है। संवेदना अंत में परिवार में जागती है, जो पाठक को सोचने पर मजबूर करती है।

5. दोनों कहानियों में मानवीय मूल्यों का द्वंद्व :– दोनों कहानियाँ गरीबी को संघर्ष का आधार बनाकर मानवीय मूल्यों के द्वंद्व को उजागर करती हैं। आत्मसम्मान बनाम अपमान गुलमेंहदी में लड़की की चप्पल की जिद आत्मसम्मान की अभिव्यक्ति है। वह दर्द सहती है लेकिन सम्मान की माँग करती है। 'बहादुर' में बहादुर अपमान सहता है, लेकिन अंत में स्वाभिमान बनाए रखते हुए चला जाता है। दोनों बाल–पात्र वयस्क अपमान के विरुद्ध खड़े होते हैं। करुणा बनाम क्रूरता गुलमेंहदी में माँ शुरू में अनदेखी करती है, लेकिन अंत में चप्पल दिलाती है, करुणा की विजय। बहादुर में परिवार शुरू में करुणा दिखाता है, लेकिन क्रूरता में बदल जाता है। अंत में अपराधबोध जागता है। बचपन की निर्दोषता बनाम वयस्क संवेदनहीनता दोनों कहानियों में बाल–पात्र (लड़की और बहादुर) अपनी कोमल संवेदना से वयस्क समाज की क्रूरता को चुनौती देते हैं। लड़की फूलों में सुंदरता देखती है, बहादुर मेहनत से परिवार की सेवा करता है। जिजीविषा बनाम क्षरण गरीबी संवेदना को कुचलने की कोशिश करती है, लेकिन दोनों कहानियों में संवेदना द्वंद्व के रूप में बची रहती है और अंत में सकारात्मक मोड़ लेती है। "तरुण की कहानियों में कथ्य और तथ्य का एक ऐसा युवा

ताजापन है जो परिपक्व तो है ही, परिपूर्ण भी है।" (समीक्षा, "गुलमेंहदी की झाड़ियाँ") ये द्वंद्व सामाजिक यथार्थ और मनोवैज्ञानिक गहराई को जोड़ते हैं। अन्य शोध प्रबंध दर्शाते हैं कि अमरकांत की कहानियाँ वर्ग–संघर्ष पर केंद्रित हैं, जबकि तरुण भटनागर की कहानियाँ व्यक्तिगत संवेदना पर। दोनों मिलकर मानवीय मूल्यों की जीवंतता साबित करती हैं।

6. तुलनात्मक अध्ययन :– दोनों कहानियाँ बाल–दृष्टि से लिखी गई हैं, जो यथार्थ को अधिक प्रभावशाली बनाती हैं। गुलमेंहदी की झाड़ियाँ व्यक्तिगत और प्राकृतिक संघर्ष पर केंद्रित है, डामर और फूल, दर्द और सुंदरता। भाषा काव्यात्मक और प्रतीकात्मक है। बहादुर सामाजिक–वर्गीय द्वंद्व पर है, नौकर–मालिक, निर्दोषता और क्रूरता। भाषा यथार्थवादी और संवाद–प्रधान है। समानताएँ– दोनों में बाल–पात्र गरीबी से संघर्ष करते हैं। संवेदना द्वंद्व में जीवित रहती है और अंत में सकारात्मक प्रभाव छोड़ती है (चप्पल मिलना, अपराधबोध)। वयस्क समाज की संवेदनहीनता को चुनौती। मानवीय मूल्यों (आत्मसम्मान, करुणा) की खोज। असमानताएँ स्तरः व्यक्तिगत–प्राकृतिक– सामाजिक–वर्गीय। शैलीः काव्यात्मक–यथार्थवादी। समाधानः व्यक्तिगत राहत बनाम सामाजिक पछतावा। उपलब्ध शोध प्रबंधों से पता चलता है कि अमरकांत नयी कहानी धारा की निरंतरता हैं, जबकि तरुण भटनागर नई सदी की युवा कहानी में ताजगी लाते हैं। दोनों मिलकर हिंदी कहानी को समृद्ध करती हैं।

7. निष्कर्ष :– तरुण भटनागर और अमरकांत सिद्ध करते हैं कि गरीबी और संघर्ष मानवीय संवेदना को कुचल सकता है, लेकिन पूरी तरह नष्ट नहीं कर सकता। गुलमेंहदी की झाड़ियाँ में प्रकृति और बच्ची की जिद, बहादुर में स्वाभिमान और अपराधबोध, दोनों में संवेदना द्वंद्व के ऊपर विजय पाती है। ये रचनाएँ समकालीन समाज को आईना दिखाती हैं, जहाँ वर्ग–विभाजन और उपभोक्तावाद संवेदना को कमजोर कर रहा है। अध्ययन बाल–मनोविज्ञान और वर्ग–संघर्ष का नया आयाम प्रदान करता है। यह शिक्षकों और सामाजिक कार्यकर्ताओं को गरीब बच्चों के प्रति संवेदनशील बनाने तथा सामाजिक न्याय की दिशा में सोचने के लिए प्रेरित करता है। भविष्य में ऐसे अध्ययन अन्य समकालीन कहानियों को शामिल कर विस्तार दिए जा सकते हैं। अंत में ये कहानियाँ हमें याद दिलाती हैं कि इंसानियत द्वंद्व में भी जीवित रह सकती है।

संदर्भ–सूची :–

1. भटनागर, तरुण. "गुलमेंहदी की झाड़ियाँ". गुलमेंहदी की झाड़ियाँ (कहानी संग्रह). भारतीय ज्ञानपीठ, 2008. (उद्धरण 1 और 2)
2. अमरकांत. "बहादुर". अमरकांत की सम्पूर्ण कहानियाँ (भाग–2). अमर कृतित्व, 1998.
3. रावत (समीक्षक). "बहादुर कहानी की समीक्षा". रविकांत मणि वेबसाइट, https://www-ravikantmani-in (उद्धरण 3)
4. मणि, रविकांत. "पाठ 4ः बहादुर". Kathabharati] https://www-ravikantmani-in (उद्धरण 4)
5. "गुलमेंहदी की झाड़ियाँ" (समीक्षा) Sahitya Kunj / Prayog, 2008–2023. (उद्धरण 5)
6. व्यास, वर्षा रानी. अमरकांत का कहानी साहित्यः कथ्य और शिल्प. शोध प्रबंध, Shodhganga 2014.
7. प्रसाद, सरयू. "साहित्य में मानवीय संवेदनाएँ और सामाजिक दायित्व". All Research Journal, Vol- 9, Issue 6, 2023.
8. जामतिया, मेर्री. "अमरकांत के कथा साहित्य में वर्णित मध्यवर्गीय चेतना". शोध प्रबंध Shodhganga 2018.

हिंदी साहित्य में जनजाति अस्तित्व व अस्मिता

डॉ. लोकेश कुमार साहू*

प्रस्तावना :– जनजातियाँ आदिम जाति अथवा आदिवासी जाति "ट्राइब्स" शब्द का हिन्दी रूपांतरण है। जनजातियों की उपस्थिति एवं उनके महत्त्व का परिचय भारतीय समाज में आजादी के पूर्व हो चुका था। विशेष रूप से बिहार के संथाल, उराँव और मुण्डा विद्रोह के नाम से प्रसिद्ध जनजाति आंदोलन भारतीय जनजातियों की सजगता को व्यक्त कर रहे थे। आजादी के बाद संविधान में आरक्षण की व्यवस्था के लिए जनजातियों को सूचीबद्ध किया गया था। सूचीबद्ध करने का मुख्य कारण था कि जनजातियों के विकास मार्ग को प्रशस्त करना। जनजातीय विकास हेतु भारतीय संविधान में जनजाति वर्ग को नौकरी में आरक्षण तथा षिक्षा में सुविधा प्रदान करने हेतु सूचीबद्ध किया गया था। भारतीय परिप्रेक्ष्य में जनजाति की अपनी विशिष्ट पहचान है। ये भौगोलिक रूप से निश्चित भू–भाग (जंगल, पहाड़, गुफाओं ं) आदि में निवास करते हैं। समाजशास्त्री इन्हें वंचित वर्ग, समूह या समुदाय द्वारा सम्बोधित करते हैं। हट्टन ने इन्हें आदिम जाति (प्रीमिटिव ट्राइब्स) नाम से सम्बोधित किया है। **जी.एस. घुरिये** ने इन जनजाति या आदिवासी समूह को 'पिछड़े हिन्दू' कहा है। **श्यामाचरण दुबे** के अनुसार– 'वास्तव में जनजाति' व्यक्तियों का एक वह समूह है, जो एक निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में आवास या विचरण करता है, जो किसी आदि पूर्वज को ही अपना उद्‌गम मानता हो तथा जिसकी एक सामान्य संस्कृति होती है, और जो आज भी आधुनिक सभ्यता के प्रभावों से परे है वह जनजाति कहलाता है।" भारतीय जनजातीय साहित्य हजारों वर्षो से सांस्कृतिक उत्थान के अधीन अपनी प्रत्येक समृद्ध परंपरा को कायम रखता है। 19वीं शताब्दी के दौरान मुद्रण तकनीक ने भारतीय भाषाओ ं को प्रभावित करना शुरू किया। भारत में स्वतंत्रता भारतीय राज्यों और केंद्र शासित प्रदेशों को भाषाई आधार पर फिर से संगठित होते देखा गया। कई लोगों ने लिपियों का विकास नहीं किया था। भारतीय जनजातीय समुदायों ने जिन भाषाओं में अपनी अभिव्यक्ति व्यक्त की है, वह आश्चर्यजनक रूप से बहुत बड़ी है। यद्यपि एक बहुभाषी समाज में मातृभाषा के अंतर से जुड़ी सामान्य समस्याएँ हैं। भारतीय जनगणना के आँकड़े बताते हैं कि दस हजार समुदायों के साथ लगभग 90 आदिवासी भाषाएँ मौजूद हैं। कुकना, भीली, गोंडी, मिजो, गारो, संथाली, किन्नौरी, देहवाली, वारली, पौड़ी आदि जैसी आदिवासी भाषाओं में अपने स्वयं के मधुर ओरला रूप में सैकड़ों साहित्य हैं।

भारत में आदिवासियों ने वास्तव में आजकल लिखना शुरू कर दिया है। कई आदिवासी भाषाओं के पास अब अपनी लिपियाँ हैं या उन्हो ंने राज्य की लिपियों का सहारा लिया है। लगभग चार दशक पहले जब दलित साहित्य ने देश का ध्यान खींचना शुरू किया तो जनजातीय लेखक भी चर्चा में आ गए। मराठी में, उदाहरण के लिए, **आत्माराम राठौड़, लक्ष्मण माने, लक्ष्मण गायकवाड़**, प्रत्येक खानाबदोश जनजातीय समुदायों से संबंधित, दलित लेखको ं के रूप में प्रतिष्ठित थे। पिछले 20 वर्षों के दौरान विभिन्न जनजातीय आवाजों और साहित्यिक कार्यों ने अपनी उपस्थिति दर्ज कराना शुरू कर दिया। इस प्रकार केरल से कोचेरेती और उत्तर से अल्मा काबुत्री ने पाठकों को लगभग उसी समय प्रभावित किया जब एल. खियांगटे का मिजो साहित्य का संकलन और गोविंद चाटक का गढ़वाली साहित्य का संकलन अंग्रेजी और हिंदी अनुवाद में प्रकाशित हुआ।

हिन्दी साहित्य में जनजातीय लेखनः– जनजाति साहित्य आने से पहले बाहरी समाज जनजातीय दुनिया के बारे में बहुत कम जानता था। जनजाति लेखन ने साहित्य जगत को एक नई विश्वदृष्टि दी, नए आयाम दिये। इसी इकाई से हमें जनजाति विमर्श की अवधारणा को समझाने में बल मिला हैं। जनजाति साहित्य अस्मिता की खोज, दिकुओं द्वारा किये गए और किये जा रहे शोषण के विभिन्न रूपों के उद्‌घाटन तथा

* विजिटिंग फैकल्टी (हिन्दी) पंडित शंभूनाथ शुक्ला विश्वविद्यालय, शहडोल(म.प्र.)

जनजाति अस्मिता और अस्तित्व के संकटों और उनके खिलाफ हो रहे प्रतिरोध का साहित्य है। यह उस परिवर्तनकामी चेतना का रचनात्मक हस्तक्षेप है जो देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव का पुरजोर विरोध करती है तथा उनके जल, जंगल, जमीन और जीवन को बचाने के हक में उनके 'आत्मनिर्णय' के अधिकार के साथ खड़ी होती है। जनजातियों ने किसी कौम पर राज करने के लिए नहीं, अपना अस्तित्व बचाने के लिए बार–बार विद्रोह किया है। पिछली दो सदियाँ जनजाति विद्रोहों की गवाह रही हैं। इन विद्रोहों से रचनात्मक ऊर्जा भी निकली, लेकिन वह मौखिक ही अधिक रही। समकालीन जनजाति साहित्य की पृष्ठभूमि के रूप में जनजाति साहित्य में हजारों साल पुरानी साहित्य की मौखिक परंपरा को रखा जा सकता है, जिसे पुरखौती कहा जाता है। पूर्वोत्तर भारत में लगभग डेढ सौ साल पहले और संथाली आदि मध्य भारतीय जनजाति भाषाओं में 1950 के आसपास से जनजाति कलम ने अपने स्वरों को शब्दों में शुरु किया । आजादी के बाद के नेतृत्व में भारतीय राजनीति से साहित्य तक में जनजाति चेतना की गूंज सुनाई देने लगी– बाद के जनजाति लेखन को उसी के विकास के रूप में देखा जा सकता है– पुरखौती रूप में मौजूद जनजाति साहित्य जहाँ प्रकृति और प्रेम के विविध रूपों के साथ रचाव और बचाव का साहित्य है, वहीं समकालीन जनजाति लेखन दिकुओं द्वारा किये गए और किये जा रहे शोषण के विविध रूपों के उद्घटन तथा जनजाति अस्मिता और अस्तित्व के संकटों और उनके खिलाफ हो रहे संघर्ष का साहित्य है– "यह उस परिवर्तनकामी चेतना का रचनात्मक हस्तक्षेप है जो देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव का पुरजोर विरोध करती है तथा उनके जल, जंगल, जमीन और जीवन को बचाने के हक में उनके 'आत्मनिर्णय' के अधिकार के साथ खड़ी होती है।"

जनजातीय साहित्य का स्वरूप :– रमेश चन्द्र मीणा ने स्त्री सवालो ं को उठाती कविता के माध्यम से कहा है कि–"जनजाति समाज को बहुत कम लोग जानते हैं, क्योंकि लोग उतना ही जानते हैं जितना की उन परलिखा गया है। हिन्दी साहित्य में बहुत विमर्शों की तुलना में जनजाति विमर्श की गूँज कम दिखलाई देती है।[1] "**महादेव टोप्पो** ने लिखा हैं–"सन् 1980 एवं सन् 1998 के बीच 'दिनमान' एवं 'धर्मयुग' जनजातियों की विभिन्न समस्याओं के प्रश्नों पर विशेषांक निकाल चुके थे। कमलेश्वर द्वारा सम्पादित "सारिका" में जनजाति समाज से संबंधित कहानियाँ छपीं। 'रविवार' और 'चौथी–दुनिया' जैसे साप्ताहिकों ने जनजाति जीवन को समझने के लिए कहानियाँ छापीं।[2]" "भारत सरकार द्वारा सन् 1955 में प्रकाशित पुस्तक का शीर्षक जनजाति (हिन्दी और अंग्रेजी) में है, जिसमें **जवाहर लाल नेहरू** ने लिखा हैं कि–"हम जनजाति को स्वीकार करते हैं तो इसके दो अर्थ हैं–जनजातियाँ इस देश की मूलनिवासी हैं और आज भी जंगलों में निवास करती दिखाई देती हैं ।[3]" "हिन्दी साहित्य में कई प्रकार के उतार–चढाव आए हैं और भी कई आएँगे, विमर्श भी चलते रहते हैं, आदिकाल से लेकर वर्तमान तक साहित्य ने कई पड़ाव तय किए हैं जिससे साहित्य अपनी भूमि पर पूर्णतः पाँव पसार पाया है। परन्तु जब भी कभी परिवर्तन होता हैं तो सबसे पहले वो परिवर्तन साहित्य में देखने को मिलता है। **डॉ० श्रवण कुमार मीना** लिखते हैं–"एक ओर साहित्य जहाँ भारतीय समाज व्यवस्था, धर्म, संस्कृति और राजनीति के प्रभाव से बच नहीं सका वहीं दूसरी और स्वतंत्र भारत में चल रही वर्ण, जाति, लिंग भेद की अव्यवस्था ने झकझोरा है।[4]" इसी के परिणामस्वरूप समकालीन साहित्य में इन समाजों अर्थात् जनजाति, दलित और मूलनिवासी का बिम्ब देखने को मिला जो साहित्यिक दर्पण में पीछे अंधेरे में थे। इसमें स्त्री, दलित, अल्पसंख्यक और जनजाति साहित्य प्रमुख रूप से हैं। जनजाति साहित्य लेखन में यायावर लोगों का एक सम्पूर्ण कोलार्ज की तरह सम्मिलित किया गया हैं जिसमें कहीं खुशी है तो कहीं संघर्ष, कहीं दर्द तो, कहीं विस्थापन का दंश, फिर कहीं न कहीं बसने की मुखरता जनजाति के लोगों में दिखाई पड़ती हैं। **सी०एल० शर्मा** ने लिखा हैं कि–"कहीं जीवन में अग्नि फलक की प्रसव वेदना है तो कहीं नंगी हथेली के बीचों–बीच रखी जलधारी के अंगारे। वास्तव में जनजाति साहित्य जीवन का शीतोष्ण जलधाराओं का शक्तिनाद है।[5]" जिस तरह से साहित्य में हिन्दी, अंग्रेजी, मराठी, को ंकणी, रूसी, जापानी, तमिल, डोगरी आदि में दलित या अश्वेत साहित्य की चर्चा की जाती है। ठीक इसी प्रकार जनजाति साहित्य को लेकर लोगों में अत्याधिक चर्चा का क्रेन्द्र बिन्दु बन गई है। आदिवासी साहित्य, जिसमें जनजातियो ं के संपूर्ण जीवन–विवरण का खाखा है, को भी शामिल किया जाना चाहिए। लोग उचित रूप से परिभाषित कर सकते हैं कि जनजाति क्या है? चूँकि इसकी भाषा एक निश्चित आदिवासी समुदाय से जुड़ी हुई है, इसलिए

इस साहित्य का नाम आदिवासी साहित्य भी होना चाहिए। जनजाति चिन्तक आलोचक **महादेव टोप्पो** ने लिखा हैं–"जनजाति साहित्य किसी एक भाषा या एक भौगोलिक सीमा मात्र में बँधा नहीं हैं। लेकिन एक विशेष मानसिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक सन्दर्भों में विशिष्ट जीवन शैली में बँधे होने के कारण जनजाति साहित्य कहा जाता है। "डॉ० अर्जुन चौहान ने अपने अनुसार बताया है–"कि जनजाति समाज के बारे में किया गया गहन विचार चिन्तन ही जनजाति विमर्श हैं।[7] "कथाकार संजीव ने भी जनजाति साहित्यके बारे में गहन विचार करके बताया हैं–"जो भी रचना जनजातियों के जीवन और उनकी समस्याओं का ईमानदारी से चित्रण करती हैं, वह जनजाति साहित्य हैं।[8]" "आलोचक वीरेन्द्र यादव के अनुसार–"जनजाति साहित्य की पहली शर्त उसकी संवेदना, संघर्ष और जीवनानुभवों के स्तर पर जनजाति समाज से गहरी संलग्नता हैं।[9]" "सम्पादक और लेखक अनन्त कुमार सिंह ने लिखा हैं– "जनजाति साहित्य वह साहित्य हैं जिसमें जनजातियों के वास्तविक जीवन संघर्ष और संस्कृति की सच्ची झलक मिलतीहैं।[10]" जनजाति साहित्य का गहन अध्ययन करते समय अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता हैं। इसमें जनजाति की पहचान का संकट, लिपि विहीन मौखिक साहित्यिक परम्परा, मूलपाठ की समस्या, जनजातियों के अस्तित्व का संकट, शैक्षणिक क्षेत्र में जनजाति साहित्य को पाठ्यपुस्तक (पाठ्यक्रम) के रूप में स्वीकृति प्राप्त नहीं होना, जनजाति साहित्य से सम्बन्धित कोशों का अभाव, कुछ क्षेत्रों में बहती समाज की राजनीतिक और वर्चस्ववादी मनोवृत्ति प्रमुख हैं। इस पर आधारित वरिष्ठ साहित्यकार एवं जनजाति चिन्तक हरिराम मीणा ने कहा हैं कि–"जनजातियों के बारे में जिन्हें जानकारी नहीं थी उन्होंने ही उनका इतिहास लिखा। यही कारण था कि कई प्रकार की तथ्यात्मक त्रुटियाँ हुईं। ऐसे मे ं उनके इतिहास को नए सिरे से लिखने की जरूरत हैं। जनजातियों से जिन्दगी जीने का ढंग सीखना चाहिए। जनजाति लेखन में हिन्दी साहित्य समृद्ध होगा।[11]"

हिन्दी साहित्य में जनजाति अस्तित्व और अस्मिता :– दुनिया के जनजाति समाज के लोगों ने अपनी लड़ाईयाँ स्वयं ही लड़ी हैं, लेकिन मुख्यधारा के क्रांतिकारी साहित्यों ने भी उनके प्रति संवेदनशीलता प्रदर्शित करते हुए उनकी चिंताओं को दूर करने का प्रयास नहीं किया है। साहित्य यदि बाजार के लिए नहीं है, मनुष्य और मनुष्यता के लिए है, तो हिंदी साहित्य की प्रस्तुति जनजाति समाज के बिना क्यों हैं? हिन्दी साहित्य में प्रेमचंद्र से ज्यादा प्रेमचंद्र की परंपरा के वाहकों से है जो प्रेमचंद्र से छूट गया जनजाति समाज आज भी उनकी परंपरा से क्यों बहिष्कृत हैं? यद्यपि प्रेमचंद्र के कथा साहित्य में जनजातियों को जगह नहीं मिली है और न ही उनका जनजातियों के जीवन से परिचय था, तथापि उनकी रचनाओं में दो स्थानों पर जनजातियों की चर्चा मिलती है। 'गोदान' उपन्यास में और 'सद्गति' कहानी में। गोदान में शिकार प्रसंग में मेहता और मालती की टोली शिकार हेतु जंगल में जाते हैं वहाँ उन्हें जनजाति की वनकन्या मिलती है जिसका सौन्दर्यात्मक चित्रण प्रेमचंद्र ने अपने उपन्यास में किया है। इसी प्रकार 'सद्गति' कहानी जनजाति के संदर्भ में प्रेमचंद्र के लेखन में आशा की किरण की तरह देखी जा सकती है। चिखुरी गौड़ इस कहानी में विद्रोही चेतना से युक्त एकमात्र पात्र है। वह दुखी को पंडित घासीराम के षोषण से बचाने का प्रयास करता है।[13]" जनजाति समस्याओं पर **रणेंद्र** और **संजीव** जैसे अच्छे लेखकों की रचनाओं के पात्रों की ऐसी डायरियों, जिनमें जनजाति समाज का दर्द छिपा है, जिसको यह उनकी निजी डायरी कहकर इसके बहाने संपूर्ण रचना को खारिज कर रहे हैं। संजीव–रणेंद्र के जनजाति इलाकों में काम करने वाले पात्र सुदीप्त और किशन आदि सभी 'दिकू' नहीं कहे जा सकते। इनकी डायरियाँ महज उनकी निजी डायरियाँ नहीं हैं। ये जनजाति विस्थापन और उसके खिलाफ संघर्ष के दस्तावेज हैं, क्योंकि न तो सरकारें इन्हें दर्ज करती हैं और न विस्थापित करने वाली कंपनियाँ, निरक्षर जनजाति तो दर्ज कर ही नहीं सकते। ऐसे में इन लेखकों की रचना और इनके पात्रों की डायरियों का महत्त्व बढ जाता हैं। इसलिए इन लेखकों के साहित्य को 'दिकू' साहित्य कहना जनजाति विमर्श का दुर्भाग्य ही कहा जाएगा। 'जनसत्ता' में प्रकाशित आलेख 'जनजाति विमर्श के रोड़े' के जरिये **केदार प्रसाद मीणा** जनजाति–विमर्श को 'सहानुभूति–समानुभूति' के उस विवादमें उलझने से बचने की सलाह देते हैं, जिसने जनजाति–विमर्श को साहित्य की राजनीतिमें ले जाकर उलझा दिया है।[14]" जनजातियों के द्वारा लिखी जा रही कविताओं में जिन प्रतीकों, बिम्बों और मिथकों का प्रयोग किया जा रहा है, वे मिथक उनके जीवन और उनकी संस्कृति से उठाए जा रहे हैं। इनमें मिथक उन

लोक–परंपराओं से उठाए गए हैं जिनका संबंध उनके समाज एवं संस्कृति के साथ जुड़ता है और इसीलिए वे प्रचलित मिथकों से बिल्कुल अलग हैं। उनके मिथक प्राचीनतम ग्रन्थों से संपृक्त रहते हैं और ये प्रकृति से गहरे स्तर पर सम्बद्ध होते हैं। इस तरह इनकी कविता में प्रसंग अनायास ही जुड़ते चले आते हैं। स्पष्ट है कि जनजाति कविता उस पृष्ठभूमि का निर्माण करती है जो जनजाति समाज और साहित्य के विविध पहलुओं को समझने में मददगार है। हिन्दी जगत पहले–पहल जनजाति समाज से रूबरू हुआ **रेणु** के आँचलिक उपन्यास 'मैलाआँचल' में, इसमें उपन्यास के पात्र द्वारा अपने जमीनी हक से बेदखल संथालों को अपने अस्तित्व और अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करते देखा। यहीं से उनका परिचय जनजातियों की जिजीविषा और जीवटता से भी हुआ है एवं उसने देखा कि प्रशासन की बेरुखी और जुल्म का शिकार होने के बावजूद लाउडस्पीकर एवं डिग्गे की आवाजबंद नहीं हो पाई। लेकिन, एक सच्चे हमदर्द की तरह पीड़ित संथालों के प्रति सहानुभूति के बावजूद यह संघर्ष परिणति तक नहीं पहुँच पाता, फलतः उनके जीवन में बदलावों को ला पाने में असमर्थ रहता है। रेणु की समाजवादी यथार्थवादी चेतना और उनका यथार्थवादी आग्रह उन्हें इस समस्या का काल्पनिक एवं आदर्शपरक समाधान देने से रोक देता है। ऐसा नहीं कि 'मैला आँचल' के बाद जनजाति जीवन को लेकर रचनाएँ नहीं आयीं, पर उनमें, विशेष कर बस्तर जैसे अंचलों को लेकर लिखी गयी रचनाओं में लेखक की दिलचस्पी स्वच्छंद प्रेम की प्रथा जैसे अतिरेकवादी तत्वों को लेकर कहीं ज्यादा थी। आगे चलकर महाश्वेता देवी के उपन्यास 'हजार चौरासी की माँ' एक सशक्त एवं प्रभावी हस्तक्षेप के साथ ने अपनी उपस्थिति दर्ज करवायी और नक्सलवाद को लेकर एक नए नजरिए से हिन्दी जगत को रूबरू करवाया। उन्होंने यह बताने की कोशिश की, कि नक्सली हिंसा ऐतिहासिक परिस्थितियों और एक लम्बे समय से चले आ रहे ऐतिहासिक अन्याय की उपज है। अपने परिवर्ती उपन्यासों में एवं **महाश्वेता देवी** ने अपने उपन्यासों में जनजातियों की विद्रोही चेतना को अभिव्यक्ति देते हुए हिन्दी के पाठकों को बिरसामुण्डा जैसे महानायक से परिचित करवाया। आठवें दशक में **वाल्टर भेंगरा** ने झारखण्ड अंचल और वहाँ के जीवन को केंद्र में रखते हुए 'सुबह की शाम' उपन्यास लिखा जो जनजातियों के द्वारा लिखा गया पहला हिन्दी उपन्यास है। पिछले दशक में उनके तीन उपन्यास–'तलाश', 'गैंग लीडर' और 'कच्ची कली' प्रकाशित हुए। लेकिन, पीटरपाल एक्का के उपन्यास 'जंगल के गीत' की सबसे अधिक चर्चा हुई जिसके माध्यम से एक्का ने बिरसामुण्डा के उलगुलान के संदेश को तुंबा टोली गाँव के युवक करमा और उसकी प्रिया करमी के माध्यम से पहुँचाने की कोशिश की। इससे पहले और उनका एक उपन्यास 'मौन घाटी' के नाम से प्रकाशित हो चुका है। झारखंड के इन जनजाति कथाकारो ं कीसमस्या यह है कि वे आधुनिक लेखन के सामयिक रूझानों और शिल्प–साँचों से अपरिचितप्रतीत होते हैं। लेकिन, मुख्यधारा इसकी कुछ हदतक भरपाई करती हुई आती है। इसदृष्टि से **रमणिका गुप्ता** 15 के उपन्यास 'सीता–मौसी' और **कैलाश चंद चौहान** के उपन्यास 'मँवर' के साथ–साथ **संजीव** एवं **रणेंद्र** के उपन्यास महत्त्वपूर्ण हैं। राजस्थान के बड़े आंदोलन से जुड़े होने के कारण **हरिराम मीना** के उपन्यास 'धूणी तपे तीर' को और अत्याधिक चर्चा मिली है। यह स्पष्ट है कि सदियों से आदिवासी समाज जाति भेद, जाति व्यवस्था, विदेशी आक्रमण, ब्रिटिश और वर्तमान में सभ्य समाज कहे जाने वाले दूर–दराज के जंगलों और पहाड़ों में धकेल दिया गया है, अज्ञानता और पिछड़ेपन के कारण उन्हें सताया गया है। अक्षरज्ञान न होने के कारण यह समाज सदियों से मुख्यधारा से कटा रहा, दूरी बनाता रहा। उनकी लोककला और उनका साहित्य सदियों से मौखिक रूप में रहा है और इसका कारण उनकी भाषा के अनुरूप लिपि का विकसित न हो पाना है। यही कारण साहित्य जगत में जनजाति रचनाकार और उनका साहित्य गैर–जनजाति साहित्य की तुलना में कम देखने को मिलता है। आज भले ही जनजातियों की रचनाओं में एक प्रकार की अनपढता एवं खुरदरापन दिखे और कलात्मक बारीकियों के आलोक में उनका मूल्यांकन पाठकों एवं आलोचकों को निराश करता हो, पर इसका महत्त्व इस बात से है कि जनजातियों की रचनाओं ने मुख्यधारा के द्वारा उपेक्षित एवं तिरस्कृत जनजाति समाज एवं उनके जीवन से व्यापक समाज को परिचित करवाने की कोशिश की है।

निष्कर्ष :– जनजाति समाज भी यही चाहता है कि साहित्यकार ज्यादा लिखें अच्छा लिखे ं जिससे समाज के मापदण्ड अपनाए जा सकें। यही कारण हैं कि जनजाति समाज अभी तक हाषिए पर बना हुआ हैं। वह समाज व साहित्य की मुख्य धारा में अपना स्थान भी पूर्णतः हासिल नहीं कर पाया है, जिसके लिए वह

प्रयासरत हैं। जनजाति साहित्यकार हर संभव यही प्रयास करता हैं कि ज्यादा से ज्यादा अपने समाज को राष्ट्रीय मुख्य धारा में लाने का प्रयास हो परन्तु पढ़े–लिखे जनजाति व अशिक्षित जनजाति समाज के लोग आपस में मेल–जोल भी नहीं रखना चाहते हैं इसी कारण उनकी भाषा एवं संस्कृति में भी अंतर स्पष्ट दिखाई देता हैं। दक्षिण जनजाति के लोग अलग सोचते हैं, तो उत्तर पूर्वी जनजाति के लोग अलग प्रकार से सोचते हैं, परंतु सभी जनजातीय वर्ग को एक–दूसरे को समझना चाहिए। सभी को साथ लेकर चलना और सबके विकास के लिए कदम उठाना भी जरूरी है नहीं तो जनजाति केवल नाम की ही बचेगीं। यदि कोई सरकार या व्यक्ति, साहित्यकार ऐसा कदम उठाता हैं तो वह स्वागत योग्य हैं जिससे जनजाति समाज का मनोबल न गिरे।

संदर्भ सूची–

1. भीष्म साहनी, की पुस्तक 'कसौटी' अंक–1,पृ.13 वर्ष 1973
2. टोप्पो महादेव, आलेख– आदिवासी साहित्य दशा, दिशा और चुनौतियाँ, अरावली उद्घोष सितम्बर– 2011
3. डॉ० दोषी,शम्भूलाल, समकालीन मानवशास्त्र,पृ.सं.–393 वर्ष–2009
4. डॉ० मीना श्रवण कुमार, साहित्य चितंन के विविध पक्ष,पृ 2011
5. मीणा, रमेषचन्द्र, आदिवासी समाज,दशा और दिशा,वर्ष–2010,पृ.सं.–7 ष, अंक–75, पृ.सं.–7 .सं.–94
6. टोप्पा महादेव, आलेख– आदिवासी साहित्य दशा, दिशा और चुनौतियाँ, अरावली उद्घोष, अंक–75, सितम्बर– 2011
7. डॉ० चौहान, अर्जुन, विमर्श के विविध आयाम, पृ.सं.–181 वर्ष–2008।
8. कथाक्रम–अक्टूबर से दिसम्बर,2011 पृ.सं.–230
9. कथाक्रम–अक्टूबर से दिसम्बर,2011 पृ.सं.–231
10. कथाक्रम–अक्टूबर से दिसम्बर,2011 पृ.सं.–232
11. कश्यप अभिषेक,जनजातियो ने चुप्पी तोड़ीं (रिपोर्ट),युद्धरत् आदमी, जुलाई–सितम्बर,2012,
12. मीना, हरिराम, माही मीना, ब्लॉगस्पॉट डॉट कॉम, की आदिवासी कविताएँ। कविता–'बिरसा मुण्डा की याद में'। वर्ष–2012
13. मीना गंगा सहाय, प्रेमचंद्र साहित्य में जनजाति वर्ष–2010
14. मीणा, केदार प्रासाद, आदिवासी विमर्श के रोडे. जनसत्ता 28 सितम्बर 2014
15. डॉ० गुप्ता रमणिका , आदिवासी स्वर और नई शताब्दी 2014

हरिशंकर परसाई के व्यंग्य साहित्य में कबीर की निर्गुण भक्ति और गांधीवादी अहिंसा का द्वंद्वात्मक विश्लेषण

श्रीमती सीमा सिंह*

सार :– यह शोध–पत्र हरिशंकर परसाई के व्यंग्य साहित्य को कबीर की निर्गुण भक्ति और गांधीवादी अहिंसा के वैचारिक संदर्भों में रखकर एक द्वंद्वात्मक पाठ प्रस्तुत करता है। तर्क यह है कि परसाई का व्यंग्य अंध–श्रद्धा, पाखंड, सत्ता–समर्थित हिंसा और प्रतीकवादी नैतिकता पर आक्रामक नैतिक आलोचना करता है, उसकी निषेधात्मक ऊर्जा कबीर की निर्गुण परंपरा से, और निर्माणात्मक नैतिक आग्रह गांधी के अहिंसात्मक सत्याग्रह से गहरे रूप में संवाद करती है। आलेख, वैचारिक तुलना और ऐतिहासिक–सामाजिक सन्निकटन के सहारे दिखाता है कि परसाई एक साथ कबीर के 'निरपेक्ष/निरुपाधिक' सत्य की ओर झुकते हैं। रिवाज़ों और संस्था–धर्म के विरुद्ध है। और गांधी के साधन–शुद्धि के आग्रह से सार्वजनिक नैतिकता की कसौटी गढ़ते हैं; पर वे दोनों परंपराओं की सम्भावित विडंबनाओं (अतिनैतिकतावाद, प्रतीकवाद, संतवाद) की तटस्थ आलोचना भी करते हैं। निष्कर्षतः परसाई का व्यंग्य लोक–तर्कवाद की एक भारतीय परियोजना रचता है जो कबीर–गांधी संवाद को समकालीन लोकतांत्रिक नागरिकता की ज़रूरतों, समानता, असहयोग, अहिंसक प्रतिरोध और सामाजिक न्याय से जोड़ता है।

कुंजी–शब्द :– हरिशंकर परसाई, निर्गुण भक्ति, कबीर, गांधी, अहिंसा, व्यंग्य, द्वंद्वात्मकता, लोक–तर्कवाद, सामाजिक न्याय।

1. प्रस्तावना :– हिंदी व्यंग्य में हरिशंकर परसाई की पहचान नैतिक विवेक और लोक–तर्क पर टिके लेखन से बनती है। वे हँसी के औज़ार से हिंसा, छल और पाखंड को बेनक़ाब करते हैं, चाहे वह धर्म–व्यवहार का हो, राजनीति का या बाजार का। दूसरी ओर, भारतीय विचार–परंपरा में कबीर निर्गुण भक्ति की निषेधात्मक चेतना के प्रतिनिधि हैं। मूर्त, कर्मकांड और संस्था–धर्म के अनुभवजन्य सत्य और भीतर की नैतिकता पर ज़ोर देते हैं। वहीं गांधी अहिंसा, सत्य, सत्याग्रह के माध्यम से राजनीतिक–नैतिक कार्रवाई की रचनात्मक पद्धति देते हैं। यह आलेख पूछता हैः परसाई के व्यंग्य में कबीर की 'निंदक नियरे राखिये' वाली विचारधारा है। हिंदी व्यंग्य में हरिशंकर परसाई की पहचान नैतिक विवेक और लोक–तर्क पर टिके लेखन से निर्मित होती है, जहाँ हँसी केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि समाज में पसर चुकी हिंसा, छल और पाखंड के उन्मोचन का उपकरण बनती है। यह हिंसा, धर्म, व्यवहार की अंधश्रद्धा में हो, राजनीति के प्रतीकवाद में या बाजार की लालसाओं में; परसाई इन सभी पर प्रहार करते हुए पाठक के भीतर आत्मालोचन की आग सुलगाते हैं (परसाई, 1974; परसाई, 1983)। भारतीय विचार–परंपरा में कबीर निर्गुण भक्ति की उस निषेधात्मक चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं जो मूर्ति, कर्मकांड और संस्था–धर्म के बाहर अनुभवजन्य सत्य और भीतर की नैतिकता को प्रधानता देती है। उनकी साखियों का "निंदक नियरे राखिए" वाला आग्रह वस्तुतः नैतिक शुद्धि और बौद्धिक सजगता का अभ्यर्थन है, जिसे परसाई आधुनिक जनजीवन के प्रसंगों में रूपांतरित करते हैं ताकि श्रद्धा विवेक को निगल न जाए और सामाजिक न्याय का प्रश्न केंद्र में बना रहे (कबीर, सं. द्विवेदी, 1958; द्विवेदी, 1943; नामवर सिंह, 2010)।

इसी क्रम में गांधी का अहिंसा, सत्य, सत्याग्रह का अनुशासन परसाई के लिए कसौटी का काम करता है। गांधी का स्पष्ट आग्रह है कि केवल लक्ष्य नहीं, साधन भी शुद्ध होने चाहिए; परसाई इसी कसौटी पर राजनीति के खोखले नैतिक घोषणापत्रों, सांप्रदायिक उकसावों और विकास के नाम पर संरचनात्मक अन्याय को परखते हैं और दिखाते हैं कि भाषा, प्रशासन, अर्थव्यवस्था और पहचान की परतों में घुली सूक्ष्म हिंसा को अहिंसा का नामोच्चार ढँक नहीं सकता (गांधी, 1909; गांधी, 1941; रामविलास शर्मा, 1977)। परिणामतः यह आलेख पूछता है कि परसाई के व्यंग्य में कबीर की निंदक–परंपरा और गांधी की साधन–शुद्धि कैसे मिलती हैं, कहाँ टकराती हैं और किस प्रकार आगे बढ़कर एक लोक–तर्कवादी नैतिकता का रूप लेती हैं। ऐसी नैतिकता जो

* **(शोधार्थी) अध्यापिका–हिंदी विभाग, सेंट जोसफ स्कूल, सेक्टर –अल्फा १, ग्रेटर नोएडा (उत्तर प्रदेश)**

श्रद्धा को विवेक से बाँधती है, नीति को साधनों की पारदर्शिता से जोड़ती है, और नागरिक समुदाय को हँसी के माध्यम से जवाबदेही की सार्वजनिक संस्कृति का अभ्यास कराती है (ओझा, 2002; रघुवीर सहाय, 1985; नामवर सिंह, 2010)। आलोचनात्मक साधना और गांधी की 'साधन–शुद्धि' वाली नैतिक राजनीति किस तरह मिलती, टकराती और विकसित होती है?

2.साहित्य–समीक्षा :– परसाई पर उपलब्ध आलोचना को समेटते हुए तीन बड़ी दिशाएँ उभरती हैं, पहली, वह परत जहाँ व्यंग्य सामाजिक, राजनीतिक पाखंड, सांप्रदायिक उकसावों और विकासवादी भाषणों के भीतर छिपी हिंसा को उजागर करता है; इस धारा में परसाई की हँसी को सार्वजनिक नैतिकता के औज़ार के रूप में समझा गया है, जिसे कई आलोचकों ने "जवाबदेही की हँसी" कहा है (नेमिचन्द्र जैन, 1992; विश्वनाथ त्रिपाठी, 2011; सुधीश पचौरी, 2001)। दूसरी दिशा भाषा–शैली की है, जहाँ परसाई के लोक–मुहावरे, छोटे वाक्य, प्रत्यक्ष दृश्यांकन और सूक्तिपरक निष्कर्ष को हिंदी गद्य की प्रभावी परंपरा से जोड़ा गया है। यहाँ व्यंग्य की कथाभाषा को नगर, ग्राम, मंच–पत्रिका और पाठक–समुदाय के बीच सेतु के रूप में पढ़ा गया है (काशीनाथ सिंह, 1998; अशोक वाजपेयी, 2005; विजय बहादुर सिंह, 2003)। तीसरी दिशा व्यंग्य के नैतिक शिक्षात्मक पक्ष की है, जिसमें परसाई के लेखन को "नैतिक विवेक का जनपठ" मानते हुए यह दिखाया गया है कि हास्य किसी उपदेश का विकल्प नहीं, बल्कि नागरिक चेतना का अभ्यास है। यानी हँसाते हुए कठोर सच का सामना कराना (गिरिराज किशोर, 1994; शिवकुमार मिश्र, 1999; प्रभात त्रिपाठी, 2014)। इसी पृष्ठभूमि में कबीर पर किए गए अध्ययनों ने निर्गुण, अनुभव केंद्रित भक्ति, कर्मकांड का विरोध और "निंदक के सन्निध्य" को आत्म–शुद्धि और सामाजिक विवेक का साधन माना है; कबीर की वाणी के नकार–विधान को आधुनिक तर्क संस्कृति के भीतर रखकर पढ़ने का प्रयास भी हुआ है (पुरुषोत्तम अग्रवाल, 2009; रमेशचन्द्र शुक्ल, 2012; दिनेश कुमार शर्मा, 2015)।

उधर गांधी–विषयक आलोचना में अहिंसा को साधन, उद्देश्य, सत्याग्रह और रचनात्मक कार्यक्रम, स्वावलंबन, संयम, ग्राम और लोकतंत्र के रूप में एक संगत नैतिक राजनीतिक पद्धति की तरह व्याख्यायित किया गया है; कई अध्ययनों ने भाषा, श्रम, अर्थनीति और समुदाय को न्याय के स्तर पर गांधी के आग्रह को व्यावहारिक नैतिकता की पाठशाला माना है (राधाकृष्णन, 1988; अशोक कुमार मिश्र, 2007; अंजलि वर्मा, 2016)। विद्यमान साहित्य में परसाई–कबीर तथा परसाई–गांधी की आंशिक तुलनाएँ अवश्य मिलती हैं– कहीं परसाई के कर्मकांड भंजन को कबीर की निषेध–चेतना से जोड़ा गया है, तो कहीं साधन शुद्धि की कसौटी पर परसाई के व्यंग्य नैतिक आग्रह को गांधी–परंपरा का समकालीन विस्तार बताया गया है (मंगलेश डबराल, 2006; धर्मवीर भारती, 1960; रवीन्द्र मिश्र, 2018)। फिर भी एक त्रिकोणीय द्वंद्वात्मक अध्ययन जो परसाई की व्यंग्य नैतिकता को, कबीर की निषेधात्मक साधना और गांधी की रचनात्मक अहिंसा के एकीकृत संवाद में रखकर उनकी मिलन, टकराहट और उत्क्रम की पूरी गति चित्रित करे, अब भी विरल है। यही वह शोध अंतर है जिसे यह आलेख भरने का प्रयत्न करता है, ताकि व्यंग्य को लोक–तर्क, भक्ति–नैतिकता और अहिंसक राजनीति के संगम बिंदु पर समझा जा सके (सुशील कुमार, 2019; अर्पिता चतुर्वेदी, 2020; आलोक रंजन, 2021)।

3. उद्देश्य :– यह अध्ययन हरिशंकर परसाई के व्यंग्य–साहित्य को कबीर की निर्गुण भक्ति और गांधी की अहिंसा के आलोक में रखकर उसकी नैतिक–दृष्टि, भाषिक–रणनीतियों और सार्वजनिक अर्थ को समेकित रूप में समझने का प्रयास है, ताकि व्यंग्य को लोक–तर्क, भक्ति–नैतिकता और अहिंसक राजनीति के संगम पर एक सुसंगत ढाँचे में व्याख्यायित किया जा सके।

- परसाई के व्यंग्य में कर्मकांड–भंजन, सत्ता–समालोचना और लोक–तर्क की कार्य–विधि का विश्लेषण करना।
- कबीर की निषेधात्मक साधना और परसाई की आलोचनात्मक ऊर्जा के अंतर्संबंधों की पहचान करना।
- गांधी की साधन–शुद्धि, सत्याग्रह और सामाजिक न्याय–चेतना को परसाई की नैतिक राजनीति से जोड़कर देखना।
- तीनों परंपराओं के द्वंद्व, संगति और संश्लेष का मॉडल प्रस्तावित कर समकालीन नागरिकता हेतु निहितार्थ रेखांकित करना।

4. सैद्धांतिक ढाँचा :– यह शोध द्वंद्वात्मक, व्याख्यात्मक और नैतिक–राजनीतिक तीनों विधियों पर आधारित है। द्वंद्वात्मक विधि के अंतर्गत विरोधी ध्रुवों, निर्गुण और कर्मकांड, अहिंसा और हिंसा, भक्ति और नागरिकता की

परस्पर क्रिया के माध्यम से अर्थ–निर्माण किया गया है, ताकि विचारों के भीतर छिपे संघर्ष और संश्लेष को समझा जा सके। व्याख्यात्मक पद्धति के तहत परसाई के व्यंग्य–पाठों में स्वर, विडंबना, तंज, और नैतिक कथन–स्थिति का सूक्ष्म अर्थ–वाचन किया गया है। वहीं नैतिक–राजनीतिक सिद्धांत की दृष्टि से गांधी की "साधन की शुद्धि" की धारणा, कबीर की "निंदक–केन्द्रित साधना" तथा मैक्स वेबर के "आस्था और उत्तरदायित्व के नैतिक द्वंद्व" को संकेतात्मक रूप से उपयोग में लाकर परसाई की व्यंग्यात्मक नैतिकता की संरचना को स्पष्ट किया गया है।

5. पद्धति :– यह अध्ययन गुणात्मक, पाठ–आधारित है। प्राथमिक कॉर्पस में परसाई के प्रतिनिधि व्यंग्य–निबंधों का चयन (विभिन्न संकलनों से), साथ में कबीर (बीजक/पद्यावली) और गांधी (हिंद स्वराज, प्रार्थना–भाषण, रचनात्मक कार्यक्रम) के प्रासंगिक पाठ। तकनीकें: क्लोज–रीडिंग, थीमैटिक–कोडिंग (धर्म/कर्मकांड, हिंसा/अहिंसा, सत्ता/नागरिक), अलंकार–विधान और नैतिक कथन–स्थिति का विश्लेषण।

6. विश्लेषण

6.1 निर्गुण कबीर और परसाई की "निंदक परंपरा" :– कबीर की निर्गुण भक्ति का मूल केंद्र अनुभव और आत्म–साक्षात्कार है। उन्होंने मूर्तिपूजा, कर्मकांड और पाखंड का तीखा विरोध किया। उनका कहना था कि "मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ" यानी सच्चा ज्ञान किताबों या ग्रंथों से नहीं, बल्कि भीतर के अनुभव से आता है (कबीर, 15वीं सदी; द्विवेदी, 1958)। कबीर के अनुसार 'निंदक' वह है जो मनुष्य को उसकी त्रुटियों का आईना दिखाता है। इसलिए उन्होंने कहा कि "निंदक नियरे राखिए"। उनके अनुसार– आलोचना ही आत्मशुद्धि का साधन है (अग्रवाल, 2009)। हरिशंकर परसाई इस कबीर–परंपरा को आधुनिक समाज में पुनर्जीवित करते हैं। वे धर्म के नाम पर चल रहे व्यापार, चमत्कार और पाखंड पर व्यंग्य करते हैं। उनकी रचनाएँ दिखाती हैं कि किस प्रकार "भक्ति" के नाम पर विवेक और प्रश्न करने की शक्ति को कुचला जा रहा है (परसाई, 1974; मिश्र, 2005)। वे अपने लेख 'विकलांग श्रद्धा का दौर' में लिखते हैं कि जब श्रद्धा तर्कहीन हो जाती है, तब वह समाज को अंधेपन की ओर ले जाती है। परसाई की हँसी केवल हँसाने के लिए नहीं है– वह सत्य के अनावरण का औज़ार है। इस प्रकार परसाई कबीर के साथ खड़े दिखाई देते हैंकृदोनों मानते हैं कि सत्य संस्था या परंपरा से नहीं, बल्कि व्यक्ति के अनुभव और विवेक से प्राप्त होता है। उनकी दृष्टि में "निंदक" समाज का आवश्यक अंग है, जो लोक के भीतर सुधार की चेतना जगाता है (त्रिपाठी, 2011)। इसलिए परसाई की व्यंग्य–परंपरा को "लोकतांत्रिक आत्म–समीक्षा की परंपरा" कहा जा सकता है, जो कबीर के निषेधात्मक भाव से प्रेरित होकर आधुनिक सामाजिक विवेक को जगाती है।

सारणी 1: कबीर और परसाई की "निंदक परंपरा" का तुलनात्मक रूप

पहलू	कबीर की दृष्टि	परसाई की दृष्टि
सत्य का आधार	अनुभवजन्य आत्मबोध	सामाजिक विवेक और नैतिक चेतना
निंदक का अर्थ	आत्मशुद्धि का साधन	लोक–जवाबदेही का प्रतीक
विरोध का स्वर	मूर्तिपूजा, कर्मकांड का निषेध	धर्म–बाज़ार और राजनीतिक पाखंड का व्यंग्य
लक्ष्य	व्यक्ति की मुक्ति और विवेक	समाज की नैतिक सुधार और तर्क जागरूकता

निष्कर्षत:, कबीर और परसाई दोनों का लक्ष्य एक ही है कि मनुष्य को विवेकशील बनाना। कबीर ने भक्ति में सत्य और आत्मानुभव को जोड़ा, वहीं परसाई ने आधुनिक समाज में हँसी के माध्यम से उसी सत्य को सार्वजनिक तर्क में रूपांतरित किया। उनकी "निंदक परंपरा" भारतीय विचार–परंपरा की सबसे जीवंत और लोकतांत्रिक कड़ी है।

6.2 गांधी की अहिंसा और परसाई का नैतिक आग्रह :– गांधी की अहिंसा केवल हिंसा से दूर रहने का विचार नहीं थी, बल्कि यह एक नैतिक जीवन–पद्धति थी जो सत्य, आत्मसंयम और करुणा पर आधारित थी (गांधी, 1909; नंदा, 1995)। उनका मानना था कि साधन की शुद्धि के बिना कोई भी लक्ष्य नैतिक नहीं हो सकता। उन्होंने सत्याग्रह, असहयोग और रचनात्मक कार्यक्रमों के माध्यम से यह सिद्ध किया कि राजनीति में नैतिकता का स्थान केवल विचार नहीं, बल्कि व्यवहार होना चाहिए।

हरिशंकर परसाई इसी कसौटी से आधुनिक राजनीति और समाज को परखते हैं। वे अपने व्यंग्यों में दिखाते हैं कि आज के समय में "अहिंसा" का जिक्र तो बार–बार होता है, लेकिन भाषा, धर्म, और संस्कृति के स्तर पर हिंसा लगातार बढ़ रही है (परसाई, 1983; त्रिपाठी, 2011)। उनके लेख 'भूत के पांव पीछे' और 'विकलांग श्रद्धा का दौर' इस बात को उजागर करते हैं कि कैसे झूठी राष्ट्र–भक्ति, धार्मिक उन्माद और आर्थिक असमानता समाज में संरचनात्मक हिंसा को जन्म देती है (मिश्र, 2005)। परसाई के पात्र अक्सर "नैतिक भाषण" देते हैं, पर उनके कर्म उस नैतिकता से बहुत दूर रहते हैंकृयह वही साधन–शुद्धि से कतराना है, जिसे गांधी ने सबसे बड़ा नैतिक दोष कहा था। परसाई और गांधी दोनों के विचारों में यह समानता स्पष्ट दिखती है कि नैतिकता घोषणापत्र नहीं, बल्कि अभ्यास है, और अहिंसा केवल संयम नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय की निरंतर प्रक्रिया है। दोनों ही व्यक्ति और समाज के स्तर पर आत्मालोचन और जवाबदेही की आवश्यकता पर बल देते हैं।

सारणी 2: गांधी और परसाई की अहिंसा एवं नैतिकता का तुलनात्मक दृष्टिकोण

पहलू	गांधी की दृष्टि	परसाई की दृष्टि
अहिंसा का अर्थ	सत्य, आत्मसंयम और करुणा पर आधारित जीवन	समाज में नैतिक जागरूकता और तर्कशीलता
साधन की शुद्धि	साधन और उद्देश्य दोनों समान रूप से नैतिक हों	राजनीति और समाज में आचरण की पारदर्शिता
हिंसा का रूप	शारीरिक और मानसिक हिंसा का विरोध	सांस्कृतिक और भाषायी हिंसा का विरोध
लक्ष्य	आत्मशुद्धि और रचनात्मक समाज	सामाजिक न्याय और विवेकपूर्ण नागरिकता

संक्षेप में, परसाई की व्यंग्य–दृष्टि गांधी की अहिंसा की नैतिक परंपरा का आधुनिक पुनर्पाठ है। उन्होंने यह दिखाया कि अगर समाज में साधन गंदे हैं, तो लक्ष्य चाहे कितना भी बड़ा क्यों न हो, वह टिक नहीं सकता। उनकी हँसी में गांधी की तरह ही नैतिक आग्रह और आत्मसंयम की चेतावनी दोनों मौजूद हैं।

6.3 कबीर–गांधी का द्वंद्वः परसाई की तीसरी दृष्टि :– कबीर और गांधी दोनों ही भारतीय विचार परंपरा के ऐसे प्रतीक हैं जिन्होंने सत्य और नैतिकता को जीवन का सर्वोच्च मूल्य माना। किंतु दोनों के दृष्टिकोण में अंतर भी है। कबीर ने समाज की असमानता, कर्मकांड और आडंबर के विरुद्ध खड़े होकर "नकार" की परंपरा बनाई। उन्होंने कहा "पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय", अर्थात ज्ञान ग्रंथों में नहीं, अनुभव में है (कबीर, 15वीं सदी; द्विवेदी, 1958)। वहीं गांधी ने अहिंसा और सत्य के माध्यम से समाज में परिवर्तन का मार्ग खोजा, पर उनका झुकाव "रचनात्मक कर्म" की ओर था। वे व्यक्ति से आत्मसंयम और समाज से सह–अस्तित्व की अपेक्षा करते थे (गांधी, 1941; राधाकृष्णन, 1988)। परसाई इन दोनों विचारधाराओं को न केवल पढ़ते हैं, बल्कि उनके द्वंद्व से एक नई दृष्टि विकसित करते हैं। उनके अनुसार, कबीर का "नकार" अगर केवल आत्मिक साधना में सीमित रह जाए, तो वह समाज की व्यावहारिक समस्याओं से कट सकता है; वहीं गांधी की "अहिंसा" यदि केवल नैतिक प्रतीकवाद बन जाए, तो वह सत्ता और अन्याय के प्रति उदासीन हो सकती है (परसाई, 1983; मिश्र, 2014)। इसलिए परसाई दोनों की सीमाओं को पहचानते हुए एक तीसरी दृष्टि प्रस्तुत करते हैं। जहाँ नकार केवल निषेध नहीं, बल्कि सामाजिक जागरण का साधन बनता है, और अहिंसा केवल संयम नहीं, बल्कि न्याय और विवेक की सक्रिय चेतना बन जाती है। परसाई का व्यंग्य इस तीसरी दृष्टि का सबसे सशक्त रूप है। वह कबीर की भाँति निंदक की आवश्यकता को स्वीकार करता है, पर गांधी की तरह उस आलोचना को सकारात्मक नैतिक क्रिया में बदलना चाहता है। वे कहते हैं कि "व्यंग्य में हँसी नहीं, आँसू छिपे हैं"। यह कथन इस बात का प्रतीक है कि परसाई की हँसी में कबीर की कड़वी सच्चाई और गांधी की करुणा दोनों एक साथ उपस्थित हैं (त्रिपाठी, 2011; अग्रवाल, 2009)।

सारणी 3 : कबीर, गांधी और परसाई की दृष्टियों का तुलनात्मक द्वंद्व

पहलू	कबीर की दृष्टि	गांधी की दृष्टि	परसाई की तीसरी दृष्टि
मूल मूल्य	सत्य और आत्मज्ञान	सत्य और अहिंसा	विवेक और सामाजिक न्याय

दृष्टिकोण	नकार और आत्मशुद्धि	संयम और रचनात्मक कर्म	आलोचना और लोक–जवाबदेही
लक्ष्य	व्यक्ति की मुक्ति	समाज की शांति	नागरिक विवेक और सुधार
सीमाएँ	सामाजिक क्रिया से दूरी	प्रतीकवाद का खतरा	द्वंद्व के बीच संतुलित नैतिकता

संक्षेप में, परसाई की यह "तीसरी दृष्टि" कबीर के नकार और गांधी की रचनात्मकता का संश्लेष है। यह दृष्टि आधुनिक समाज को यह सिखाती है कि बिना प्रश्न किए भक्ति अंधत्व है और बिना नैतिकता के राजनीति हिंसा है। परसाई इन दोनों के बीच हँसी, विवेक और उत्तरदायित्व के पुल बनाते हैं– यही उनकी व्यंग्य–दृष्टि की मूल शक्ति है।

6.4 भाषा, अलंकार और 'लोक–तर्क' की शैली

हरिशंकर परसाई की भाषा आमजन की बोली से जुड़ी, सधी हुई और सीधी है। वे कठिन शब्दों या अलंकारों के स्थान पर जनभाषा की सरलता और व्यंग्य की तीक्ष्णता से प्रभाव पैदा करते हैं (शर्मा, 2015)। उनकी शैली में कबीर की साखियों की चुभन और गांधी के संवाद की सादगी दोनों झलकती हैं। वाक्य छोटे, संवादात्मक और दृश्यात्मक हैं, जिससे पाठक को कथा की स्थिति सामने दिखाई देती है (तिवारी, 2018)। परसाई का व्यंग्य विडंबना, उलटबांसी, और सूक्तिपरक वाक्य–विन्यास से अपने विचार को प्रभावी बनाता है (कुमार, 2020)। वे अपनी रचनाओं में लोक–प्रचलित कहावतों और मुहावरों का प्रयोग इस प्रकार करते हैं कि हास्य के साथ गहरी सामाजिक चेतना भी निर्मित होती है। उनका 'लोक–तर्क' जनता की समझ, अनुभव और विवेक पर आधारित है– जिसमें नारा नहीं, बल्कि सवाल करने की क्षमता जीवित रहती है (मिश्रा, 2017)।

सारणी 4: परसाई की भाषा और शैली के प्रमुख तत्व

पहलू	परसाई की विशेषता	संदर्भ
भाषा	सरल, बोलचाल की, जनभाषा से जुड़ी	(शर्मा, 2015)
वाक्य–विन्यास	छोटे, सटीक और संवादात्मक	(तिवारी, 2018)
अलंकार	विडंबना, उलटबांसी और सूक्ति	(कुमार, 2020)
उद्देश्य	लोक–तर्क और सामाजिक विवेक को जागृत करना	(मिश्रा, 2017)

संक्षेप में, परसाई की भाषा में हँसी और विवेक का संतुलन है। वे शब्दों को हथियार नहीं, बल्कि दर्पण की तरह इस्तेमाल करते हैं, जिसमें समाज अपनी सच्चाई, पाखंड और संभावनाएँ, तीनों एक साथ देख सकता है।

7. चर्चा: समकालीन निहितार्थ :– आज के मीडिया–वर्चस्वी समय में प्रतीकों की राजनीति तेज़ है। वे धर्म, राष्ट्र, सुरक्षा, विकास सबके ब्रांड–अवतार हैं। परसाई का व्यंग्य बताता है कि भक्ति–ब्रांडिंग और अहिंसा–ब्रांडिंग दोनों वाणिज्य/सत्ता से कलुषित हो सकती हैं; इसलिए ज़रूरी है कबीर–सरीखा नकार और गांधी–सरीखा साधन–शुद्धि दोनों को लोकतांत्रिक जवाबदेही में उतारना। यही सार्वजनिक नैतिकता का आधार हो सकता है। जहाँ हँसी उपेक्षा नहीं, नैतिक काम है; और अहिंसा दुबली–पतली रीति नहीं, संरचनात्मक न्याय की रणनीति है। आज के समय में जब समाज धर्म, राजनीति और बाजार की शक्तियों से प्रभावित होकर बार–बार भ्रम और विभाजन की स्थिति में पहुँच जाता है, तब हरिशंकर परसाई की व्यंग्य–दृष्टि पहले से कहीं अधिक प्रासंगिक हो जाती है। उनके लेख आज भी यह सिखाते हैं कि अंध–श्रद्धा, झूठी नैतिकता और प्रतीकात्मक अहिंसा से समाज की मुक्ति केवल तर्क और आत्मालोचन से ही संभव है (तिवारी, 2018)। कबीर की तरह वे कहते हैं कि सच्चा धर्म विवेक में है, और गांधी की तरह यह बताते हैं कि अहिंसा का अर्थ केवल हिंसा से दूर रहना नहीं, बल्कि न्याय और समानता की स्थापना है (कुमार, 2020)। वर्तमान समय के राजनीतिक और धार्मिक परिदृश्य में, जहाँ भाषायी हिंसा और सामाजिक असहिष्णुता बढ़ रही है, परसाई की हँसी हमें सोचने पर मजबूर करती है कि लोकतंत्र केवल अधिकार नहीं, बल्कि आत्म–नियंत्रण और नैतिक जिम्मेदारी का भी अभ्यास है। इस प्रकार, परसाई का व्यंग्य आज के युग के लिए एक नैतिक दर्पण है, जो हमें सत्य, तर्क और करुणा के मार्ग पर लौटने की प्रेरणा देता है।

8. निष्कर्ष :– इस शोध से यह स्पष्ट होता है कि हरिशंकर परसाई का व्यंग्य केवल हास्य का माध्यम नहीं, बल्कि एक नैतिक और वैचारिक हस्तक्षेप है। उन्होंने कबीर की निर्गुण भक्ति की नकारात्मक चेतना और गांधी की अहिंसात्मक नीति को आधुनिक समाज की परिस्थितियों में पुनर्परिभाषित किया। परसाई की रचनाएँ यह दर्शाती हैं कि सच्ची भक्ति विवेक और प्रश्न करने की क्षमता में है, और सच्ची अहिंसा सामाजिक न्याय व समानता की दिशा में सक्रियता है (शर्मा, 2015; तिवारी, 2018)। उन्होंने अपने व्यंग्य के माध्यम से यह सिखाया कि समाज का सुधार हँसी, तर्क और आत्मालोचन के बिना संभव नहीं। परसाई की दृष्टि आज भी प्रासंगिक है, क्योंकि उन्होंने हमें यह याद दिलाया कि साहित्य का उद्देश्य केवल मनोरंजन नहीं, बल्कि विवेक और मानवता की रक्षा भी है।

9. सीमाएँ और भावी अनुसंधान :– इस शोध की सबसे बड़ी सीमा यह है कि यह मुख्य रूप से गुणात्मक विश्लेषण पर आधारित है और केवल चयनित रचनाओं को अध्ययन के लिए लिया गया है (शर्मा, 2015)। परसाई, कबीर और गांधी के सम्पूर्ण साहित्य का व्यापक तुलनात्मक अध्ययन इसमें संभव नहीं हो पाया। भविष्य के शोध में परसाई के व्यंग्य को अन्य भारतीय और विश्व साहित्य के व्यंग्यकारों जैसे शरद जोशी या जॉर्ज ऑरवेल की रचनाओं से जोड़कर देखा जा सकता है (तिवारी, 2018)। इसके अलावा, डिजिटल युग में व्यंग्य की नई विधाओं, सोशल मीडिया, कार्टून, या व्यंग्यात्मक पत्रकारिता में परसाई की परंपरा के प्रभाव का अध्ययन भी उपयोगी होगा (कुमार, 2020)। इस प्रकार भविष्य के शोध से यह समझने में और गहराई आ सकती है कि परसाई की नैतिक दृष्टि कैसे समय और माध्यम बदलने के बावजूद आज भी विवेक, न्याय और मानवता की प्रासंगिक आवाज़ बनी हुई है।

संदर्भ–सूची :–

1. अग्रवाल, पुरुषोत्तम. (2009). कबीरः कविता और संस्कृति. नई दिल्लीः राजकमल प्रकाशन।
2. अशोक कुमार मिश्र. (2007). गांधी और आधुनिकता का प्रश्न. वाराणसीः भारती प्रकाशन।
3. आलोक रंजन. (2021). परसाई के व्यंग्य में समाज और राजनीति का चित्रण. लखनऊः भारतीय साहित्य भवन।
4. अर्पिता चतुर्वेदी. (2020). कबीर और परसाईः लोक चेतना का तुलनात्मक अध्ययन. इलाहाबाद विश्वविद्यालय शोध प्रबंध।
5. ओझा, रामजी. (2002). हिंदी व्यंग्य का सामाजिक यथार्थ. नई दिल्लीः वाणी प्रकाशन।
6. गिरिराज किशोर. (1994). व्यंग्य की परंपरा और परसाई का योगदान. लखनऊः हिंदी साहित्य परिषद।
7. गांधी, मोहनदास करमचंद. (1909). हिंद स्वराज. अहमदाबादः नवजीवन प्रकाशन।
8. गांधी, मोहनदास करमचंद. (1941). रचनात्मक कार्यक्रम. अहमदाबादः नवजीवन प्रकाशन।
9. द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (1958). कबीर. नई दिल्लीः राजकमल प्रकाशन।
10. धर्मवीर भारती. (1960). साहित्य और समाज. नई दिल्लीः राजकमल प्रकाशन
11. नामवर सिंह. (2010). कहानी नई कहानी. नई दिल्लीः राजकमल प्रकाशन।
12. नंदा, बी. आर. (1995). गांधीजी की जीवनी. नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
13. परसाई, हरिशंकर. (1974). भूत के पांव पीछे. नई दिल्लीः वाणी प्रकाशन।
14. परसाई, हरिशंकर. (1983). विकलांग श्रद्धा का दौर. नई दिल्लीः राजकमल प्रकाशन।
15. पुरुषोत्तम शर्मा. (2015). हरिशंकर परसाई का व्यंग्य–दर्शन. भोपालः मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी।
16. प्रभात त्रिपाठी. (2014). परसाई की हँसी और समाज का विवेक. प्रयागराजः साहित्य भवन।
17. मिश्र, राजीव. (2005). आधुनिक हिंदी व्यंग्य की नैतिक परंपरा. वाराणसीः विश्वभारती प्रकाशन।
18. मिश्र, अनीता. (2014). गांधीवादी मूल्यों की समकालीन प्रासंगिकता. नई दिल्लीः एटलस पब्लिशिंग।
19. मंगलेश डबराल. (2006). व्यंग्य, समाज और प्रतिरोध की भाषा. दिल्लीः संवाद प्रकाशन।
20. विश्वनाथ त्रिपाठी. (2011). व्यंग्य और लोक–नैतिकता. दिल्लीः राजकमल प्रकाशन।
21. वाजपेयी, अशोक. (2005). हँसी की राजनीति. दिल्लीः भारतीय ज्ञानपीठ।
22. शर्मा, रामनरेश. (2008). गांधी और आज का भारत. इलाहाबादः भारतीय विद्या भवन।
23. सिंह, विजय बहादुर. (2003). व्यंग्य साहित्य की नई दिशाएँ. भोपालः मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी।
24. तिवारी, सत्येन्द्र. (2018). हरिशंकर परसाईः समाज, व्यंग्य और नैतिकता. लखनऊः हिंदी बुक डिपो।
25. त्रिपाठी, दिनेश. (2011). लोकतंत्र में व्यंग्य की भूमिका. वाराणसीः साहित्य निकेतन।
26. कुमार, अजय. (2020). परसाई की भाषा और लोक चेतना. जयपुरः संस्कृति प्रकाशन।
27. राधाकृष्णन, एस. (1988). भारतीय नैतिक चिंतन और गांधी का दर्शन. चेन्नईः विश्वभारती।
28. सुशील कुमार. (2019). व्यंग्य और भारतीय जनतंत्र. नई दिल्लीः हिंदी साहित्य परिषद।

लिंग-भेद पर आधारित हिंदी मुहावरे और लोकोक्तियों का विश्लेषण तथा कक्षा शिक्षण में जेंडर-संवेदनशील वातावरण का निर्माण

डॉ. अंदलीब*

सार :– सामाजिक ढांचे में जेंडरजनित भेद व्याप्त है। जेंडर से उपजे सामाजिक विभेद को बढ़ावा देने में भाषा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। भाषा इस सामाजिक विभेद को बढ़ावा देने की ताक़त रखती है और उसे समाप्त करने की भी। प्रस्तुत आलेख हिंदीभाषी समाज में प्रचलित एवं लिंगभेद को बढ़ाने वाली लोकोक्तियों और मुहावरों की पहचान करता है। इसमें साथ ही यह भी चर्चा की गई है कि लिंग भेद पर आधारित ये लोकोक्तियाँ और मुहावरे सामाज को कैसे प्रभावित करते हैं और किस प्रकार समाज के एक वर्ग के हाशियाकरण में भूमिका निभाते हैं। हम जानते हैं कि सामाजिक समावेशन को प्रोत्साहित करने के लिए हमें समाज में जेंडर–संवेदनशीलता और समानुभूति को बढ़ावा देना होगा। कक्षा में लैंगिक समानता को प्रोत्साहित करने के लिए जेंडर–संवेदनशीलता की भूमिका पर भी चर्चा की गई है। अंत में इस बिंदु पर विचार किया गया है कि सामाजिक संवेदनशीलता बढ़ाने के लिए लिंग–भेद पर आधारित हिंदी मुहावरे और लोकोक्तियों का शिक्षण कैसे किया जाए। इसके लिए उपयुक्त शिक्षण रणनीतियाँ एवं उनके प्रयोग पर चर्चा की गई है।

मुख्य शब्दावली :– लिंग–भेद, मुहावरे और लोकोक्तियाँ, हिंदी शिक्षण, जेंडर संवेदनशीलता।

परिचय :– 'गागर में सागर' भरने वाली ये लोकोक्तियाँ और मुहावरे हमारे लोकाचार, रीति, नीति और पूर्वजों के अनुभव के परिचायक होते हैं। ये हमारे समाज की वास्तविकता का दर्पण भी होते है। हालाँकि इसका उल्लेख करना कठिन होगा कि इनकी निर्मिति कब हुई। ये चिरकाल से भाषिक प्रयोग में चली आ रही कहावतें हैं जो हमारे पूर्वजों के अनुभवों को चरितार्थ करती हैं। परंतु विमर्श का विषय यह है कि आज के समय में ये मुहावरे या लोकोक्तियाँ कितनी खरी उतरती हैं और कहीं अचेतन स्तर पर वे हमारे सामाजिक ढ़ांचे के लिए घातक तो नहीं हैं? इनमें से कुछ तो वर्ग, जाति, लिंग, क्षेत्रीय या भाषाई आधार पर समाज में असमानता को बढ़ावा देती हैं। इस आलेख में लिंग के आधार पर स्त्री और पुरुष के मध्य असमानता बढ़ाने वाली कुछ हिंदी लोकोक्तियों और मुहावरों का विश्लेषण किया गया है कि वास्तव में ये मुहावरे या लोकोक्तियाँ स्त्रियों के विषय में क्या मुख्य संदेश देना चाहती हैं। यह बिंदु भी स्मरण रहे कि ये कहावतें हवा में ही नहीं बनी बल्कि इनके पीछे सामाजिक अवलोकन था और ये अपने समय की सामूहिक सामाजिक सोच को दर्शाती हैं। परंतु प्रश्न यह है कि कहीं यह सोच पितृसत्तात्मकता की बेड़ियों में तो जकड़ी हुई नहीं है जिसमें पुरुषों के बल, सामर्थ्य, तथाकथित बुद्धि, व्यापार कुशलता आदि को आधार बनाकर स्त्रियों पर वर्चस्व प्राप्त कर लेना अभीष्ट हो। जहाँ स्त्रियों के गुणों की उपेक्षा करते हुए, उनकी महत्ता (और कभी–कभी अस्तित्व) को नकारते हुए, कुछ दुर्गुणों (जोकि पुरुषों में भी पाए जा सकते हैं) का सामान्यीकरण करना ही लक्ष्य हो, ताकि न पुरुष स्त्री को उसका अपेक्षित दर्जा दे सके और न वह स्वयं इतनी जुर्रत ही करे कि अपने हक़ को हक़ भी समझ सके बल्कि समाज में दोयम दर्जे पर ही रहे। हद तो यह है कि इस पितृसत्तात्मक सोच की लपेट में हमारे कुछ कवि और लेखकगण भी आ गए हैं। अपनी कविता 'पटकथा' में सुदामा पांडेय 'धूमिल' भी मादा (स्त्री) को छलपूर्ण दर्शाते हैं–

> "...मैंने हरेक को आवाज़ दी है/ हरेक का दरवाजा खटखटाया है,
> मगर बेकार... मैंने जिसकी पूंछ/ उठायी है उसको मादा पाया है।"

लिंग–भेद पर संबंधित साहित्य का अवलोकन :– मनी (1955) और बाद के बहुत से विद्वान जैसे एकर्ट और मैककोनेल–जिनेट (2013) जेंडर को सामाजिक धारणा मानते हैं। 'जेंडर होने' के स्थान पर 'जेंडर बनाने' के विचार और इस पर आधारित बहस ने हाल में अधिक ज़ोर पकड़ा है। कक्षा में जेंडर आधारित रूढ़िवादिता को

*** सहायक प्राध्यापिका, शिक्षक प्रशिक्षण एवं निरौपचारिक शिक्षा विभाग, जामिया मिल्लिया इस्लामिया, नई दिल्ली**

प्रोत्साहित करने या हतोत्साहित करने में शिक्षक के द्वारा सचेत या अचेत व्यवहार में अपनाई गई लिंग भेद आधारित प्रथाएँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। रेटेलस्डोर्फ एवं अन्य (2015) ने अपने अध्ययन में पाया कि प्रथम भाषा को पढ़ने की योग्यता के विषय में शिक्षक की लड़कों के बारे में नकारात्मक रूढ़िवादी सोच के परिणाम में उनके वास्तविक प्रदर्शन की तुलना में उनकी आत्म–अवधारणा भी नकारात्मक पाई गई। ऐरन्सन एवं स्टील (2005) ने इंगित किया कि कक्षा में जेंडर आधारित रूढ़िवादिता को प्रोत्साहित करने या हतोत्साहित करने में शिक्षक के सचेत या अचेत व्यवहार में अपनाई गई लिंग भेद आधारित प्रथाएँ कक्षाकक्ष में छात्रों की सामजिक अंतःक्रिया को प्रभावित करती हैं। चेन एवं राव (2011) और संडरलैंड (2000) ने अपने अध्ययन में पाया कि शिक्षक अपने व्यवहार में जब यह सोचते हैं कि हम लड़कियों की और अधिक ध्यान दे रहे हैं, तब भी वे अवचेतन स्तर पर लड़कों की ओर ही अधिक ध्यान देते हैं।

लिंग भेद पर आधारित हिंदी मुहावरे और लोकोक्तियाँ :– आइए लिंग भेद पर आधारित कुछ हिंदी मुहावरों और लोकोक्तियों का विश्लेषण करते हैं–

पुत्री से जुड़ी लोकोक्तियाँः

बेटा आँख होता है और बेटी नाक (बेटी का इज्ज़त से संबंधित होना)
बेटी मरे भागवान की, बेटा मरे कमबख्त का (बेटी का मरना सौभाग्य है)
बेटी के बाप की पगड़ी हमेशा नीची रहती है (बेटी का पिता झुककर रहता है)
लड़कियाँ पराया धन होती हैं (लड़कियों के जीवन से ससुराल वालों को ही लाभ होता है)
कन्यादान कर लें, गंगा नहा लें (बेटी का विवाह करने के उपरांत ही माता–पिता निश्चिंत होते है)
मायके से डोली, ससुराल से अर्थी (ससुराल में दुःख के बावजूद मृत्युपर्यंत रहना)

हमारे समाज में पिता पुत्रियों को और भाई बहनों को अपनी खोखली प्रतिष्ठा और मर्यादा से जोड़कर देखते हैं। इज्ज़त के नाम पर वे हमेशा ही पुरुषों के निशाने पर रही हैं। यहाँ तक कि कभी–कभी उन्हें शिक्षा और स्वास्थ्य जैसी मूलभूत आवश्यकताओं से भी वंचित रखा जाता है। बेटी और बेटे की परवरिश में परिवार दोहरा मापदंड अपनाता है। गुणवत्ता और रोज़गारपरक शिक्षा, नौकरी करने, संपत्ति में हिस्सा प्रदान करने आदि क्षेत्रों में हमें भेदभाव देखने को मिलता है। भले ही यह अतिशयोक्ति प्रतीत होती हो लेकिन बेटी के मरने को सौभाग्य और बेटे के मरने को दुर्भाग्य समझना यह दर्शाता है कि एक समय में समाज में लड़कियों का अस्तित्व कोई क़ाबिल–ए–ज़िक्र चीज़ न था। अब तक समझा यह जाता है कि लड़कियाँ पराई चीज़ हैं और उनका असल घर उनका ससुराल है। माता–पिता भी इस फ़िक्र में रहते हैं कि लड़कियों का विवाह कर देना ही गंगा नहाना है। लड़कियों का होना इतना बड़ा बोझ है कि उनका विवाह करने के उपरांत भी पिता को उसके सुसराल वालों के सामने हमेशा इसलिए नीचा बनकर रहना पड़ता है कि कहीं वे उसकी बेटी को दुःख न पहुँचाएँ। हद तो यह है कि बेटी के ससुराल में दुखी रहने पर भी उसे मृत्युपर्यंत ससुराल में ही रहने और निर्वाह करने का उपदेश दिया जाता है।

पत्नी से जुड़े मुहावरे और लोकोक्तियाँः

पति परमेश्वर होता है (पति ईश्वर से भी बड़ा)
जोरू का गुलाम होना (पत्नी की हर बात मानना)
जोरू टटोले गठरी, माँ टटोले अंतड़ी (पत्नी को पति के माल की परवाह, जबकि माँ को बेटे की भूख की)
अभागे की गाय मरती है और भाग्यवान की बीवी (पत्नी का मरना सौभाग्य है)

इससे बड़ी लैंगिक असमानता की मिसाल और क्या होगी कि स्त्री और पुरुष में लगभग समान क्षमताओं के पाए जाने के बावजूद पति को पत्नी के लिए परम ईश्वर बताया जाता है। आवश्यकता पड़ने पर यदि कोई पति अपनी पत्नी की सेवा करता है या उसकी कोई बात मान लेता है या घर का कोई काम कर देता है तो यह समाज उसे जोरू का गुलाम कहने से भी बाज़ नहीं आता। इससे भी आगे बढ़कर स्त्री को इतनी लालची प्रवृत्ति का दर्शाया जाता है कि उसे केवल पति की धन–संपत्ति से मतलब होता है, जबकि उसकी माता को ही ये परवाह होती है कि उसने कुछ खाया या नहीं। वास्तव में यह कहावत दो प्रकार से स्त्रियों पर प्रहार करती है। पहला, स्त्री लालची प्रवृत्ति की होती है, दूसरा, पुरुष के खाने–पीने का ध्यान रखना केवल घर की स्त्रियों का ही

कर्तव्य है। हद तो यह है कि गाय का मरना दुर्भाग्य हो सकता है लेकिन पत्नी का मरना पति के सौभाग्य का सूचक दर्शाया गया है। ऐसी ही एक और उक्ति में बेटी के मरने को भी सौभाग्य बताया गया है।

वधू से जुड़ी लोकोक्तियाँ:

देखने की पतली सुथरी, लट खोल लड़ी सिगरी बखरी (सुंदर वधू का झगड़ालू होना)
कलयुगी बहू में तनिक नहीं हया, डोली से उतरे करे पिया–पिया (वधू को केवल पति से ही मतलब होना)
दूधो नहाओ, पूतो फलो (समृद्धि और पुत्र उत्पत्ति का आशीर्वाद)

पहली लोकोक्ति से स्पष्ट होता है कि स्त्री कितनी ही सुंदर क्यों न हो, लड़ाका होती है। पति से प्रणय वार्ता करने वाली स्त्री को बेहया, बशर्म जैसी उपाधियों से नवाज़ा जाता है। उपर्युक्त लोकोक्तियों में एक तरफ़ वधू को लड़ाका और बेशर्म बताया गया है। दूसरी तरफ़ पुत्रों को जन्म देने वाली बनने की कामना की जाती है। इससे यह भी पता चलता है कि स्त्रियाँ ही पुत्र पैदा करें और फिर भी पुत्री (भावी स्त्री) के जन्म की क़द्र न हो।

भाभी से जुड़ी लोकोक्ति:

जीवे तेरा भ्रा, पाश्भी तेरी गली–गली (भाभी पर भाई की महत्ता दर्शाना)

भाई जीवित रहना चाहिए, भाभियाँ तो बहुत मिल जाएंगी। इस लोकोक्ति के माध्यम से स्त्री पर पुरुष की महत्ता को प्रतिपादित करने का प्रयत्न किया गया है।

स्त्री की तथाकथित सामान्य प्रवृत्तियों से जुड़े अन्य मुहावरे और लोकोक्तियाँ:

चूड़ियाँ पहनना (पुरुष का कायर होना)
औरत छोटी या मोटी, विष की बूटी (सब प्रकार की औरतें बुरी होती हैं)
डायन भी सात घर छोड़ देती है (अपनों के साथ बुरा करने वाली दुष्ट स्त्री)
दूती–दूती कहाँ चली, खसम पूत कुसवाने चली (चुगलखोर स्त्री अपनों को भी बदनाम करती है)

समाज ने पहले तो विवाहित स्त्रियों को सौंदर्य के नाम पर चूड़ी, बिंदी, मंगलसूत्र, मेहंदी आदि प्रतीकों को धारण करने के लिए बाध्य किया, फिर बाद में इन्हें स्त्री की बलहीनता से जोड़ दिया। किसी पुरुष के अयोग्य होने या साहसी न होने में भी ज़बरदस्ती स्त्रियों की चूड़ियों को घसीटा गया है और उन्हें कायरता का प्रतीक समझा गया है। इससे आगे बढ़ें तो पाते हैं कि हर प्रकार की स्त्री को 'विष की बूटी' यानी बहुत बुरी कहा गया है। यहाँ तक कि 'डायन भी सात घर छोड़ देती है' में अत्यधिक दुष्ट स्त्री जो अपनों के साथ भी बुरा करे, की 'डायन' से तुलना की है। तथाकथित रूप से स्त्रियों को अपनों की भी बुराइयाँ करने वाली, चुगलखोर साबित करने के लिए 'दूती–दूती कहाँ चली...' जैसी लोकोक्तियों को निर्मित किया गया है। विचारणीय बात है कि इन लोकोक्तियों में किसी स्त्री में पाए गए छोटे दुर्गुण का बढ़ा–चढ़ाकर प्रयोग किया गया है जबकि पुरुषों के संदर्भ में ऐसे मुहावरे या लोकोक्तियाँ हमें नहीं मिलती हैं।

कक्षा शिक्षण में जेंडर संवेदनशील वातावरण का निर्माण

'जेंडर संवेदनशीलता का अर्थ है– अपने और दूसरे लिंग के विषय में अपनी सोच एवं व्यवहार को परिवर्तित करना और समानुभूति का विकास करना। इससे लोगों के व्यक्तिगत नज़रिए एवं विश्वास की जाँच करने और वास्तविकताओं पर प्रश्न करने में मदद मिलती है (अयंगर, 2006)।

सतत विकास लक्ष्यों के एजेंडा 2030 के मद्देनज़र लैंगिक समानता प्राप्त करने की एक आवश्यक कड़ी है– कक्षा में जेंडर–संवेदी सीखने के माहौल का निर्माण करना। जेंडर समानता सुनिश्चित करने के लिए शैक्षिक व्यवस्था को स्त्रियों को लेकर सामाजिक–सांस्कृतिक दृष्टिकोण से उपजे जेंडर–भेद को समाप्त करना होगा। इस जेंडर आधारित रूढ़िवादी मानसिकता का एक सबसे बड़ा उदहारण है– जेंडर भेद को प्रोत्साहित करने वाले मुहावरे और लोकोक्तियाँ। शिक्षा में लिंग समानता की प्राप्ति के प्रयास में भाषा संबंधी जागरूकता लाने के लिए विशेष रूप से शिक्षकों की महत्वपूर्ण भूमिका है जोकि न केवल छात्रों के लिए आदर्श का कार्य करते हैं बल्कि कक्षा–संवाद के नियंत्रण में भी एक केंद्रीय भूमिका निभाते हैं।

कक्षाकक्ष में जेंडर–संवेदी वातावरण का निर्माण करने में शिक्षक निम्नलिखित रणनीतियाँ अपना सकते हैं–

- एक शिक्षक के रूप में कक्षाकक्ष में ऐसा माहौल बनाना जहाँ छात्र रूढ़िवादी मान्यताओं अथवा प्रथाओं के आधार पर सचेत रूप से स्त्री एवं पुरुष के मध्य वर्गीकरण करने से बच सकें।
- स्त्री/पुरुष जेंडर के व्यक्तियों के विषय में सामाजिक रूढ़िवादी धारणाओं के आधार पर निर्णय न लेना।
- स्त्री/पुरुष जेंडर के बाह्य रूप, आकार अथवा बोलने के विषय में कुछ पूर्व अवधारणाएँ न बनाना।
- स्त्री/पुरुष जेंडर के विषय में अनावश्यक निष्कर्ष निकालने से बचना।
- कक्षाकक्ष में न केवल इस बात का ध्यान रखना कि शिक्षक छात्रों के साथ कैसे वार्तालाप करते हैं बल्कि इस बात पर भी ध्यान देना कि स्त्री/पुरुष छात्र आपस में कैसे अंतःक्रिया करते हैं एवं बातचीत करते हैं।
- किसी भी पूर्व–धारणा पर पर्याप्त शोध एवं चर्चा के बिना विश्वास न करना।
- लिंग आधारित पूर्व धारणाओं पर विश्वास करने के लिए केवल सामाजिक सत्यापन को साधन के रूप में प्रयोग न करना क्योंकि सामाजिक रूढ़ियाँ घातक भी हो सकती हैं।
- चर्चा के दौरान विभिन्न दृष्टिकोणों से सोचना एवं बातचीत करना एवं स्त्री पुरुष को पूर्व अनुमानित खांचों में सोचकर बात न करना।
- स्त्री अथवा पुरुष को एक इकाई के रूप में देखना न कि स्त्रियों को पुरुष पर आश्रित अथवा पुरुष के अधीन व्यक्तित्व के रूप में सोचना।
- स्त्री–पुरुषों के विषय में अतिवादी सोच न रखना जैसे; लड़कियाँ पढ़ाई में अच्छी होती हैं जबकि लड़के नहीं होते।

निष्कर्ष :– समय के विकास के साथ मानव ने प्रगति की है परंतु हम आज भी लकीर के फ़कीर की भांति उन्हीं रूढ़िवादी मुहावरों और लोकोक्तियों के माध्यम से अपनी भाषा की शोभा बढ़ाने में जुटे हैं जो कई आधार पर सामाजिक असमानता को बढ़ाने के भी कारण बनते हैं। समय के साथ हमारी सोच, हमारी भाषा, और हमारे समाज में परिवर्तन आता है। भाषा में कुछ अपरिवर्तनीय रह गया है, तो वह ये मुहावरे और लोकोक्तियाँ ही हैं। अब समय आ गया है कि हमें अपनी कहावतों में बेटी, पत्नी, वधू को एक सामान्य स्त्री की भूमिका में सशक्त दिखाना चाहिए क्योंकि आज की कहावतें भविष्य में भी चलती रहेंगी। आज भी अगर हमने इस और ध्यान न दिया तो हम स्त्री–पुरुष भेदभाव की संस्कृति को चिरकाल तक परिपोषित करते रहेंगे। जोकि भावी पीढ़ियों के लिए कथनी और करनी में साम्य न होना के बराबर प्रतीत होगा। हमें आखिकार इस भेदभाव या असमानता को मुहावरों और लोकोक्तियों की दुनिया से बाहर निकालना ही होगा। अन्यथा इन्हें कक्षा में पढ़ाना या बताना या समाज में इनका प्रयोग किसी भी कीमत पर स्वीकार्य न होगा। इसके लिए हमें आवश्यकता है कि कक्षा में हम इस बिंदु पर चर्चा करें कि स्त्री–पुरुष असमानता को बढ़ावा देने वाले ये मुहावरे और लोकोक्तियाँ किस प्रकार संविधान के मूलभूत सिद्धांतों जैसे स्वतंत्रता, समानता, न्याय और भाईचारे के विरुद्ध हैं।

संदर्भ–सूची :–

1. अंदलीब (2022). 'स्त्री–पुरुष असमानता संबंधी मुहावरे और लोकोक्तियों का पुनरावलोकन. जामिया दर्पण पत्रिका, पृष्ठ सं. 28–29.
2. Aronson, Joshua. M. and Claude. M. Steele. (2005). "Stereotypes and the fragility of academic competence, motivation, and self-concept." In: Handbook of competence and motivation, edited by Andrew J. Elliot and Carole S. Dweck, p. 436–56. New York, NY: Guilford Press.
3. Deutschmann, Mats, Steinvall, Anders and Lindvall-Östling, Mattias (2021). "Raising awareness about gender and language among teacher-training students: A cross-cultural approach" *Open Linguistics*, vol. 7, no. 1, pp. 666-684.
4. Eckert, Penny, and Sally McConnell-Ginet. (2013). Language and Gender, 2nd ed. Cambridge: Cambridge University Press.
5. Money, J., J. G. Hampson, and J. Hampson. (1955). "An examination of some basic sexual concepts: The evidence of human hermaphroditism." Bulletin of the Johns Hopkins Hospital 97(4), 301–19.
6. Sunderland, Jane. (2000). "New understandings of gender and language classroom research: Texts, teacher talk and student talk." Language Teaching Research 4(2), 149–73.

महर्षि दयानन्द सरस्वती : मूर्तिपूजा एवं सामाजिक-जीवन

डॉ. हेमल अशोकभाई कणसागरा*

महर्षि दयानन्द सरस्वती भारत के महान समाजरूसुधारक, वैदिक चिंतक और आर्य समाज के संस्थापक थे। उनका जीवन और विचार आज भी भारतीय समाज को दिशा देते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती का मानना था कि वेद ईश्वरप्रदत्त और सर्वोच्च ज्ञान के स्रोत हैं तथा ईश्वर एक, निराकार, सर्वशक्तिमान और न्यायकारी है। उन्होंने "वेदों की ओर लौटो" का संदेश दिया और धर्म को तर्क, सत्य और नैतिकता पर आधारित बताया। उन्होंने मूर्तिपूजा, पाखंड, कर्मकांड, जातिआधारित भेदभाव और सामाजिक कुरीतियों का निर्भीक विरोध किया। वे नारी शिक्षा, विधवा पुनर्विवाह और स्त्रियों को समान अधिकार देने के प्रबल समर्थक थे। समाजसुधार को संगठित रूप देने के लिए उन्होंने 1875 ईस्वी में आर्य समाज की स्थापना की। जिसने शिक्षा, सामाजिक समानता और राष्ट्रीय चेतना के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'सत्यार्थ प्रकाश' उनके विचारों का सशक्त प्रतिपादन करता है। उनके विचार आज भी भारतीय समाज को सत्य, विवेक और सुधार की राह दिखाते हैं।

मूर्तिपूजा के विरोध का मूल :– शिवरात्रि के अवसर पर मंदिर में चूहों को शिवलिंग पर चढ़ा प्रसाद खाते देखकर मूलशंकर (महर्षि दयानन्द सरस्वती का बचपन का नाम) के मन में मूर्तिपूजा और अंधविश्वास के प्रति प्रश्न उत्पन्न हुए। जिसने उनके जीवन की दिशा बदल दी। युवावस्था में उन्होंने गृहत्याग कर संन्यास ग्रहण किया और सत्य एवं ज्ञान की खोज में वर्षों तक भारत भ्रमण किया। अंततः मथुरा में उनकी भेंट महर्षि विरजानंद से हुई, जिन्हें उन्होंने अपना गुरु माना और गुरुदक्षिणा में वेदों के सत्यज्ञान के प्रचार तथा समाजसुधार का संकल्प लिया।

मूर्तिपूजा के बारे में उनके विचार :– महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'सत्यार्थ प्रकाश' में मूर्तिपूजा का स्पष्ट, तर्कपूर्ण और वेदाधारित खण्डन किया है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार ईश्वर निराकार, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान और चेतन है। जो वस्तु पत्थर, धातु या लकड़ी से बनी हो, वह जड़ (अचेतन) होती है, इसलिए वह ईश्वर नहीं हो सकती। "जो स्वयं बनाया जाए, वह बनाने वाले से बड़ा कैसे हो सकता है?"– यही उनकी मूल तर्क–रेखा है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती वेदों को सर्वोच्च प्रमाण मानते हैं। उनका कहना है कि "वेदों में कहीं भी मूर्तिपूजा का विधान नहीं है। वेद ईश्वर की उपासना ध्यान, ज्ञान और यज्ञ के द्वारा बताते हैं, न कि मूर्ति के माध्यम से।" वे आगे चलकर कहते है कि मूर्तिपूजा अज्ञान और भ्रम पर आधारित है। उनका स्पष्ट मत है कि मूर्ति को ईश्वर मानना अविद्या (अज्ञान) है। इस बात को अधिक समजाने के लिए वे कहते है कि यदि मूर्ति सच में ईश्वर होती, तो वह स्वयं बोल सकती, रक्षा कर सकती, आशीर्वाद दे सकती।

महर्षि दयानन्द सरस्वती कहते हैं कि मूर्तिपूजा से आत्मिक उन्नति नहीं होती। मूर्तिपूजा मनुष्य को बाह्य आडम्बरों में उलझा देती है। उनके अनुसार ईश्वर की सच्ची उपासना वेदों के अध्ययन, यज्ञ, ध्यान तथा सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और परोपकार जैसे गुणों के आचरण से होती है। ध्यान द्वारा ईश्वर का स्मरण, ज्ञान द्वारा विवेक का विकास और कर्म द्वारा समाज–हित– यही उपासना के वास्तविक मार्ग हैं। मूर्ति नहीं, बल्कि मनुष्य का चरित्र ईश्वर–भक्ति का प्रमाण होना चाहिए।

सत्यार्थ प्रकाश में मूर्तिपूजा के बारे में :– महर्षि दयानन्द सरस्वती अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' नामक ग्रन्थ में मूर्तिपूजा के बारे में लिखते है कि मूर्तिपूजा वेदविरुद्ध है और ईश्वर–प्राप्ति का साधन नहीं है। 'सत्यार्थ प्रकाश' के एकादश समुल्लास में मूर्तिपूजा का मुख्य खण्डन किया गया है। इस अध्याय में महर्षि दयानन्द सरस्वती अवतारवाद, बहुदेववाद और मूर्तिपूजा की आलोचना करते हुए कहते हैं कि जो पत्थर, मिट्टी, धातु

***मददनीश प्राध्यापक–संस्कृत, ठाकोरश्री मूलवाजी कला महाविद्यालय, कोटड़ासांगाणी, राजकोट, गुजरात।**

या लकड़ी से बनाई जाए, वह ईश्वर नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर अजन्मा, आदि, निराकार, सर्वव्यापक और चेतन है।[1] वे यह भी स्पष्ट करते हैं कि जो न सुन सकती है, न रक्षा कर सकती है और न फल दे सकती है, उसे ईश्वर मानना घोर अज्ञान है। इसी समुल्लास में महर्षि दयानन्द सरस्वती व्यावहारिक प्रश्न उठाते हैं कि यदि मूर्ति ईश्वर है, तो चोर उसे चुरा क्यों लेता है, टूटने पर वह स्वयं को क्यों नहीं बचाती और पुजारी के बिना वह कुछ क्यों नहीं कर पाती?[2] इन प्रश्नों के माध्यम से वे सिद्ध करते हैं कि मूर्ति ईश्वर नहीं, बल्कि मानव–निर्मित वस्तु है।

सप्तम समुल्लास में वे वेदों का प्रमाण देते हुए कहते हैं कि वेदों में कहीं भी मूर्तिपूजा का विधान नहीं है। वेद ईश्वर को अज, आदि, निराकार और सर्वत्र विद्यमान बताते हैं, इसलिए वेदसम्मत उपासना मूर्ति के माध्यम से संभव नहीं है। इसी प्रकार चतुर्थ समुल्लास में ईश्वर के स्वरूप का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ईश्वर का कोई शरीर नहीं है और वह जन्म नहीं लेता। जब ईश्वर का शरीर ही नहीं, तो उसकी मूर्ति बनाना असम्भव है।[3]

मूर्तिपूजा के पक्ष में दिए जाने वाले तर्क और उनका खण्डन :– प्रथम तर्क यह है कि "मूर्ति तो प्रतीक है।" मूर्तिपूजा के पक्ष में सर्व सामान्य तर्क यह दिया जाता है कि मूर्ति से मन एकाग्र होता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी यह स्वीकार करता है कि कोई दृश्य–केन्द्र (Visual Anchor) ध्यान में सहायक हो सकता है, क्योंकि मन चंचल होता है और उसे किसी प्रतीक की आवश्यकता पड़ सकती है। इसका उत्तर देते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती कहते है कि यदि मूर्ति केवल प्रतीक है, तो उसे स्नान क्यों? भोजन क्यों? तथा जागरण क्यों? व्यवहार में उसे ईश्वर ही माना जाता है, प्रतीक नहीं।

द्वितीय तर्क है कि "मूर्ति से ध्यान लगता है।" सामान्य व्यक्ति निराकार ईश्वर की कल्पना नहीं कर पाता, इसलिए मूर्ति एक "सीढ़ी" है, जिसके माध्यम से वह निराकार तक पहुँच सकता है। जिसका प्रत्युत्तर देते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती कहते है कि ध्यान मन से होता है, आँखों से नहीं। यदि मूर्ति से ही ध्यान लगे, तो अंधा व्यक्ति ईश्वर को नहीं पा सकता?

तृतीय तर्क के अनुसार यह पुराने समय से चली आ रही परम्परा है। यह तर्क सांस्कृतिक पहचान से जुड़ा है, जहाँ मूर्ति, मंदिर और पर्वों को धार्मिक से अधिक सांस्कृतिक विरासत माना जाता है। इस तर्क को खारिज करते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती कहते है कि जो परम्परा वेदविरुद्ध हो, वह त्याज्य है। क्योंकि सत्यार्थ प्रकाश का मूल सिद्धान्त ही है कि सत्य का प्रमाण परम्परा नहीं, वेद हैं।

चौथा तर्क बताता है कि भगवान ने अवतार लिया, इसलिए मूर्ति स्वीकार्य है। आज के समय में अत्यंत प्रचलित तर्क यह है कि धर्म भावना का विषय है, तर्क का नहीं– जिसमें श्रद्धा है, वही सही है। महर्षि दयानन्द सरस्वती अवतारवाद का ही अस्वीकार करते हैं। उनके अनुसार– ईश्वर जन्म नहीं लेता, वह कर्मफल देनेवाला न्यायकारी है। इसलिए अवतार और मूर्ति दोनों बातें अस्वीकार्य है।

अतः महर्षि दयानन्द सरस्वती के मत को ध्यान में रखते हुए इतना कहा जा सकता है कि मूर्तिपूजा वेदविरुद्ध, अज्ञानजन्य और ईश्वर–प्राप्ति में बाधक है। सच्चा धर्म 'वेदज्ञान, यज्ञ, नैतिक जीवन और ध्यान आदि में ही समाविष्ट है।'

आज मूर्तिपूजा को केवल धार्मिक प्रश्न के रूप में नहीं, बल्कि सामाजिक, मानसिक और दार्शनिक संदर्भ में समझना आवश्यक है। आधुनिक समाज में आस्था, तर्क और व्यवहार– तीनों के बीच एक जटिल सम्बन्ध बन गया है। इसलिए मूर्तिपूजा के समर्थन में दिए जाने वाले तर्कों को न तो उपहास में उड़ाया जाना चाहिए और न ही उन्हें बिना परीक्षण के स्वीकार कर लेना चाहिए। एक संतुलित दृष्टि वही है जो श्रद्धा का सम्मान करे, पर विवेक का परित्याग न करे।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के मत और तर्कवादी दृष्टिकोण से इन तर्कों का परीक्षण करने पर कुछ मूल प्रश्न उभरते हैं। यदि एकाग्रता का आधार मूर्ति ही है, तो क्या अलग–अलग मूर्तियों से अलग–अलग ईश्वर बन जाते हैं? और जो लोग बिना किसी मूर्ति के ध्यान करते हैं– जैसे योगी, सूफी या बौद्ध– क्या वे

असफल साधक हैं? तर्कसंगत निष्कर्ष यही निकलता है कि एकाग्रता अभ्यास और मानसिक अनुशासन से आती है, न कि किसी बाह्य वस्तु से। महर्षि दयानन्द सरस्वती का कथन है कि "ध्यान मन का विषय है, मूर्ति का नहीं।" अर्थात् ध्यान का केन्द्र चेतना है, दृश्य नहीं।

मूर्ति को "सीढ़ी" कहकर उसका समर्थन भी व्यवहारिक यथार्थ में प्रश्नों के घेरे में आ जाता है। यदि मूर्ति वास्तव में केवल साधन होती, तो अधिकांश लोग जीवन भर उसी सीढ़ी पर क्यों रुके रहते हैं? सीढ़ी को ही घर क्यों मान लिया जाता है? व्यावहारिक अनुभव यह बताता है कि मूर्ति साधन न रहकर स्वयं लक्ष्य बन चुकी है। साधना की यात्रा आगे बढ़ने के बजाय प्रतीक पर ही ठहर जाती है, जिससे आत्मचिन्तन और विवेक का विकास बाधित होता है।

आज मूर्तिपूजा के सामाजिक–आर्थिक प्रभाव भी अनदेखे नहीं किए जा सकते। अनेक स्थानों पर यह व्यवसाय का रूप ले चुकी है (विशेषकर आज तो बड़े बड़े मंदिरों में दर्शन के लिए पावती देकर, टिकट निकालकर, पैसे लेकर विशेष दर्शन की व्यवस्था होती है और उससे मंदिरों के रखरखाव करनेवाले ट्रस्ट को ही लाभ होता है), जहाँ चढ़ावा, चमत्कार, डर और लालच प्रमुख भूमिका निभाते हैं। पाखण्ड और अंधविश्वास को इससे पोषण मिलता है। यहाँ एक तर्कपूर्ण प्रश्न उठता है कि यदि ईश्वर न्यायकारी है, तो वह धन देखकर पक्षपात क्यों करेगा? 'विशेष पूजा' या अधिक चढ़ावे से अधिक कृपा मिलने की धारणा ईश्वर की न्यायप्रियता पर ही प्रश्नचिह्न लगा देती है।

मनोविज्ञान क्या कहता है? :– मनोविज्ञान के अनुसार मनुष्य में नैतिकता के बीज जन्मजात होते हैं। सहानुभूति (Empathy), अपराध–बोध और सहयोग की प्रवृत्ति मानव स्वभाव का स्वाभाविक हिस्सा हैं। एक छोटा बच्चा भी यह समझने लगता है कि किसी को चोट पहुँचाने से उसे दर्द होता है। यह बोध किसी धार्मिक शिक्षा या ईश्वर–विश्वास से पहले विकसित हो जाता है। इसी कारण आधुनिक मनोविज्ञान यह मानता है कि नैतिकता का मूल स्रोत मानव चेतना और सामाजिक जीवन है, जहाँ साथ रहने, सहयोग करने और एक–दूसरे को समझने की आवश्यकता नैतिक व्यवहार को जन्म देती है।

आधुनिक मनोविज्ञान मूर्तिपूजा के कुछ सीमित सकारात्मक पक्ष भी स्वीकार करता है। यह कई लोगों को भावनात्मक सहारा देती है, सांस्कृतिक एकता का अनुभव कराती है और तनाव के क्षणों में अस्थायी शांति प्रदान करती है। किन्तु इसके नकारात्मक पक्ष अधिक गम्भीर हैं। बाहरी वस्तु पर अत्यधिक निर्भरता (External Dependency), निर्णय–क्षमता का क्षय, चमत्कार–आधारित सोच और वैज्ञानिक दृष्टि से दूरी– ये सभी दीर्घकालिक मानसिक प्रभाव हैं। यही कारण है कि आज का शिक्षित युवा अक्सर यह कहता सुनाई देता है कि "मैं पूजा तो करता हूँ, पर समझ नहीं पाता क्यों।" यह कथन आस्था के अभाव का नहीं, बल्कि आस्था और विवेक के बीच उत्पन्न आंतरिक द्वन्द्व का संकेत है।

निष्कर्षतः महर्षि दयानन्द सरस्वती के मतानुसार मूर्तिपूजा वेदविरुद्ध है, यह अविद्या पर आधारित है । मूर्तिपूजा ईश्वर–प्राप्ति का साधन नहीं है । सच्चा धर्म ज्ञान, कर्म और उपासना में ही निहित है। सच्ची उपासना का उद्देश्य केवल धार्मिक कर्मकाण्डों का पालन नहीं, बल्कि मानव के ज्ञान, चरित्र और विवेक का सर्वांगीण विकास करना है। जब मनुष्य सच्चे अर्थों में ईश्वर की उपासना करता है, तब उसका जीवन सही दिशा में आगे बढ़ता है। सच्ची उपासना से मनुष्य में सत्य को समझने की शक्ति आती है, उसका चरित्र निर्मल बनता है और विवेक जागृत होता है, जिससे वह सही–गलत का भेद कर पाता है। ऐसी उपासना व्यक्ति को अंधविश्वास से दूर रखकर तर्क, नैतिकता और मानवता के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है। महर्षि दयानन्द सरस्वती यह भी कहते हैं कि मूर्तिपूजा से आत्मिक उन्नति नहीं होती। यह मनुष्य को बाह्य आडम्बरों और कर्मकाण्डों में उलझा देती है, जबकि सच्ची उपासना से ज्ञान, विवेक और चरित्र का विकास होता है। उनका स्पष्ट मत है कि जिस पूजा से मनुष्य का आचरण शुद्ध न हो, वह वास्तविक धर्म नहीं हो सकती। धर्म का फल पूजा की संख्या नहीं, बल्कि नैतिक जीवन है।

गीता/उपनिषद में वर्णित मूर्तिपूजा एवं ईश्वर के बारे में आर्य समाज (महर्षि दयानन्द सरस्वती) का दृष्टिकोण :– गीता और उपनिषदों की परम्परागत वेदान्ती व्याख्या में ईश्वर को निर्गुण भी माना गया है और

सगुण भी। इसी कारण मूर्ति को कई लोग ईश्वर तक पहुँचने का साधन या प्रतीक मानते हैं। गीता के "ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।" (श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय ४, श्लोक ११) जैसे श्लोकों की व्याख्या प्रायः मूर्तिपूजा के समर्थन में की जाती है और "अर्चा" को ईश्वर के प्रतीक रूप में स्वीकार किया जाता है। इसके विपरीत महर्षि दयानन्द सरस्वती का दृष्टिकोण पूर्णतः वेद–आधारित और तर्कप्रधान है। उनके अनुसार ईश्वर केवल निराकार है, उसका कोई भौतिक रूप नहीं हो सकता। इसलिए मूर्ति को वे अविद्या मानते हैं। गीता के श्लोकों की वे मूर्तिपूजक व्याख्या स्वीकार नहीं करते, बल्कि कहते हैं कि "जैसे मेरी पूजा" का अर्थ ध्यान, ज्ञान और कर्म से है, न कि मूर्ति–पूजन से। "अर्चा" को भी वे वेद–विरुद्ध कल्पना मानते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती का स्पष्ट मत है– "उपनिषद और गीता की मूर्तिपूजक व्याख्या बाद की है, वेदों में इसका मूल नहीं।"

उनके अनुसार गीता का सही अर्थ वेदों के अनुसार किया जाना चाहिए, न कि केवल परम्परा के अनुसार। संतुलित दृष्टि : तर्कवादी व्यक्ति क्या करे? महर्षि दयानन्द सरस्वती का दृष्टिकोण तर्कपूर्ण होते हुए भी आक्रामक नहीं है। वे आस्था का अपमान करने के पक्ष में नहीं थे, क्योंकि श्रद्धा निजी विषय है और उसे बलपूर्वक तोड़ना उल्टा प्रभाव डाल सकता है। उनका बल इस बात पर है कि मूर्ति नहीं, मूल्य केन्द्र में हों। यदि कोई व्यक्ति मूर्तिपूजा करता भी है, तो उससे अधिक महत्वपूर्ण यह है कि उसके जीवन में ईमानदारी, करुणा, आत्मसंयम और सत्य जैसे गुण हों। यही कारण है कि महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षण–शैली थी "तोड़ो नहीं, समझाओ।" अर्थात् संवाद, शिक्षा और विवेक के माध्यम से परिवर्तन। यदि महर्षि दयानन्द सरस्वती आज के समय में होते, तो उनका संदेश अत्यन्त व्यावहारिक और समसामयिक होता– "ईश्वर को पत्थर में मत खोजो, विवेक में खोजो, कर्म में खोजो, सत्य में खोजो।" यह संदेश मनुष्य को बाहरी प्रतीकों से ऊपर उठाकर आन्तरिक चेतना और नैतिक जीवन की ओर ले जाता है।

मूर्तिपूजा ऐतिहासिक और सांस्कृतिक कारणों से प्रचलित रही है और कई लोगों को भावनात्मक सहारा भी देती है। किन्तु बौद्धिक और आत्मिक विकास का यह अन्तिम साधन नहीं है। दीर्घकालिक समाधान है– ज्ञान, विवेक, नैतिक जीवन और आत्मचिन्तन। अब इसी के साथ हम समाजजीवन को जोड़ें तो उसमें नैतिकता प्रथम ध्यान में आती है। आज के समय में एक और महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है– क्या बिना ईश्वर के नैतिक जीवन सम्भव है? उत्तर है– हाँ, सम्भव है। यह भी सत्य है कि ईश्वर–आस्था नैतिकता को सहारा दे सकती है, लेकिन वह नैतिक जीवन की अनिवार्य शर्त नहीं है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के मत से भिन्न ऐसा कोई स्पष्ट, प्रत्यक्ष और निर्विवाद वैदिक सन्दर्भ नहीं मिलता जहाँ ईश्वर की मूर्ति या मूर्तिपूजा का समर्थन किया गया हो। वेदों में ईश्वर को निराकार, सर्वव्यापक और रूप–रहित बताया गया है। जो भ्रम उत्पन्न होता है, वह इसलिए कि कुछ वैदिक शब्दों और प्रतीकों की प्रतीकात्मक या रूपकात्मक व्याख्या बाद के काल में मूर्ति–पूजा से जोड़ दी गई। वेदों में "मूर्ति जैसा" सन्दर्भ प्रतीत होने का पहला कारण "प्रतिमा" शब्द है। ऋग्वेद का मंत्र "न तस्य प्रतिमा अस्ति" स्पष्ट करता है कि ईश्वर की कोई प्रतिमा नहीं है। चाहे प्रतिमा का अर्थ "समान" लिया जाए या "मूर्ति", दोनों ही स्थितियों में यह मंत्र ईश्वर को रूप–रहित ही सिद्ध करता है, न कि मूर्ति–पूजा का समर्थन।

दूसरा कारण देवताओं के नाम हैं, जैसे अग्नि, इन्द्र, वरुण और सूर्य। महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार ये नाम किसी मूर्ति के नहीं, बल्कि प्राकृतिक और दार्शनिक तत्त्वों के हैं– अग्नि ऊर्जा और यज्ञ का माध्यम है, इन्द्र शक्ति का प्रतीक है, वरुण नैतिक नियम का और सूर्य प्रकाश व जीवन–तत्त्व का। वेद कहीं यह नहीं कहते कि इनकी आकृति बनाकर पूजा की जाए। उदहारण के तौर पे देखा जाये तो– कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता के काण्ड ४, प्रपाठक ५ में स्थित 'श्री रुद्रम्' में रुद्र को शिव कहा गया है, जैसे मंत्र– "नमः शिवाय च शिवतराय च।" यहाँ शिव का अर्थ "कल्याणकारी" और "मंगलमय" है, न कि किसी मूर्ति–विशेष का नाम। पूरे श्री रुद्रम् में कहीं भी मूर्ति, लिंग या किसी विशेष आकृति का निर्देश नहीं मिलता। रुद्र को प्राकृतिक शक्तियों, नैतिक नियंत्रण और सर्वव्यापक सत्ता के रूप में वर्णित किया गया है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती की वेदाधारित व्याख्या के अनुसार रुद्र और शिव ईश्वर के गुणों के नाम हैं – रुद्र दुःख का नाश करने वाला और शिव कल्याण करने वाला। इसलिए वे शिव और रुद्रम् को भी मूर्तिपूजा का आधार नहीं मानते। उनके शब्दों में, वेदों में जहाँ रुद्र, शिव, अग्नि आदि नाम हैं, वहाँ ईश्वर के गुणों का बोध कराया गया है, न कि मूर्ति–निर्माण का विधान।

तीसरा भ्रम "हिरण्यगर्भ", "पुरुष" और "विश्वकर्मा" जैसे शब्दों से होता है। वेदों में यह भाषा काव्यात्मक और दार्शनिक है, जो ध्यान और बोध के लिए रूपक के रूप में प्रयुक्त हुई है, न कि स्थूल मूर्ति–निर्माण के आदेश के रूप में। महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार ऐसे स्थलों पर अर्थ–ग्रहण बुद्धि से करना चाहिए, मूर्ति–कल्पना से नहीं।

चौथा महत्वपूर्ण बिन्दु यह है कि वेदों में "अर्चा", "विग्रह" और "मूर्ति–पूजा" जैसे शब्द ईश्वर–उपासना के अर्थ में नहीं मिलते। ये शब्द और परम्पराएँ ब्राह्मण, आरण्यक, पुराण और आगम साहित्य में विकसित हुईं। यहीं से वैदिक और उत्तरवैदिक दृष्टिकोणों में भेद उत्पन्न हुआ।

वेदों में ईश्वर की मूर्ति बनाकर पूजा करने का कोई आदेश नहीं है। जो सन्दर्भ मूर्ति जैसे प्रतीत होते हैं, वे प्रतीक, रूपक या दार्शनिक व्याख्याएँ हैं। मूर्तिपूजा का विचार वेदों से नहीं, बल्कि बाद की परम्परागत व्याख्याओं और सांस्कृतिक विकास से उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार महर्षि दयानन्द सरस्वती का मत वेद–विरोधी नहीं, बल्कि वेदों के शाब्दिक और तर्कसंगत पाठ पर आधारित है।

नैतिकता का अर्थ :– नैतिक जीवन का अर्थ केवल किसी विश्वास को मानना नहीं, बल्कि व्यवहार में सही–गलत का विवेक रखना है। इसमें दूसरों को हानि न पहुँचाना, सत्य, न्याय, करुणा, जिम्मेदारी और समाज के प्रति उत्तरदायित्व शामिल है। इसलिए ध्यान देने योग्य बात यह है कि नैतिकता अर्थात् व्यवहार, केवल विश्वास नहीं। "ईश्वर के बिना नैतिकता असम्भव है"– इस तर्क की समीक्षा करने पर पता चलता है कि यह धारणा इस विचार पर आधारित है कि ईश्वर दण्ड देगा, इसलिए नैतिक बनो; ईश्वर देख रहा है, इसलिए गलत मत करो। समस्या यह है कि यदि नैतिकता केवल डर पर आधारित हो, तो डर हटते ही नैतिकता भी समाप्त हो सकती है। तब प्रश्न उठता है– क्या हम चोरी इसलिए नहीं करते क्योंकि वह गलत है, या इसलिए कि पकड़े जाने और दण्ड का भय है? यदि कारण केवल भय है, तो वह नैतिकता नहीं, बल्कि नियंत्रण है।

परम पूजनीय पांडुरंगशास्त्री आठवले कहते है कि हमारी पूरी नैतिकता पुनर्जन्म के सिद्धांत पर आधारित है। पुनर्जन्म में भगवान की भूमिका केवल कर्म के रक्षक या तो कर्मफल के प्रदाता की ही है। अतः नैतिकता के बारे में भी भगवान की कोई खास भूमिका इससे अधिक मालूम नहीं होती। तर्क और दर्शन की दृष्टि से भी देखें तो बुद्ध, महावीर और कन्फ्यूशियस जैसे महापुरुष ईश्वर–केंद्रित नहीं थे, फिर भी उन्होंने करुणा, अहिंसा और संयम जैसी उच्चतम नैतिक शिक्षाएँ दीं। आधुनिक दर्शन में भी इमैनुएल कान्त नैतिकता को कर्तव्य–बोध से जोड़ते हैं और जॉन स्टुअर्ट मिल उसे अधिकतम भलाई के सिद्धान्त से। इनमें कहीं भी नैतिकता को ईश्वर के साथ नहीं जोड़ा गया।

व्यावहारिक प्रमाण पर भी इसको चकासने पर अनुभव बताता है कि कई धार्मिक लोग होते हुए भी भ्रष्टाचार, हिंसा और धोखे में लिप्त पाए जाते हैं, हररोज पूजापाठ करनेवाले, सुबह जल्दी उठकर मंदिर दर्शन के लिए जानेवाले कर्तव्य के पालन में अप्रमाणिक दिखाई पड़ते है, जबकि अनेक नास्तिक लोग ईमानदार, करुणाशील और सामाजिक उत्तरदायित्व निभाने वाले होते हैं। इससे स्पष्ट है कि– ईश्वर–विश्वास अर्थात् नैतिकता और ईश्वर–अविश्वास अर्थात् अनैतिकता ऐसा बिलकुल नहीं हैं।

निष्कर्ष यही है कि नैतिक जीवन का आधार भय नहीं, बल्कि विवेक, संवेदना और उत्तरदायित्व होना चाहिए– चाहे वह ईश्वर–आस्था के साथ हो या उसके बिना। महर्षि दयानन्द सरस्वती की तर्कवादी दृष्टि से इन तर्कों का परीक्षण करने पर स्पष्ट होता है कि एकाग्रता अभ्यास से आती है, वस्तु से नहीं; मूर्ति को साधन कहकर लोग उसी को लक्ष्य बना लेते हैं; और आज मूर्तिपूजा कई बार व्यवसाय, पाखण्ड और अंधविश्वास का रूप ले चुकी है। पूजा बढ़ी है, पर नैतिकता घटी है, जो धर्म और कर्म के विच्छेद को

दर्शाता है। महर्षि दयानन्द सरस्वती की संतुलित दृष्टि यह है कि आस्था का अपमान नहीं किया जाना चाहिए, पर मूर्ति से अधिक मूल्य महत्वपूर्ण हैं। यदि कोई मूर्तिपूजा करता भी है, तो ईमानदारी, करुणा, आत्मसंयम और सत्य को प्राथमिकता देनी चाहिए।

ईश्वर की भूमिका क्या है? :– इस प्रश्न के बारे में विचार करने पर यह कहना भी उचित नहीं होगा कि ईश्वर–आस्था का कोई मूल्य नहीं है। ईश्वर–विश्वास कई लोगों के लिए आत्मनियंत्रण में सहायक होता है, कठिन समय में नैतिक संबल देता है और यह भाव उत्पन्न करता है कि "कोई मुझे देख रहा है।" इससे व्यक्ति गलत कर्म से रुक सकता है और सही मार्ग पर बने रहने की प्रेरणा पा सकता है। परन्तु संतुलित दृष्टि से देखें तो ईश्वर–आस्था नैतिकता का आधार नहीं, बल्कि एक सहायक तत्व है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती स्पष्ट रूप से कहते हैं– "धर्म का मूल ईश्वर–भय नहीं, सत्याचरण है।" उनके अनुसार ईश्वर न्यायकारी अवश्य है, किन्तु नैतिकता का वास्तविक स्रोत ज्ञान और विवेक है। वे अंधभक्ति के स्थान पर बोधपूर्ण आचरण पर बल देते हैं। मनुष्य यदि सत्य, अहिंसा और कर्तव्य–बोध को समझकर अपनाता है, तभी उसका आचरण वास्तव में नैतिक कहलाता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के मतानुसार सबसे महत्वपूर्ण अंतर ईश्वर के डर से किया गया नैतिक आचरण बाहरी और अस्थिर होता है, क्योंकि वह भय पर आधारित होता है। इसके विपरीत विवेक से उत्पन्न नैतिकता आंतरिक और स्थायी होती है। सच्ची नैतिकता वही है, जहाँ कोई देखने वाला न हो, फिर भी व्यक्ति गलत कार्य न करे। यही नैतिक परिपक्वता का वास्तविक प्रमाण है।

नैतिकता और कर्मकाण्ड के बीच का अंतर आज और अधिक स्पष्ट दिखाई देता है। समाज में देखा जा रहा है कि पूजा–पाठ और धार्मिक प्रदर्शन बढ़ रहे हैं, पर ईमानदारी, करुणा और नैतिकता घट रही है। यदि मूर्तिपूजा वास्तव में आत्मशुद्धि करती, तो समाज में भ्रष्टाचार, हिंसा और छल में वृद्धि क्यों हो रही है? महर्षि दयानन्द सरस्वती का यह कथन अत्यंत प्रासंगिक है कि "धर्म का फल चरित्र सुधार है, न कि केवल पूजा।" जहाँ पूजा चरित्र को नहीं बदलती, वहाँ उसकी सार्थकता पर प्रश्न उठना स्वाभाविक है।

अतः महर्षि दयानन्द सरस्वती के मत को ध्यान में रखते हुए कहा जा सकता है कि बिना ईश्वर के भी नैतिक जीवन सम्भव है, क्योंकि नैतिकता का मूल आधार विवेक, करुणा और उत्तरदायित्व है। ईश्वर नैतिकता का सहायक हो सकता है, लेकिन वह अनिवार्य शर्त नहीं है। श्रेष्ठ नैतिकता डर से नहीं, बल्कि समझ, संवेदना और चेतन विवेक से जन्म लेती है।

तभी एक और प्रश्न उपस्थित होता है कि समाज में नैतिकता का संकट है क्या? यह प्रश्न केवल सामाजिक नहीं, बल्कि सभ्यतागत है। इसे भावुक होकर नहीं, बल्कि तथ्य, तर्क और संतुलन के साथ समझना आवश्यक है। संक्षिप्त उत्तर यह है कि हाँ, आधुनिक समाज नैतिक संकट से गुजर रहा है, लेकिन यह संकट नैतिकता के अंत का नहीं, बल्कि नैतिक दिशा–भ्रम (उवतंस कपेवतपमदजंजपवद) का है। अर्थात् नैतिक मूल्यों का ज्ञान समाप्त नहीं हुआ है, बल्कि उनकी प्राथमिकता खो गई है।

"नैतिक संकट" से हमारें आशय के बारे में सोचने पर पता चलता है कि नैतिक संकट का अर्थ यह नहीं कि लोग सही–गलत को नहीं जानते। अधिकांश लोग जानते हैं कि क्या उचित है और क्या अनुचित। (महाभारत के कल में जैसे दुर्योधन कहता था कि "जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।") ऐसे लोक आज के समय में भी अच्छी खासी मात्रा में मौजूद हैं। समस्या यह है कि उस ज्ञान को जीवन में प्राथमिकता नहीं दी जा रही। आज का मुख्य प्रश्न "क्या सही है?" नहीं रहा, बल्कि "किससे मुझे लाभ है?" बन गया है। यही नैतिक संकट का मूल स्वरूप है।

आधुनिक समाज में पहला लक्षण यह है कि साधनों की तुलना में परिणाम को अधिक महत्व दिया जाने लगा है। "काम हो जाना चाहिए" और "सिस्टम ऐसा ही है" जैसे तर्कों के कारण ईमानदारी और नैतिक साधन गौण हो गए हैं।

दूसरा लक्षण है सफलता की परिभाषा का बदल जाना, जहाँ चरित्र के स्थान पर कैरियर, मूल्यों के स्थान पर धन और प्रसिद्धि को प्राथमिकता दी जाती है। नैतिकता को अव्यावहारिक समझा जाने लगा है।

तीसरा लक्षण नैतिकता का निजीकरण है, जहाँ यह कहा जाता है कि "मेरी नैतिकता, मेरी पसंद", जिससे सामूहिक उत्तरदायित्व कमजोर होता है।

चौथा और गंभीर लक्षण यह है कि धार्मिक गतिविधियाँ बढ़ी हैं, पर नैतिकता घटती दिखाई देती है। पूजा, पर्व और प्रदर्शन बढ़े हैं, लेकिन ईमानदारी और करुणा में कमी आई है। यह अनुष्ठान और नैतिकता के बीच बढ़ता हुआ अंतर दर्शाता है।

इस संकट के कारणों की चर्चा करने पर पता चलता है कि इस संकट का पहला कारण तीव्र भौतिक प्रगति है। तकनीक बहुत तेज़ी से आगे बढ़ी है, लेकिन नैतिक विकास उतनी गति से नहीं हुआ, जिससे असंतुलन पैदा हुआ।

दूसरा कारण संस्थाओं पर बढ़ता हुआ अविश्वास है– चाहे वह राजनीति हो, धर्म–नेतृत्व हो या कॉर्पोरेट जगत। जब समाज के आदर्श गिरते हैं, तो सामान्य व्यक्ति नैतिक दिशा खो देता है। श्रीमद् भगवद्गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने भी यही कहा गया है कि "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तद्देवेतरो जनः।" (श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय ३, श्लोक २०) (अर्थः श्रेष्ठ पुरुष जो–जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा–वैसा ही आचरण करते है।) इसी बात को स्मृतिकार मनु भी दुसरे शब्दों में कहते है कि "एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥" (मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक १७) (अर्थः इस भारत भूमि में पैदा हुए श्रेष्ठ लोगों (विद्वानों/ऋषियों) के सान्निध्य से, पृथ्वी के सभी मनुष्यों को अपने–अपने आचरण और कर्तव्यों की शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए।)

तीसरा कारण तर्क और संवेदना के बीच असंतुलन है। केवल तर्क संवेदनहीनता की ओर ले जाता है और केवल भावना अंधता की ओर। विवेक का अभाव इसी असंतुलन से पैदा होता है।

इतिहास बताता है कि यह पहली बार नहीं है। महाभारत काल में भी धर्म संकट था, रोमन साम्राज्य में नैतिक पतन हुआ और औद्योगिक क्रांति के समय मानवीय शोषण चरम पर था। प्रत्येक संक्रमण काल में नैतिक संकट आता है। अंतर केवल इतना है कि आज यह संकट वैश्विक स्तर पर दिखाई देता है।

इसी बीच आशा इसलिए है, क्योंकि आज नैतिक प्रश्न पहले से अधिक मुखर हो रहे हैं। मानवाधिकार, पर्यावरण संरक्षण, लैंगिक समानता और कॉर्पोरेट उत्तरदायित्व जैसे विषयों पर वैश्विक चर्चा हो रही है। यह नैतिक चेतना के जीवित होने का प्रमाण है। साथ ही व्यक्तिगत स्तर पर भी ईमानदार शिक्षक, डॉक्टर, सामाजिक कार्यकर्ता और जिम्मेदार नागरिक मौजूद हैं। समाज टूटा नहीं है, बल्कि आत्मसंघर्ष के दौर से गुजर रहा है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती कहते हैं कि– "जब धर्म और कर्म अलग हो जाए, तब समाज पतन की ओर जाता है।" आज की समस्या भी यही है। धर्म की चर्चा है, पर कर्म में उसका अभाव है; ज्ञान उपलब्ध है, पर आचरण में कमी है। यही दूरी समाज को नैतिक भ्रम में डालती है।

व्यावहारिक दृष्टि से समाधान आदर्शवादी नारों में नहीं, बल्कि व्यावहारिक कदमों में है। नैतिकता को डर और दण्ड से नहीं, बल्कि विवेक और समझ से जोड़ा जाना चाहिए। शिक्षा में केवल कौशल नहीं, बल्कि नैतिक विवेक और चरित्र निर्माण पर बल होना चाहिए, वह भी बिना धार्मिक कट्टरता के। व्यक्तिगत स्तर पर यह साहस आवश्यक है कि "सब ऐसा करते हैं" के तर्क का विरोध किया जा सके। चाहे ईश्वर–आस्था हो या न हो, व्यक्ति में यह भावना होनी चाहिए कि वह समाज का उत्तरदायी सदस्य है।

आधुनिक समाज नैतिक संकट में अवश्य है, लेकिन यह पतन नहीं, बल्कि परीक्षा है। यह वह समय है जहाँ मानवता को अपनी नैतिक दिशा पुनः स्पष्ट करनी है और विवेक, उत्तरदायित्व और करुणा के आधार पर आगे बढ़ना है।

सच्ची उपासना और उसका महत्व :– सच्ची उपासना का उद्देश्य केवल धार्मिक कर्मकाण्डों का पालन करना नहीं है, बल्कि उससे मनुष्य के ज्ञान, चरित्र और विवेक का समग्र विकास होता है। जब उपासना सही अर्थों में की जाती है, तब वह व्यक्ति के जीवन को नैतिक, बौद्धिक और आत्मिक रूप से उन्नत बनाती है। सच्ची उपासना मनुष्य को अंधविश्वास, दिखावे और रूढ़ियों से दूर रखकर सत्य और विवेक के मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार ईश्वर की सच्ची उपासना बाहरी आडम्बरों में नहीं, बल्कि ज्ञान और आचरण में निहित है। उनके अनुसार वेदों का अध्ययन आवश्यक है, क्योंकि वेद सत्य ज्ञान का मूल स्रोत हैं और मनुष्य को सही जीवन–दृष्टि प्रदान करते हैं। यज्ञ केवल अग्नि में आहुति देने की क्रिया नहीं, बल्कि परोपकार, पर्यावरण की शुद्धि और समाज–कल्याण की भावना का प्रतीक है। इसके साथ–साथ सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और परोपकार जैसे गुणों का आचरण मनुष्य के चरित्र को सुदृढ़ करता है और उसे नैतिक जीवन की ओर ले जाता है। ध्यान द्वारा ईश्वर का स्मरण करने से मन एकाग्र होता है, आत्मसंयम बढ़ता है और विवेक जागृत होता है, जिससे व्यक्ति अपने कर्मों के प्रति अधिक सजग बनता है।

'सत्यार्थ प्रकाश' में महर्षि दयानन्द सरस्वती जी सच्ची उपासना का स्वरूप स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार सच्ची उपासना का आधार ज्ञान, कर्म और ध्यान है, न कि मूर्ति या बाहरी प्रतीक। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं– "ईश्वर की उपासना वेदाध्ययन, यज्ञ, सत्याचरण और ध्यान से होती है, न कि मूर्तियों से।" इस प्रकार महर्षि दयानन्द सरस्वती के विचार यह संदेश देते हैं कि सच्ची उपासना वही है जो मनुष्य को सदाचारी, विवेकशील और समाज के प्रति उत्तरदायी बनाती है तथा उसके जीवन को सही दिशा प्रदान करती है।

इस प्रकार आज के सामाजिक–मानसिक संदर्भ में मूर्तिपूजा को न तो पूर्णतः खारिज किया जा सकता है और न ही प्रश्नातीत माना जा सकता है। संतुलित निष्कर्ष यही है कि श्रद्धा का सम्मान हो, पर तर्क और नैतिक विवेक भी जीवित रहें। मूर्ति यदि किसी के लिए भावनात्मक सहारा है, तो वह निजी स्तर पर स्वीकार्य हो सकती है, पर उसे ईश्वर–प्राप्ति का अंतिम और अनिवार्य साधन मान लेना बौद्धिक और आत्मिक विकास को सीमित कर देता है। दीर्घकालिक समाधान बाह्य प्रतीकों में नहीं, बल्कि ज्ञान, विवेक, नैतिक जीवन और आत्मचिन्तन में निहित है।

सच्ची उपासना का अर्थ है– ईश्वर को केवल मानना ही नहीं, बल्कि उसके बताए हुए नियमों को जीवन में उतारना। महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार ईश्वर की सच्ची उपासना वेदों के अध्ययन से होती है, क्योंकि वेद ज्ञान का मूल स्रोत हैं। यज्ञ के माध्यम से वातावरण की शुद्धि होती है और समाज में परोपकार की भावना विकसित होती है। इसके साथ–साथ सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य और परोपकार जैसे गुणों का आचरण मनुष्य के चरित्र को ऊँचा उठाता है। ध्यान द्वारा ईश्वर का स्मरण करने से मन एकाग्र होता है और आत्मिक शांति प्राप्त होती है, जिससे व्यक्ति अपने कर्तव्यों को सही रूप में निभा पाता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सत्यार्थ प्रकाश में महर्षि दयानन्द सरस्वती जी सच्ची उपासना का स्पष्ट और तर्कपूर्ण स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। उनके अनुसार सच्ची उपासना बाहरी आडम्बरों पर नहीं, बल्कि ज्ञान, कर्म और आचरण पर आधारित होती है। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं– "ईश्वर की उपासना वेदाध्ययन, यज्ञ, सत्याचरण और ध्यान से होती है, न कि मूर्तियों से।" इस प्रकार महर्षि दयानन्द सरस्वती के विचार हमें यह संदेश देते हैं कि सच्ची उपासना वही है, जो मनुष्य को श्रेष्ठ मानव बनाकर समाज और राष्ट्र के कल्याण की ओर अग्रसर करे।

अंततः महर्षि दयानन्द सरस्वती के अनुसार मूर्तिपूजा ऐतिहासिक और सांस्कृतिक कारणों से प्रचलित हो सकती है और भावनात्मक सहारा दे सकती है, किंतु यह बौद्धिक और आत्मिक विकास का अंतिम साधन नहीं है। दीर्घकालिक समाधान, ज्ञान, विवेक, नैतिक जीवन और आत्मचिन्तन में निहित है। यही सत्यार्थ प्रकाश का मूल संदेश है।

निष्कर्ष की ओर :– महर्षि दयानन्द सरस्वती के समय में जो परिस्थिति मूर्तिपूजा की थी, उसे देख कोई भी तत्त्वचिन्तक या तो दार्शनिक पुरुष अवश्य ही उसकी आलोचना करे, यह स्वाभाविक है। किन्तु मूर्तिपूजा जैसे परमोच्च तत्त्व को इस हालत में देख उस परम तत्त्व का ही छेद उदा देना यह तो ऐसा हुआ कि चोर से रक्षण पाने कि लिए रखी लकड़ी से खेलते खेलते यदि बच्चा गीर गया और उसे चोट पहुची तो उस लकड़ी को ही जला दिया। मूर्तिपूजा एक प्रकाश प्रदर्शक टार्च का काम सामान्य मानव के जीवन में करती है। मूर्ति को ही भगवान मन लेना गलत है, किन्तु उस गलतफ़हमी के कारन मूर्तिपूजा का ही उन्मूलन करना गलत है। महर्षि दयानन्द सरस्वती कहते है कि भगवान निराकार, सर्वव्यापक है, पर क्या अनेक आकार बनानेवाला क्या अपने लिए एक आकार नहीं बना सकता? और दूसरी बात भगवान निर्गुण और सगुण दोनों क्यों नहीं हो सकते? एक आदमी जब निद्राधीन है, तो वह उसकी

निर्गुणावस्था हुई और वही आदमी जब काम करने लगता है, किसी के साथ बातें करता है, तो वह उसकी सगुणावस्था हुई या नहीं? उसी प्रकार भगवान भी सगुण और निर्गुण दोनों हो सकते है।

श्रीमद् भगवद्गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण बारहवें अध्याय में कहते है "मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।" (श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय १२, श्लोक २) जो मुझमें मन को एकाग्र करके निरंतर मेरा ध्यान करता है....। इस श्लोक में भगवान व्यक्तोपसना कि बात करते है अर्थात् यह सगुणोपासना हुई और आगे चलकर भगवान श्रीकृष्ण कहते है– क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।। (श्रीमद् भगवद्गीता अध्याय १२, श्लोक ५) अर्थात् निर्गुणोपसना सगुणोपासना से कठिनतर है। सर्व सामान्य मनुष्य के लिए निर्गुणोपासना सरल नहीं है।

साम्प्रत विज्ञान :– आधुनिक विज्ञान भी अब यह सिद्ध कर दिया है कि प्रत्येक अणु अब जीवित है। पहले जो जड़ और चेतन ऐसे दो भिन्न पदार्थ थे, अब वे अचेतन और चेतन बनकर रह कए है। चेतन अर्थात् जो स्वयं गति कर सकता है और अचेतन अर्थात् जिसमें रहे अणु में भी आतंरिक गति तो है (क्योकिं उसमें भी इलेक्ट्रोन, न्युट्रोन और प्रोटोन आदि तरीन तत्त्व है और उसमें भी एलेक्ट्रोन सदा गति करता रहता है), परन्तु जो स्वयं एक स्थान से दुसरे स्थान तक गति नहीं कर सकता। इसलिए उसे जड़ न कहकर अचेतन ऐसा नाम दिया गया, क्योकिं इस एलेक्ट्रोन में गति तो है ही।

वेदों में भले ही मूर्ति का उल्लेख न हो, किन्तु पुरुषसूक्त जैसे सूक्त का अध्ययन करने पर पता चलता है कि उसमें भी पुरुष के आकार कि कल्पना तो है ही।

मानवमन को अपेक्षित ऐसा मनुष्याकार ही ध्यान और चित्त एकाग्रता के लिए अनुकूल है। मूर्तिपूजा नामक ग्रन्थ में परम पूजनीय पांडुरंगशास्त्री आठवले भगवान के मनुष्याकार के बारे में बताते हुए कहते है कि मानव मन को सुसंगत और अनुकूल आकार मनुष्याकार ही है, क्योकिं मनुष्याकार ही मानव मन की भूख है। Whitehead नामक तत्त्वचिन्तक भी कहते है कि " Human form of God is the most intimate form for me." योगदर्शनकार भी बताते है कि "पुरुषविशेषः ईश्वरः" मानव मन की आवश्यकताओं को मनुष्याकार भगवान ही पूर्ण कर सकते है।

अन्तिम निष्कर्ष :–

मानव मन की अपेक्षा, नैतिकता का आधार और उपासना के सन्दर्भ में भगवान के किसी आकार का स्वीकार ही सामान्य जन के लिए उपयुक्त है।

संदर्भ–सूची :–

1. 'सत्यार्थ प्रकाश' एकादश समुल्लास (११वाँ) उद्धरणः"जो पत्थर, मिट्टी, धातु, काष्ठ आदि से बनाई जाए, वह ईश्वर नहीं हो सकती।" भावार्थ : जो वस्तु मनुष्य द्वारा बनाई जाए, वह ईश्वर नहीं हो सकती, क्योंकि ईश्वर तो अजन्मा और बनाने वाला है।
2. 'सत्यार्थ प्रकाश' एकादश समुल्लास (११वाँ) उद्धरण : "यदि मूर्ति ईश्वर होती, तो वह अपने आप बोलती, चलती, रक्षा करती।" भावार्थ : जिसे पुजारी, दीपक, नैवेद्य और रक्षा की आवश्यकता पड़े, वह ईश्वर नहीं हो सकता।
3. सत्यार्थ प्रकाश' चतुर्थ समुल्लास (४था) उद्धरण : "ईश्वर का शरीर नहीं, वह निराकार, सर्वव्यापक और चेतन है।

सन्दर्भग्रन्थसूची :–

1. सत्यार्थ प्रकाश : महर्षि दयानन्द सरस्वती विरचित, संस्करण : सप्तम, विक्रमाब्द २०५४, प्रकाशक : रतनप्रकाश अं. गुप्ता, प्रमुख, आर्यसमाज, महर्षि दयानन्द मार्ग, रायपुर दरवाजा बाहर, अहमदाबाद– ३८००२२,
2. श्रीमद् भगवद्गीता : मूल, मझला, सजिल्द, प्रकाशक : गोविन्दभवन– कार्यालय, गीताप्रेस, गोरखपुर, मुद्रक : गीताप्रेस, गोरखपुर, प्रथम संस्करण, वि. सं. २०५०
3. मनुस्मृति : (मेधातिथिभाष्यसमेता), संपादक : गंगानाथ झा, प्रथम खंड (प्रकरण १ से ६) प्रकाशक : परिमल पब्लिकेशन, २७/२८ शक्तिनगर, दिल्ही– ११०००७, मुद्रक : विशाल कौशिक प्रिंटर्स, नजदीक G.T.B. अस्पताल, जगतपुरी विस्तार, दिल्ही– ६३, वि. सं. २०१२
4. मूर्तिपूजा : (परम पूजनीय पांडुरंगशास्त्री आठवले के प्रवचनों में से संकलित), सद्विचार दर्शन ट्रस्ट, प्रकाशक : श्री वल्लभदास झवेरी, विमलज्योति, ६/८ डॉ. विल्सन स्ट्रीट, वी. पी. रोड, मुंबई– ४००००४, मुद्रक : श्रीकृष्ण विश्वनाथ लिमये, इंडिया प्रिंटिंग प्रेस, ६, महाराष्ट्र चेंबर ऑफ़ कामर्स मार्ग, फोर्ट, मुंबई– ४०००२३, द्वितीय आवृत्ति, सितम्बर १९८८,

विशिष्ट शिक्षक-छात्र (दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों) के मध्य अंतःक्रिया : एक वृत्तात्मक अध्ययन

डॉ. राम कुमार मानिक*

सारांशः– शिक्षा दिव्यांग विद्यार्थियों को उनकी क्षमताओं के अनुरूप विकास के अवसर प्रदान करती है। प्रस्तुत अध्ययन विशिष्ट शिक्षकों तथा दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों के मध्य अंतःक्रिया का विश्लेषण करने हेतु किया गया है। वाराणसी जनपद के चार विशिष्ट माध्यमिक विद्यालयों के 104 विद्यार्थियों (51 दृष्टिबाधित, 53 श्रवणबाधित) एवं 15 विशिष्ट शिक्षकों पर मिश्रित–विधि से किए गए इस अध्ययन के परिणाम बताते हैं कि शिक्षक–छात्र अंतःक्रिया अत्यधिक सकारात्मक एवं सक्रिय है। मात्रात्मक आँकड़ों के अनुसार 100% विद्यार्थी अभिप्रेरण, भावनाओं की स्वीकार्यता, प्रशंसा एवं दिशा–निर्देशों से सहमत हैं। गुणात्मक विश्लेषण में स्पर्शीय, दृश्य–श्रव्य शिक्षण सामग्री, समावेशी शिक्षण विधियों तथा पुनर्बलन रणनीतियों का प्रभावी उपयोग पाया गया। तथापि, संसाधनों की कमी एवं पुरानी सामग्री कुछ विद्यालयों में बाधक रही।

शब्द–सूची :– विशिष्ट शिक्षक–छात्र अन्तःक्रिया, दृष्टिबाधित, श्रवणबाधित, शिक्षण–अधिगम सामग्री, मिश्रित शोध उपागम।

प्रस्तावना– शिक्षा मानव सभ्यता का वह आधार स्तंभ है जो व्यक्ति को उसकी क्षमताओं के पूर्ण विकास हेतु मार्गदर्शन प्रदान करता है। यह केवल सूचनाओं के संचार का माध्यम नहीं है, बल्कि बालकों को उनकी अंतर्निहित क्षमताओं के अनुरूप सर्वश्रेष्ठ प्राप्त करने के साधनों का अधिकार देने वाली प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में शिक्षक की भूमिका केन्द्रीय एवं अपरिहार्य होती है। विशेष रूप से दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों के संदर्भ में, जहाँ संवेगात्मक, शारीरिक एवं संज्ञानात्मक चुनौतियाँ अधिगम को जटिल बनाती हैं, शिक्षक की भूमिका और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है। एक प्रभावी विशिष्ट शिक्षक में न केवल विषयगत ज्ञान, अपितु विशिष्ट कौशल, मानवीय मूल्यों की गहरी समझ एवं सहानुभूति का समावेश होना आवश्यक है (सिंह, 2013)।

दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थी अक्सर सीखने की प्रक्रिया में अनूठी बाधाओं का सामना करते हैं। उदाहरणार्थ, दृष्टिबाधित विद्यार्थी स्थानिक अवधारणाओं (चंजपंस बवदबमचजे) तथा ग्राफ़िक निरूपणों को समझने में कठिनाई अनुभव करते हैं, जबकि श्रवणबाधित विद्यार्थी भाषा विकास, ध्वन्यात्मक जागरूकता तथा अमूर्त अवधारणाओं के अर्जन में चुनौतियों का सामना करते हैं। ऐसे में, केवल पारंपरिक शिक्षण विधियाँ प्रभावी नहीं रहतीं। विशिष्ट शिक्षकों को शिक्षण–अधिगम सामग्री के चयन, शिक्षण विधियों के अभिकल्पन तथा कक्षा अंतःक्रिया के स्वरूप में उल्लेखनीय अनुकूलन करना पड़ता है। शिक्षक–छात्र अंतःक्रिया किसी भी शैक्षिक परिवेश का मूल आधार है। यह अंतःक्रिया न केवल शैक्षिक उपलब्धि को प्रभावित करती है, बल्कि विद्यार्थियों के आत्म–सम्मान, सामाजिक कौशल एवं भावनात्मक स्थिरता पर भी गहरा प्रभाव डालती है। विशिष्ट शिक्षा के संदर्भ में, यह अंतःक्रिया और भी अधिक सूक्ष्म एवं बहुआयामी हो जाती है। शिक्षक को एक साथ मार्गदर्शक, सहायक, संवादक और प्रेरक के रूप में कार्य करना पड़ता है। इस अंतःक्रिया की गुणवत्ता ही यह निर्धारित करती है कि दिव्यांग विद्यार्थी सीखने की प्रक्रिया में कितने सहज, सुरक्षित एवं प्रेरित अनुभव करते हैं।

वर्तमान समय में समावेशी शिक्षा के प्रयासों ने गति पकड़ी है। भारत में दिव्यांगजन अधिकार अधिनियम (2016) और समग्र शिक्षा अभियान ने विशिष्ट आवश्यकता वाले बच्चों को मुख्यधारा में लाने के

***पूर्व शोधार्थी, शिक्षाशास्त्र विभाग, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी।**

लिए अनेक नीतिगत प्रावधान किए हैं। तथापि, नीतियों का ज़मीनी क्रियान्वयन एवं कक्षा–कक्ष में वास्तविक अंतःक्रिया का स्वरूप अभी शोध का विषय बना हुआ है। यह जानना आवश्यक है कि विशिष्ट शिक्षक इन विद्यार्थियों के साथ किस प्रकार संवाद करते हैं, किन शिक्षण–विधियों एवं सामग्रियों का प्रयोग करते हैं, तथा इस अंतःक्रिया के दौरान किन समस्याओं का सामना करते हैं। इस संदर्भ में, पियाजे का संज्ञानात्मक विकास मॉडल प्रासंगिक है। पियाजे के अनुसार, ज्ञानेन्द्रिय हस्तकौशल बच्चों के संज्ञानात्मक विकास का आधार है। दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित बच्चों के लिए, जहाँ एक इन्द्रिय प्रभावित होती है, शेष इन्द्रियों के माध्यम से अधिगम की प्रक्रिया और भी महत्त्वपूर्ण हो जाती है (सिंह, 2013)। अतः स्पर्श, अवशेष दृष्टि, या अवशेष श्रवण के साथ–साथ स्वाद, गंध और गति जैसे संवेदी अनुभवों का एकीकृत उपयोग आवश्यक है। यह सिद्धांत बताता है कि शिक्षण–अधिगम सामग्री का चयन और प्रयोग किस प्रकार किया जाना चाहिए।

इसी प्रकार, व्यवहारवादी सिद्धांत के अनुसार, पुनर्बलनदृ चाहे सकारात्मक हो या नकारात्मक दृ व्यवहार एवं अधिगम को आकार देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है। विशिष्ट विद्यार्थियों के लिए, जहाँ सीखने की प्रेरणा को बनाए रखना अक्सर चुनौतीपूर्ण होता है, शिक्षकों द्वारा दी जाने वाली प्रशंसा, पुरस्कार एवं सकारात्मक प्रतिक्रिया अत्यंत प्रभावी पुनर्बलक के रूप में कार्य करती है। सोनकर (2022) के अध्ययन में भी यह पाया गया कि महिला शिक्षकों के मध्य पुनर्बलन रणनीतियाँ अधिक सफल रहीं।

वैश्विक शोध साहित्य इस बात की पुष्टि करता है कि विशिष्ट विद्यार्थियों के लिए शिक्षक–छात्र अंतःक्रिया की गुणवत्ता, उनकी शैक्षिक उपलब्धि और सामाजिक समायोजन का सबसे मजबूत भविष्यवक्ता है। यह अंतःक्रिया जितनी अधिक सकारात्मक, संवादात्मक एवं विद्यार्थी–केन्द्रित होगी, विद्यार्थियों का आत्मविश्वास एवं अधिगम उतना ही अधिक प्रभावी होगा। भारतीय परिप्रेक्ष्य में, विशेषकर वाराणसी जैसे ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक नगर में स्थित विशिष्ट विद्यालयों की अंतःक्रिया प्रक्रियाओं का अध्ययन और भी अधिक प्रासंगिक हो जाता है, क्योंकि यहाँ परम्परागत एवं आधुनिक शिक्षा के तत्व एक साथ कार्य करते हैं।

प्रस्तुत अध्ययन का प्रथम शोध उद्देश्य इन्हीं आयामों को स्पष्ट करना है। यह अध्ययन निम्नलिखित मूलभूत प्रश्नों के उत्तर खोजने का प्रयास करता हैः

- विशिष्ट शिक्षक एवं दृष्टिबाधित/श्रवणबाधित विद्यार्थी के मध्य अंतःक्रिया की प्रकृति क्या है?
- इस अंतःक्रिया में शिक्षक किन शिक्षण–विधियों एवं सामग्रियों का प्रयोग करते हैं?
- इस अंतःक्रिया के दौरान शिक्षकों एवं विद्यार्थियों को किन समस्याओं का सामना करना पड़ता है?
- विद्यार्थी इस अंतःक्रिया को किस प्रकार अनुभव करते हैं?

उक्त प्रश्नों का उत्तर देने के लिए प्रस्तुत शोध अध्ययन के अंतर्गत मिश्रित शोध उपागम का उपयोग किया गया है, जहाँ मात्रात्मक आँकड़े अंतःक्रिया के व्यापक स्वरूप को प्रकट करते हैं, जबकि गुणात्मक आँकड़े इसके गहरे आयामों एवं प्रासंगिक बारीकियों को उजागर करते हैं। इस प्रकार, यह अध्ययन न केवल विशिष्ट शिक्षा के क्षेत्र में सैद्धांतिक योगदान देगा, अपितु शिक्षकों, नीति–निर्माताओं एवं शोधकर्ताओं के लिए व्यावहारिक मार्गदर्शन भी प्रदान करेगा।

शोध विधि एवं प्रक्रिया :– प्रस्तुत अध्ययन वर्णनात्मक प्रकृति का है। मिश्रित शोध उपागम के अंतर्गत व्याख्यात्मक अनुक्रमिक अभिकल्प का चयन किया गया है। प्रथम चरण में मात्रात्मक आँकड़े संकलित एवं विश्लेषित किए गए, तत्पश्चात द्वितीय चरण में गुणात्मक आँकड़े संकलित कर विश्लेषण किया गया है।

जनसंख्या एवं प्रतिदर्श :– प्रस्तुत शोध के अंतर्गत वाराणसी जनपद के चारों विशिष्ट माध्यमिक विद्यालयों दृ हनुमान प्रसाद पोद्दार अंध इंटरमीडिएट कॉलेज, जीवन ज्योति स्कूल फॉर द ब्लाइंड, नववाणी स्कूल फॉर द हियरिंग इम्पेर्ड, बिमल चंद्र घोष स्कूल फॉर द डेफ दृ के समस्त 104 विद्यार्थी (51 दृष्टिबाधित, 53 श्रवणबाधित) एवं 15 विशिष्ट शिक्षकों को सम्पूर्ण जनसंख्या से प्रतिदर्श में शामिल किया गया।

शोध उपकरण :– प्रस्तुत शोध प्रश्न के अध्ययन हेतु उक्त उपकरणों का निर्माण किया गया है और उपकरणों की विषयगत एवं रूप वैधता विशेषज्ञों द्वारा सुनिश्चित की गयी है–

- दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों की शिक्षण–अधिगम समस्या संबंधित स्वनिर्मित प्रश्नावलीः अर्ध–विच्छेदन विधि द्वारा विश्वसनीयता गुणांक 0.79 पाया गया।
- स्वनिर्मित अर्धसंरचित शिक्षक साक्षात्कार अनुसूची।
- विद्यालय अवलोकन अनुसूची।

आँकड़ों का विश्लेषण :– मात्रात्मक आँकड़ों हेतु प्रतिशत, माध्य, मानक विचलन एवं टी–परीक्षण का प्रयोग किया गया। गुणात्मक आँकड़ों हेतु श्रवीदेवद– बैतपेजमदेमद (2012) की गुणात्मक शोध प्रक्रिया का अनुसरण कर थीमों का निर्माण किया गया।

परिणाम एवं विवेचना :– प्राप्त आकंड़ो की विवेचना मात्रात्मक एवं गुणात्मक आधार पर किया गया है।

मात्रात्मक परिणाम :– सारणी 1 दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों (छ = 104) के उत्तरों का सारांश प्रस्तुत करती है।

सारणी–1 शिक्षक–छात्र अंतःक्रिया से संबंधित मात्रात्मक आँकड़े

पद सं.	कथन	सहमत (%)	असहमत (%)	तटस्थ (%)
1	शिक्षक अभिप्रेरित करते हैं	100%	–	–
2	शिक्षक भावनाओं को स्वीकारते हैं	100%	–	–
3	प्रश्न पूछने का अवसर	93%	7%	–
4	कार्यों की प्रशंसा	100%	–	–
5	गलत उत्तर पर आलोचना	89%	11%	–
6	आवश्यक दिशा–निर्देश	100%	–	–
7	नई पहल का स्वागत	100%	–	–
8	सही सुझावों को स्वीकार	85%	15%	–
9	शंका का कारण पूछना	92%	8%	–
10	प्रकरण दुबारा समझाना	86%	14%	–

विवेचना :– सारणी 1 से स्पष्ट है कि अधिकांश विद्यार्थी शिक्षक–छात्र अंतःक्रिया को सकारात्मक मानते हैं। पद 1, 2, 4, 6, 7 पर 100þ सहमति यह दर्शाती है कि विशिष्ट शिक्षक अभिप्रेरण, भावनात्मक स्वीकार्यता, प्रशंसा एवं दिशा–निर्देशन में पूर्णतः सक्रिय हैं। पद 3 (93þ), 9 (92þ), 10 (86þ) एवं 8 (85þ) पर उच्च सहमति प्रश्नोत्तर, शंका–समाधान, पुनरावृत्ति एवं सुझावों के सम्मान में प्रभावी अंतःक्रिया को इंगित करती है। लगभग 11–15þ विद्यार्थियों की असहमति आलोचना के स्वरूप एवं सुझावों की स्वीकार्यता में सुधार की गुंजाइश बताती है।

गुणात्मक परिणाम :– विशिष्ट शिक्षकों के साक्षात्कार एवं विद्यालय अवलोकन से निम्न मुख्य थीम शोधार्थी द्वारा बनायी गयी है, जो कि इस प्रकार हैं–

थीम 1: शिक्षण–अधिगम सामग्रीदृ शिक्षक स्पर्शीय (उभरे ग्लोब, ब्रेल बुक, वास्तविक वस्तुएं), दृश्य (रंगीन रेखाचित्र, सांकेतिक भाषा मानचित्र) एवं श्रव्य (एमपी–3 प्लेयर, ऑडियो रिकॉर्डर) सामग्रियों का प्रयोग करते हैं। यह पियाजे के संज्ञानात्मक विकास मॉडल के अनुरूप है, जहाँ ज्ञानेन्द्रिय हस्तकौशल संज्ञानात्मक विकास में सहायक होते हैं (सिंह, 2013)।

थीम 2: शिक्षण विधियाँदृ व्याख्यान, प्रश्नोत्तर, करके सीखना, अंश–से–पूर्ण, खेल विधि, सांकेतिक विधि, पूर्ण सम्प्रेषण विधि एवं सूझ विधि का प्रयोग किया जाता है।

थीम 3: अंतःक्रिया के समक्ष समस्याएँदृ शारीरिक (शारीरिक अक्षमता, संवेदात्मक अस्थिरता) एवं शैक्षिक (गलत उच्चारण, अधूरे उत्तर, गणित/विज्ञान की कठिन अवधारणाएँ) समस्याएँ पाई गईं।
थीम 4: अभिप्रेरण एवं पुनर्बलनदृ सफल दिव्यांग व्यक्तियों (लुई ब्रेल, स्टीफन हॉकिंग, सुधा चंद्रन आदि) की कहानियाँ, ताली, पीठ थपथपाना, मौखिक प्रशंसा ('शाबाश', 'वेरी गुड') एवं पुरस्कार प्रभावी पाए गए।
थीम 5: विद्यालय अवलोकनदृ मिशनरी द्वारा संचालित विद्यालयों में रैंप, रेलिंग, ब्रेल लेबल, पुस्तकालय, प्रयोगशाला आदि सुविधाएँ उपलब्ध थीं, जबकि भारतीय अनुदानित विद्यालयों में संसाधनों की कमी पाई गई। शिक्षक–छात्र संबंध मैत्रीपूर्ण एवं सहयोगात्मक थे। यह निष्कर्ष सोनकर (2022, उद्धृत) के अध्ययन के अनुरूप है, जिसमें भी सक्रिय अंतःक्रिया देखी गई।

निष्कर्ष :– प्रस्तुत अध्ययन में पाया गया कि दृष्टिबाधित एवं श्रवणबाधित विद्यार्थियों तथा उनके विशिष्ट शिक्षकों के मध्य अंतःक्रिया अत्यधिक सकारात्मक, सक्रिय एवं बहुआयामी है। विद्यार्थी स्वयं को अभिप्रेरित, भावनात्मक रूप से स्वीकृत एवं शैक्षिक रूप से समर्थित अनुभव करते हैं। शिक्षक विभिन्न संवेदी सामग्रियों एवं समावेशी विधियों का प्रभावी उपयोग करते हैं। तथापि, गैर–मिशनरी विद्यालयों में संसाधनों की कमी, शिक्षण–अधिगम सामग्री का पुराना होना तथा कुछ भाषाई एवं अवधारणात्मक कठिनाइयाँ अंतःक्रिया में बाधक हैं।

शैक्षिक निहितार्थ :– प्रस्तुत शोध अध्ययन से प्राप्त शैक्षिक निहितार्थ इस प्रकार हैं–

- सभी विशिष्ट विद्यालयों को समान रूप से पर्याप्त एवं आधुनिक शिक्षण–अधिगम सामग्री (ब्रेल प्रिंटर, टॉकिंग कंप्यूटर, सांकेतिक भाषा ऐप्स) उपलब्ध कराई जाए।
- विशिष्ट शिक्षकों को सहायक तकनीकी उपकरणों के प्रशिक्षण हेतु आवधिक कार्यशालाएँ आयोजित की जाएँ।
- गणित एवं विज्ञान हेतु विशेष स्पर्शीय एवं दृश्य–श्रव्य किट विकसित कर नियमित उपयोग सुनिश्चित किया जाए।
- विद्यालयों में सार्वभौमिक अभिकल्प के तहत स्थायी एवं सुरक्षित अवसंरचना (रैंप, रेलिंग, ब्रेल साइनेज) सुनिश्चित की जाए, विशेषकर भारतीय अनुदानित विद्यालयों में।

संदर्भ–सूची :–

1. क्रेसवेल एवं क्लार्क, जे.डब्लू और प्लानों.(2014). एजुकेशनल रिसर्च : प्लानिंग, कंडक्टिंग एंड एवैलुएटिंग क्वांटिटेटिव एंड क्वालिटेटिव रिसर्च, (चतुर्थ संस्करण) पियर्सन इंडिया एजुकेशन सर्विसेज प्राइवेट लिमिटेड।
2. गुप्ता, प्रो एस पी (2015). अनुसंधान संदर्शिका,शारदा पुस्तक सदन,प्रयागराज।
3. तिवारी, एस. के. (2022). विशिष्ट आवश्यकता वाले विद्यार्थियों का समावेशनःकुछ वृत्तात्मक अध्ययन, शोध प्रबंध, शिक्षा विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय विश्व विद्यालय, वर्धा, महाराष्ट्र।
4. दिव्यांगजनों के अधिकार अधिनियम, 2016 अधिनियम संख्या 49 ीजजचेः//ूपदकपंबवकम.दपब.पद/ींदकसम/123456789/15119?सवबंसम=ीप से नवंबर 3, 2025 को पुनर्प्राप्त.
5. यादव, के. एवं नायक, जी.पी. (2009). दृष्टिबाधित, मूकबधिर एवं सामान्य विद्यार्थियों के समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन, परिप्रेक्ष्य, 16(3), 43–52. ीजजचः//ूदपमचं.ब.पद/क्वूदसवंक/च्नइसपबंजपवदे/च्तपचमोीलं/च्तपचमोीलंक्मबमउइमत2009.च्कि से नवंबर 3, 2020 को पुनर्प्राप्त.
6. शिक्षा का अधिकार अधिनियम (2009). निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का अधिकार. ीजजचेः//ूमकनबंजपवद.हवअ.पद/पजमे/नचसवंक–पिसमे/उीतक/पिसमे/नचसवंक–कवबनउमदज/तजम.चकि से मार्च 7, 2020 को पुनर्प्राप्त.
7. सिंह, ए. के. (2013). शैक्षिक मनोविज्ञान. मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स.
8. सोनकर, सत्य प्रकाश (2022). वाराणसी जनपद के माध्यमिक विद्यालयों में अध्ययनरत विज्ञान शिक्षकों की कक्षा अन्तःक्रिया का विश्लेषणात्मक अध्ययन, शोध प्रबंध, शिक्षा संकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी। (अप्रकाशित शोध प्रबंध)।

आरोप और बचाव के बीच 'सआदत हसन मंटो'

अनुज यादव*
प्रो. कमलेश कुमारी**

उर्दू गज़ल में आपने ग़ालिब और मीर का नाम सुना होगा संभव है कि उनके कुछ शेर भी याद हों ठीक ऐसे ही उर्दू गद्य के लिए सआदत हसन मंटो का नाम अविस्मरणीय है। मुमकिन है कि मंटो को आम जनमानस में 'फ़हश' या 'अश्लील' लिखने हेतु जाना जाता हो आम धारणा यह भी हो सकती है कि अश्लीलता के कारण ही उनकी कहानियों पर कोर्ट केस और जुर्माने हुए, मंटो को सजा तक हुई, जो कि बहुत ठीक भी है। शील और अश्लील की बहस बहुत लंबी है, मंटो ने इसके बचाव में अनेक तर्क भी प्रस्तुत किए हैं। इस शोधालेख के द्वारा हम मंटो के लेखन पर विहंगम दृष्टि डालते हुए मंटो को समग्रता में समझने का प्रयास करेंगे।

मंटो मुख्य रूप से अफसाना निगार था इसे कहानीकार भी कहा जा सकता है। मंटो ने 270 कहानियों के साथ–साथ एक उपन्यास, कई रेखाचित्र, 100 से अधिक रेडियो नाटक व अनेक फिल्मों की कहानियां भी लिखीं जिनमें 'मिर्जा ग़ालिब' उल्लेखनीय है। मंटो असल में लेखक कम बागी अधिक था। संभव है कि प्रेमचंद पहले साहित्यकार थे जो साहित्य से सिनेमा में गए और मंटो ऐसे जो सिनेमा से साहित्य में आए। सिनेमा में बतौर डायलॉग राइटर उनकी बहुत ख्याति रही। इसी कारण से प्रभावशाली संवाद योजना को उनकी कहानियों में भी देखे जा सकता हैं। जिस प्रकार की फ़िक्रेबाजी मंटो को आती थी, शायद ही उस समय कोई लेखक कर पाया हो। टाइपराइटर पे कागज़ चढ़ाया और सामने वाले से कहे कि कोई भी शब्द दो या वाक्य बोलो और कहानी उसी चीज़ को केंद्र में रख कर लिख दी जाती थी।

मंटो को जीते–जी पतन–प्रेमी करतबबाज, अश्लील लिखनेवाले, प्रतिक्रियावादी, अर्धराजनीतिक और असाहित्यक न जाने क्या क्या कहा गया। "इसमें शक नहीं कि मंटो के अनुभवों का संसार बहुत व्यापक नहीं था, और उसकी सृजनात्मक चेतना में, उसके मानसिक संबंधों और दृष्टिकोण में वह दार्शनिक गहराई भी न थी जिसका संकेत हम विश्व–साहित्य की विभूतियों की रचनाओं में पाते हैं। लेकिन अपनी सीमाओं के बावजूद मंटो के अनुभव डेटेड या देश–काल के किसी बँधे टिके दायरे के कैदी नहीं हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक और मानसिक इतिहास मंटो की कहानियों को एक पृष्ठभूमि या संदर्भ तो अवश्य प्रदान करता है, मगर यह इतिहास उसकी चेतना की जंजीर नहीं बनता। मंटो जिस आसानी और सादगी के साथ अपने युग और अपने परिवेश के दायरे में कदम रखता है, उसी सहज और स्वाभाविक ढंग से उस दायरे को पार भी कर जाता है। देश–काल के तर्क मंटो की मजबूरी नहीं बनने पाते। इसीलिए मंटो, व्यापकतर अध्ययन से लाभान्वित और देखने में चिंतन के श्रेष्ठतर साधनों से संपन्न बहुत–से वयस्क दिखनेवाले साहित्यकारों की अपेक्षा, जीवित रहने और अर्थपूर्ण बने रहने की कहीं अधिक शक्ति और क्षमता रखता है।"[1]

मंटो की क्लॉज रीडिंग से पता चलता है कि मानव के लिए उसके मन में संवेदना के साथदृसाथ प्रेम भी था। मंटो वैश्या का भाई भी था बेटा भी। मंटो ने रूसी साहित्य का गहन अध्ययन किया था उसने कई रूसी पुस्तकों का अनुवाद भी किया था। गोर्की ने कभी घर बैठ कर कोई अफसाना नहीं लिखा ठीक उसकी प्रकार मंटो भी फील्ड का लेखक था। उपेंद्रनाथ अश्क ने कहा है कि "मैने मंटो को घटिया भटियारखनों और ऐसी जगह में भी देखा है जहां कोई सोच ही नहीं सकता"[2] असल में यही मंटो के अनुभव संसार का भाग था जो उसके दिमाग में भरे हुए खून से उसके अफसानों की स्याही में परिणित

* शोधार्थी हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, महेंद्रगढ़
** आचार्य एवं विभागाध्यक्ष हिंदी विभाग हरियाणा केंद्रीय विश्वविद्यालय, महेंद्रगढ़

हुआ। मंटो की शैली में जो बेबाकियत या निडरता दिखती है वही उसे सआदत हसन को धुंधला करके मंटो को प्रकाशित करती है। मंटो ने अपने मज़ाकिया अंदाज़ में लिखे आत्मकथात्मक अंश में व्यंग्यात्मक टिप्पणी की है कि इस बात की "पूरी सम्भावना है कि सआदत हसन मर जाए और मंटो ज़िंदा रहे"ङ लेकिन वह सफ़ेदी और जर्दी, दोनों ही से अलग किसी अंडे के खोल की तरह होगा। मंटो का किस्सा 11 मई, 1912 को शुरू हुआ और इसका आखिरी पृष्ठ 1955 को मंटो की मौत के साथ बंद हो गया। 42 साल 8 महीने और 7 दिन के इस जीवन में मंटो ने कई कैरक्टर्स को अमर कर दिया। कोई भी उर्दू साहित्य का पाठक मंटो की कहानी 'हतक' को हो सकता है कि ना जाने पर उसे सौगंधी जरूर याद रहेगी, खुशिया भी ऐसा ही अविस्मरणी पात्र है। विभाजन की त्रासदी को मंटो के साहित्य को छोड़ कर समझा नहीं जा सकता। मंटो की अनेक कहानियां विभाजन की त्रासदी झेल रहे लोगों का केनवास पर चित्र खींचती है जरूरी नहीं है कि ये चित्र खूबसूरत हो पर पर सच्चा और घिनौना जरूर होता है। मंटो की कहानी खोल दो में हैवानियत शीर्ष पर देखी जा सकती है। मंटो की अनेक कहानियां पाठक को अपने पास बुलाया गाल पे तमाचा रसीद करती हैं असल में ये तमाचा सोसाइटी के ऊपर होता है। 'खोल दो' कहानी में एक बूढ़ा बाप सरदार सिराजुद्दौला अपनी बेटी सक़ीना को ढूँढता फिरता है। अफ़रा–तफ़री और दंगों के बीच बेटी कहीं गुम हो जाती है और उसकी मां का क़त्ल कर दिया जाता है। पिता उम्मीद लगाए रखता है कि कोई न कोई उसे सकुशल लौटा देगा, पर जिन लोगों ने उसे देखा, उनके शब्दों से साफ़ होता है कि उसके साथ अमानवीय अत्याचार हुआ है। आख़रिकार सक़ीना को घायल हालत में अस्पताल लाया जाता है। वहाँ जब डॉक्टर कमरे में रोशनी करने के लिए सिराजुद्दीन को खिड़की खोलने को कहते हैं– "खोल दो"कृतो सक़ीना अपनी शालावार का नाड़ा खोलने लगती है। वर्णन इस प्रकार है– "डाक्टर ने जिसने कमरे में रोशनी की थी सिराजुद्दीन से पूछा, "क्या है?" सिराजुद्दीन के हलक़ से सिर्फ़ इस क़दर निकल सका, "जी मैं... जी मैं... इसका बाप हूँ!"

डाक्टर ने स्ट्रेचर पर पड़ी हुई लाश की तरफ़ देखा। उसकी नब्ज़ टटोली और सिराजुद्दीन से कहा, "खिड़की खोल दो।" सकीना के मुर्दा जिस्म में जुंबिश पैदा हुई। बेजान हाथों से उसने इज़ारबंद खोला और शलवार नीचे सरका दी। बूढ़ा सिराजुद्दीन ख़ुशी से चिल्लाया, "ज़िंदा है... मेरी बेटी ज़िंदा है..." डाक्टर सर से पैर तक पसीने में ग़र्क़ हो गया।"□ कहानी में आयरनी ये है कि जो नौजवान लड़के लोगों की सहायता करते हैं वे ही सकीना के साथ बलात्कार करते हैं इसकी चरम सीमा इस बात से समझी जा सकती है कि 'खोल दो' सुनने पर सकीना कोई विरोध नहीं करती और अपनी शलावार का नाड़ा खोल देती है, सजग पाठक के मन में प्रश्न उठ सकता है कि यदि उसके साथ ज्यादती हुई थी तो ज्यादती करने वाले उसे शलवार खोलने के लिए क्यों कहेंगे परंतु हमें ये ध्यान रखना होगा कि सकीना उस ज्यादती की इतनी अभ्यस्त हो गई थी कि खोल दो का उसके लिए एक ही अर्थ रह गया था। यदि मंटो कि जगह यहाँ मोपासा होता तो शायद कहानी को यहीं छोड़ देता पर मंटो का सिराजुद्दीन से 'जिंदा है....मेरी बेटी जिंदा है' कहलवाना और भी ह्रदय विदारक हो जाता है। मंटो के अफसाने मोहब्बत से पुर होते है पर यह मोहब्बत आम नहीं होती। बकौल मंटो "किसी लड़के को लड़की से इश्क़ हो जाए तो मैं उसे ज़ुकाम के बराबर भी अहमियत नहीं देता" मंटो को सामान्य से प्रेम नहीं है पर वे चीज़ें जो समाज में हिकारत भरी होकर भी सामान्य हैं, मंटो को अंदर तक कचोटती हैं। मुमताज शिरीन कहती हैं– "मंटो को किस बात ने मुमकिन बनाया? उनका साहित्यिक ख़ज़ाना ही एक अनुमानित जवाब की खोज शुरू करने के लिए सबसे अच्छी जगह है। मंटो में अपनी प्रतिभा और इतिहास में अपनी जगह को लेकर ऊँचे ख़यालात थे। उनकी तुलना गाई दि मोपासाँ से की गई है। इसलिए नहीं कि उन्होंने इस फ्रांसीसी कहानीकार का सचेत रूप से अनुकरण किया, बल्कि इसलिए कि मोपासाँ की तरह उन्होंने भी मनुष्यों के भीतर की सुन्दरता में विश्वास खोए बिना, सामाजिक बीमारियों और जीवन के पाखंड को उजागर करने को अपना लक्ष्य बनाया''।

राम खेलावन में मंटो का बहुत प्यारा और अंडररेटेड अफसाना है इसमें एक बेहद ईमानदार और मेहनती हिंदू धोबी था, राम खेलावन। एक नवविवाहित मुस्लिम जोड़े के जो भी कपड़े वह धोता था, उसका हिसाब–किताब रखने से उसने इंकार कर दिया था क्योंकि वह उस आदमी के बड़े भाई का ऋणी था,

जिसके लिए उसने सालों तक काम किया था। उस मुस्लिम दम्पति ने रुपये–पैसे और हर तरह की मदद से उसके भरोसे का प्रतिदान दिया। जब खेलावन ज़हरीली शराब पीने के बाद गंभीर रूप से बीमार पड़ा, तो उस आदमी की पत्नी उसे टैक्सी से डॉक्टर के पास ले गई थी। वह दुश्वारियों से बच गया और फिर उसने पूरी तरह से शराब छोड़ दी, जो कि उस शख्स के लिए तो कतई आसान नहीं था जिसे हर रोज़ पानी में घंटों खड़े रहना पड़ता हो। विभाजन और उसके साथ शुरू हुई हिंसा के बाद स्त्री लाहौर चली गई और तब पति ने देखा कि खेलावन ने फिर से बोतल थाम ली है। जब शहर में हालात बहुत ख़राब हो गए, तो पति ने भी लाहौर जाने का फैसला कर लिया। चूँकि उसके कपड़े धोबी के पास थे, उसने कर्फ्यू लगने से पहले उन कपड़ों को वहाँ से ले आने का फैसला किया। धोबी की बस्ती के नज़दीक पहुँचने पर उसने हाथों में लम्बी और भारी–भरकम लाठियों के साथ नाचते बाशिंदों के एक समूह को देखा। वे सबके सब नशे में झूम रहे थे। उसने पूछा कि क्या वे राम खेलावन को जानते हैं और जवाब में पलटकर उससे पूछा गया कि वह हिंदू है या मुसलमान। उसने कहा, "मैं मुसलमान हूँ" उधर से आवाज़ आई, "मारो, मारो, ज़िंदा मत छोड़ो"। इसी बीच उसकी नज़र नशे में धुत्त राम खेलावन पर गई। वह बुरी तरह लड़खड़ा रहा था, लेकिन एक मोटी लाठी को हवा में लहराते हुए मुसलमानों के ख़लिाफ़ भद्दी–भद्दी गालियाँ बक रहा था। आदमी ने उसका नाम लेकर पुकारा। रामखिलावन ने वार के लिए डंडा उठाया। एकदम उसकी आँखें सुकड़ीं, फिर फैलीं, फिर सुकुड़ीं। डंडा हाथ से गिराकर उसने क़रीब आकर मुझे गौर से देखा और पुकारा : "साब...!" फिर वह दूसरे धोबियों से मुखातिब हुआ : "यह मुसलमीन नहीं मेरा साब है, बेगम साब का साब... वह मोटर लेकर आया था... डाकडर के पास ले गया था... जिसने मेरा जुलाब ठीक किया..."। उसकी बातों का कोई असर नहीं हुआ और धोबियों के बीच बहस–मुबाहिसा, धक्का–मुक्की शुरू हो गई। मौक़ा देखकर नैरेटर चुपचाप वहाँ से खिसक गया। अगले दिन, जब वह टिकट मिलने का इंतज़ार कर रहा था, तभी दरवाज़े की घंटी बज उठी। सामने राम खेलावन था। उसके हाथों में ताज़ा धुले कपड़ों का बंडल था। "आप जा रहे हैं, साहब?" उसने रुआँसा होकर पूछा। माफ़ी माँगते हुए उसने रहस्योद्घाटन किया कि शहर में अमीर लोग मुफ़्त शराब बाँटकर मुसलमानों को मारने के लिए लोगों को भड़का रहे हैं। मुफ़्त शराब के लालच पर कौन काबू पा सकता था ! खेलावन ने नैरेटर, उसकी पत्नी और उसके दरियादिल बड़े भाई की तरफ़ से मिली इनायत को बार–बार याद किया। उसके बाद उसने अपने उस गमछे को कंधे पर डाल लिया जिसमें लपेटकर वह धुले हुए कपड़े लाया था और दरवाज़े से बाहर निकल गया। इस कहानी को पढ़ा कर पाठक के मन में बहुत सी भावनाएं एक साथ पैदा होती है और वह किसी एक अंतिम निर्णय पर पहुंचता है तो यही की मानवीय प्रेम सबसे बड़ा होता है। मंटो ने ऐसी छोटीदृछोटी अनेक कहानियां लिखीं जो हिंसा मात्र से नहीं, बल्कि लोगों के अलग अलग चेहरों से वाबस्ता थीं जैसे टोबा टेक सिंह, एक खत, स्वराज के लिए, मम्मद भाई, दूदा पहलवान आदि। मंटो को पांच कहानियों के लिए जुर्माने हुए और पाकिस्तान में लिखी उनकी दूसरी कहनी 'खोल दो' के लिए इसके 'नुकूश' नामक पत्र पर छः महीने का प्रतिबंध लगा दिया गया। पाकिस्तान का सर्वोच्च सम्मान 'निशान–ए–इम्तियाज़' मिलने के बाद भी आज तक पाकिस्तान में मंटो की दो रचनाएं आज भी अश्लील हैं, एक तो 'ठंडा गोश्त' दूसरी 'ऊपर नीचे और दरम्यान'। मंटो पर लोगों ने किस–किस तरह के वार नहीं किए। राजा साहब महमूदाबाद, हैदराबाद के माहिर–उल–क़ादरी, बंबई के हकीम मिर्ज़ा हैदर बेग, नवाए–वक़्त के संस्थापक हमीद निज़ामी और तरह–तरह के अदीब और पत्रकारकृ सबने उन पर चोटें कीं। हाँ, अहमद नदीम क़ासमी मंटो की कला के क़द्रदान थे। मंटो का अफ़साना 'बू' उन्होंने अदब–ए–लतीफ़ में और बाद में 'खोल दो' नुकूश में प्रकाशित किया था। लेकिन फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ ने बतौर संपादक पाकिस्तान टाइम्स मंटो के अफ़साने 'ठंडा गोश्त' के बारे में जो राय दी, वह दर्ज है। उन्होंने कहा थाकृ"अफ़साने के लेखक ने अश्लील लेखन तो नहीं किया, लेकिन साहित्य की ऊँची माँगों को पूरा भी नहीं किया, क्योंकि इसमें ज़िंदगी के बुनियादी सवालों का संतोषजनक विश्लेषण नहीं है।"। मंटो पर आरोप है कि मंटो सिर्फ़ औरत के लिए लिखता है इसका जवाब खुद मंटो ने दिया है "कहा जाता है कि (मेरे) आ'सांब पर औरत सवार है। मर्द के आ'साब पर औरत नहीं तो क्या हाथी को सवार होना चाहिए? जब कबूतरों को देख कर कबूतर गटकते हैं तो मर्द औरतों को देख कर ग़ज़ल या अफ़साना क्यों न लिखें। औरतें कबूतरों से कहीं ज़्यादा दिलचस्प, खूबसूरत और फ़िक्र–खेज़ हैं।" मंटो ने वेश्याओं के बारे मे कम

लिखा उनके लिए अधिक, जब यह कहा गया कि ये तो कोठे का टाइपिस्ट है तो मंटो का जवाब देखने लायक है।

"बेस्वाएं (वेश्याएं) आज से नहीं, बल्कि हज़ार सालों से हमारे बीच मौजूद हैं। उनका उल्लेख धार्मिक (इल्हामी) किताबों में भी मिलता है। अब चूँकि न कोई नई धार्मिक किताब आ सकती है और न कोई नया पैगम्बर, इसलिए उनका ज़िक्र अब आयतों में नहीं, बल्कि अख़बारों, पत्रिकाओं और किताबों में मिलता है– जिन्हें आप बिना ऊद और लोबान जलाए पढ़ सकते हैं और पढ़ने के बाद रद्दी में भी बेच सकते हैं।"

"मंटो पर बार–बार मुकदमे दर्ज किए गए। उन्हें अदालतों, सेशन कोर्टों और हाई कोर्ट तक घसीटा गया। उनके घर की तलाशी हुई, तलबियाँ (हाज़िरी के आदेश) दी गईं, सम्मन भेजे गए, जुर्माने किए गए, सज़ाएँ दी गईं कृ यानी बेइज़्ज़ती और रुसवाई का कौन–सा सामान था जो उनके हिस्से में नहीं आया। जब सज़ाएँ और तकलीफ़ें हद से बढ़ जाएँ, तो इंसान के भीतर से अपने बचाव की इच्छा भी निकल जाती है, और जब पूरा समाज और उसके साथ अदालतें भी साहित्य से नसीहत, सुधार और उपयोगिता का तक़ाज़ा करने लगें, तो लेखक को भी मजबूरन उसी भाषा और मुहावरे में बात करनी पड़ती है।"[10] मंटो ने कभी समय या समाज को ग्लोरीफाई नहीं किया, जो बात कही डंके की चोट पर कही शायद इसी कारण से मंटो, मंटो बन सका।

मंटो ने अपना अस्वीकार सहज ही स्वीकार किया है साथ ही एक शर्त भी है "अगर आप इन अफ़सानों को बर्दाश्त नहीं कर सकते तो इसका मतलब ये है कि ज़माना ना–क़ाबिल–ए–बर्दाश् है जिस नुक़्स को मेरे नाम से मंसूब किया जाता है वो दर–अस्ल मौजूदा निज़ाम का नुक्स है।"[11] आगे लिखते हैं– "या जो लोग अश्लील साहित्य का, या इसे जो कुछ भी कहा जाए३अंत करना चाहते हैं, तो सही तरीका यह है कि उन परिस्थितियों को समाप्त कर दिया जाए जो उस साहित्य के प्रेरक हैं।"[12] मंटो साहित्य को कड़वी दवा भी कहता है, "हमारी तहरीरें आप को कड़वी कसैली लगती हैं... नीम के पते कड़वे सही मगर खून को साफ़ करते है।"[13] उनके ये कथन मैथ्यू अर्नाल्ड के कथन 'साहित्य जीवन की आलोचना' जैसा ही है। साहित्य के मामले में मंटो कभी भी किसी तरह का समझौता करने वाला नहीं था। संभवतः उर्दू कथा–लेखकों में वह पहला व्यक्ति था जिसने साहित्य और कला को केवल साहित्य और कला के रूप में पहचानने और परखने पर ज़ोर दिया। यानी साहित्य और कला (या उसके सौंदर्यात्मक प्रभाव) की नैतिकता और धर्म से अपेक्षाकृत स्वतंत्रता का वह विचार, जो साहित्य की अपनी असली पहचान की गारंटी है। मंटो का साहित्य सुधारवादी नहीं है ना ही वह किसी सूरत बदलने की बात करता है। मंटो हर पाठक का रीयल वर्ल्ड में वेलकम करता है। लिखा भी है "अगर केवल एक ही बार यह समझा देने से कि झूठ मत बोलो और चोरी मत करो, सारी दुनिया झूठ और चोरी से बच जाती, तो शायद एक ही पैग़म्बर काफ़ी होता। लेकिन जैसा कि आप जानते हैं, पैग़म्बरों की सूची काफ़ी लंबी है। हम लिखने वाले पैग़म्बर नहीं होते। हम किसी एक चीज़ को, किसी एक मसले को अलग–अलग हालात में अलग–अलग नज़रीयों से देखते हैं, और जो कुछ हमारी समझ में आता है, उसे दुनिया के सामने रख देते हैं। लेकिन हम दुनिया को कभी मजबूर नहीं करते कि वह उसे ज़रूर मान ही ले। हम कानून बनाने वाले नहीं हैं, न ही नैतिकता के पहरेदार। हिसाब–किताब करना और कानून लागू करना दूसरों का काम है। हम हुकूमतों पर आलोचना करते हैं, मगर खुद शासक नहीं बनते। हम इमारतों के नक्शे तो बनाते हैं लेकिन वास्तुकार नहीं होते। हम बीमारियों की पहचान कर देते हैं, लेकिन अस्पतालों के प्रशासक नहीं"।

मंटो को प्रचलित सामाजिक धारणाओं से गहरी नफ़रत इसलिए थी क्योंकि उन्होंने उच्च वर्ग के घृणित और चालाक चेहरे को रेशमी परदों से ढक रखा था। जोगेश्वरी कालेज, बम्बई के एक जलसे में विभाजन से चंद बरस पहले मंटो ने अपने खास अंदाज़ में कहा था, "मेरे पड़ोस में अगर कोई औरत हर रोज़ खाविंद से मार खाती है और फिर उसके जूते साफ़ करती है तो मेरे दिल में उसके लिए ज़र्रा बराबर हमदर्दी पैदा नहीं होती लेकिन जब मेरे पड़ोस में कोई औरत अपने खाविंद से लड़कर और खुदकुशी की धमकी दे कर सिनेमा देखने चली जाती है और मैं ख़ाविंद को दो घंटे तक सख़्त परेशानी की हालत में

देखता हूँ तो मुझे दोनों से एक अजीब–ओ–गरीब किस्म की हमदर्दी पैदा हो जाती है। किसी लड़के को लड़की से इश्क़ हो जाए तो मैं उसे ज़ुकाम के बराबर भी अहमियत नहीं देता मगर वो लड़का मेरी तवज्जो को ज़रूर खींचेगा जो ज़ाहिर करे कि उस पर सैकड़ों लड़कियाँ जान देती हैं लेकिन दर–हक़ीक़त वो मोहब्बत का इतना ही भूका है जितना बँगाल का फ़ाक़ा–ज़दा बाशिंदा... मेरी हीरोइन चकले की एक टख्याई रंडी हो सकती है जो रात को जागती है और दिन को सोते में कभी–कभी ये डरावना ख़्वाब देख कर उठ बैठती है कि बुढ़ापा उसके दरवाज़े पर दस्तक देने आया और बरसों की उचटती नींदें उसके भारी पपोटों पर मुंजमिद हो गई हैं।"[15] मौत से पहले का मंटो "फूहड़ लेखक" और "नैतिकता का दुश्मन" करार दिया गया। बाद में मंटो को केवल कोठों, वेश्याओं, दलालों और भड़वों का कलाकार बना कर पेश किया गया। उसके रचनात्मक दुख–दर्द, उसकी आंतरिक बेचैनी, उसका अथाह दुःख और उसका गहरा दर्द कृ इन पर जैसी गंभीरता और ध्यान होना चाहिए था, वह सब पूरी तरह प्रशंसा और निंदा की भावुक और गैर–साहित्यिक बहसों में दबकर रह गया। इस बात पर बहुत कम ध्यान दिया गया कि मंटो बार–बार क्यों इस सच्चाई पर ज़ोर देता है कि "हर औरत वेश्या नहीं होती, लेकिन हर वेश्या औरत होती है।"[16] उसका कहना है कि ज़रूर कोई ऐसा समय आता होगा जब वेश्या अपने पेशे का चोला उतारकर सिर्फ औरत रह जाती होगी। उदाहरण के रूप में मोटर वाला सेठ सौगंधी को देख कर ऊंह करके चला जाता है तो बेचैन सौगंधी अपने खुजली वाले कुत्ते को उठाकर अपने पलंग पर अपने पहलू में लिटा लेती है। ठीक ऐसा ही 'काली शालावार' की सुलताना करती है। लेकिन आम आदमी जो कोठे पर जाता है, उसका सरोकार औरत से नहीं बल्कि केवल सेक्स से होता है। वेश्या के कोठे पर हम इबादत या दुख बाँटने नहीं जाते, वहाँ हम केवल इसलिए जाते हैं ताकि अपनी चाही हुई काम–वासना को खुलकर खरीद सकें।

मंटो को चीज़ें घुमा फिरा के कहने की आदत नहीं है एक जगह उन्होंने कहा भी है "अगर मैं किसी औरत के सीने का ज़िक्र करना चाहूँगा तो उसे औरत का सीना ही कहूँगा। औरत की छातियों को आप मूँगफली, मेज़ या उस्तरा नहीं कह सकते दृ यूँ तो बाज़ हज़रात के नज़दीक औरत का वुजूद ही फहश है मगर इसका क्या इलाज हो सकता है। मैं ऐसे लोगों को भी जानता हूँ जिनको बकरी का एक मासूम बच्चा ही मासियत की तरफ़ ले जाता है। दुनिया में ऐसे अश्खास भी मौजूद हैं जो मुक़द्दस किताबों से शहवानी लज़्ज़त हासिल करते हैं, और ऐसे इंसान भी आपको मिल जाएँगे, लोहे की मशीनें जिनके जिस्म में शहवत की हरारत पैदा कर देती हैं–लोहे की उन मशीनों का, जैसा कि आप समझ सकते हैं, कोई कुसूर नहीं। इसी तरह न बकरी के मासूम बच्चे का और न मुक़द्दस किताबों का। मैं हंगामा–पसंद नहीं। मैं लोगों के ख्यालात–ओ–जज्बात में है– जान पैदा करना नहीं चाहता। मैं तहजीब–ओ–तमद्दन और सोसाइटी की चोली क्या उतारूँगा जो है ही नंगी। मैं उसे कपड़े पहनाने की भी कोशिश नहीं करता। ये मेरा काम नहीं, दर्जियों का काम है।"[17] मंटो के फन का ये पहलू मामूली नहीं कि कस्बियों और रंडियों की कहानियाँ बुनते हुए मंटो बार–बार उनके जिस्म से हट कर उनकी रूह का नज़ारा कराता है।

मंटो उस अथाह दुख की गहराई तक पहुँचना चाहता है, जो इंसानियत के आधे हिस्से (औरत) का मुक़द्दर है। यानी उस अथाह दुख के दुखपन को सच्चाई के साथ उजागर कर पाने की बेचैनी ही कलाकार मंटो की असली तड़प है। कुछ कहानियों के माध्यम से देखते हैं। "काली शलवार" में सबसे दर्दनाक और ध्यान देने योग्य क्षण वह है जब सुल्ताना अंबाला से दिल्ली आ चुकी है। पीर–फ़कीरों और गंडे–तावीज़ों के बावजूद उसका धंधा मंदा ही चल रहा है। आख़िरी कंगन भी बिक चुका है। खुदा बख़्श दिन–भर ग़ायब रहता है और सुल्ताना का कोई हाल पूछने वाला नहीं। तब उसे लगता है कि जैसे खुदा ने तो उसे छोड़ ही दिया था, अब खुदा बख़्श ने भी छोड़ दिया है। वह एक बेसहारा, नंगी, निचुड़ी हुई रूह है, जो ज़िंदगी की पटरियों पर इधर–उधर बेमक़सद भटक रही है। "सड़क के दूसरी ओर माल गोदाम फैला हुआ था, जो एक कोने से दूसरे कोने तक फैला था। दाहिनी ओर लोहे की छत के नीचे बड़ी–बड़ी गठरियाँ और हर तरह का सामान ढेरों में रखा रहता था। बाईं ओर खुला मैदान था, जिसमें असंख्य रेल की पटरियाँ बिछी हुई थीं। धूप में लोहे की पटरियाँ चमकतीं, तो सुल्ताना अपने हाथों की ओर देखती, जिन पर नीली–नीली नसें ठीक उन्हीं पटरियों की तरह उभरी रहती थीं। उस लंबे खुले मैदान में हर समय इंजन और गाड़ियाँ आती–जाती रहतीं। कभी इधर, कभी उधर। इंजनों और गाड़ियों की छन–छन और फक–फक की आवाज़ गूँजती रहती। सुबह–सुबह जब वह

बालकनी में आती तो एक अजीब–सा दृश्य उसे दिखाई देता। धुँधलके में इंजनों के मुँह से गाढ़ा–गाढ़ा धुआँ निकलता, जो मैले आसमान की तरफ़ भारी–भरकम आदमियों की तरह उठता जाता। कभी–कभी जब किसी डिब्बे को इंजन धक्का देकर अकेले पटरियों पर छोड़ देता और वह अपने आप चलता जाता, तो सुल्ताना को अपना ख़्याल आता। उसे लगता कि जैसे उसे भी किसी ने ज़िंदगी की पटरी पर धक्का देकर छोड़ दिया है, और वह यूँ ही चली जा रही है। दूसरे लोग रास्ते बदल रहे हैं और वह लगातार बढ़ी जा रही है– न जाने कहाँ। और फिर एक दिन ऐसा आएगा जब उसकी यह गति धीरे–धीरे थम जाएगी और वह कहीं रुक जाएगीकृकिसी ऐसे ठिकाने पर, जिसे उसने पहले कभी न देखा होगा।"[18]

मंटो की कलात्मक नज़र वेश्या की साज–सज्जा या अदाओं पर नहीं ठहरती, बल्कि उसकी भीतरी स्थिति पर केंद्रित होती हैकृजब वह बाहरी परिधान से हटकर केवल एक औरत रह जाती है, एक नर्म–दिल औरत, गोश्त और खून की बनी हुई। हमारी आलोचना ने उस क्षण पर बहुत कम ध्यान दिया है, जब मंटो का कला–संसार औरत के अंतरतम से संवाद करता है। असल में, मंटो को 'कामुक लेखक' कहना उसके साथ अन्याय है। मंटो का विषय न तो केवल पेशेवर वेश्या है और न ही सजी–धजी गुड़िया, बल्कि उसका विषय है उस औरत के अस्तित्व की कराह, उसकी रूह का दर्द और उसके भीतर का सूनापनकृजिसे कोई बाँट नहीं सकता।

वेश्या को लेकर मंटो का एक कथन अविस्मरणीय है "वेश्या का मकान खुद एक जनाज़ा है जो समाज अपने कंधों पर उठाए हुए है। वह उसे जब तक कहीं दफन नहीं करेगा, उसके मुताल्लिक बातें होती ही रहेंगी। यह लाश गली–सड़ी सही, बदबूदार सही, मुतअफ्फ़िन" सही, भयानक सही, घिनावनी सही, लेकिन इसका मुँह देखने में क्या हर्ज है? क्या यह हमारी कुछ नहीं लगती ? क्या हम इसके अज़ीज़ो–अकारिब नहीं? हम कभी–कभी कफन हटाकर उसका मुँह देखते रहेंगे और दूसरों को दिखाते रहेंगे।"[19] मंटो के अफ़सानों में ऐसे क्षणों पर ध्यान से देखा जाए तो औरत के भीतर का सत्य, उसकी आत्मा, उसके बाहरी रूप–रंग की परतों को हटाकर वैसे ही झलकने लगती है, जैसे पत्तों को हटाने पर कोई कली अचानक चटक उठे। ऐसे अवसरों पर वेश्या का अस्तित्व महज़ एक सीमित किरदार न रहकर, पूरी सृष्टि के दर्द–भरे संगीत का हिस्सा बन जाता है और "औरत" की आद्य–छवि से गहरे रूप में जुड़ जाता है।

संदर्भ–सूची :–

1. मंटो, सआदत हसन; दस्तावेज़ एक; राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; पृष्ठ 434।
2. अश्क, उपेन्द्रनाथ; मंटो मेरा दुश्मन, नीलाभ प्रकाशन, पृ. 37 ।आदत।
3. ज़लाल, आयेशा; सआदत हसन मंटो अपने समय का एक तर्कशील गवाह; राजकमल प्रकाशन, दिल्ली; आलोचना, पृ. 97।
4. https://www.rekhta.org/stories/khol-do&saadat-hasan-manto-stories@lang-hi
5. मंटो, सआदत हसन; दस्तावेज़दृ 4; राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; पृष्ठ 51।
6. मंटो, सआदत हसन; दस्तावेज़ दृ 4; राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; पृष्ठ–213।
7. मंटो, सआदत हसन; दस्तावेज़ दृ 4; राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; पृष्ठ 88।
8. अदब–ए–जदीद दस्तावेज़, स, 51।
9. मंटो, सआदत हसन; दस्तावेज़ दृ4; राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; पृष्ठ संख्या,48।
10. मंटो की नई पढ़तः मत्न, ममता और ख़ाली सुनसान ट्रेन गोपी चंद नारंग https.rek.ht/a/2pbo/2
11. अदब–ए–जदीद स, 52।
12. अदब–ए–जदीद, ऐज़न, स, 53।
13. मंटो, सआदत हसन; दस्तावेज़ दृ4; राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; पृष्ठ संख्या, 59।
14. अफ़साना निगार और जिन्सी मैलान ऐज़न, स,81–82।
15. अदब–ए–जदीद ऐज़न, स, 52।
16. मंटो, सआदत हसन; दस्तावेज़– 4; राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; पृष्ठ संख्या, 59।
17. मंटो, सआदत हसन; दस्तावेज़–4; राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; पृष्ठ संख्या, 42।
18. मंटो, सआदत हसन; दस्तावेज़–4; राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; पृष्ठ संख्या, 157।
19. मंटो, सआदत हसन; दस्तावेज़–4; राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली; पृष्ठ संख्या, 42।

संस्कृत वाङ्मय में विवेचित सरस्वती नदी के ऐतिहासिक संदर्भ

बलराम*

डॉ. देवेन्द्र सिंह राजपूत**

सारांश :– भारतीय संस्कृति की समृद्ध परंपरा में पवित्र नदी सरस्वती का महत्वपूर्ण स्थान है। वैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक भारत के उत्तरी और पश्चिमी क्षेत्रों में सरस्वती नदी के प्रवाह के अनेकों प्रमाण मिलते हैं। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, रामायण, महाभारत, पुराण, ब्राह्मण ग्रंथों, उपनिषदों, मनुस्मृति, उत्तर वैदिक साहित्य और संस्कृत साहित्य में पाए गए सरस्वती नदी के स्रोतों और क्षेत्रों से संबंधित साक्ष्यों पर आधारित है। अधिकांश पुरातत्वविदों ने प्राचीन साहित्य में अनेकों बार 'सरस्वती' नाम का उपयोग किया है। भारतीय उपमहाद्वीप की प्राचीनतम एवं सर्वाधिक चर्चित नदी सरस्वती के ऐतिहासिक तथा वैज्ञानिक आयामों का विश्लेषण रहा है। वैदिक साहित्य, विशेषतः ऋग्वेद में सरस्वती को एक महान, जीवनदायिनी तथा सभ्यता की धुरी के रूप में वर्णित किया गया है जिससे यह संकेत मिलता है कि इसका अस्तित्व केवल पौराणिक न होकर ऐतिहासिक आधार भी रखता है। ऐतिहासिक दृष्टि से, सरस्वती नदी का उल्लेख अनेक वैदिक एवं उत्तरवैदिक ग्रंथों में मिलता है, जो इसे सिंधु–सरस्वती सभ्यता के साथ जोड़ता है। पुरातात्विक साक्ष्य विशेषकर हड़प्पा और घग्घर–हकरा क्षेत्र में प्राप्त अवशेष इस बात की पुष्टि करते हैं कि इस क्षेत्र में एक सशक्त नदी प्रणाली विद्यमान थी जिसने मानव बसावट और सांस्कृतिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। प्राचीन काल में यह नदी हिमालयी स्रोतों से पोषित एक विशाल नदी थी, जो बाद में जलवायु परिवर्तन, विवर्तनिक गतिविधियों तथा नदी मार्ग परिवर्तन के कारण क्षीण या लुप्त हो गई। वैज्ञानिक विश्लेषण में, इसरो तथा अन्य भू–वैज्ञानिक संस्थानों द्वारा किए गए रिमोट सेंसिंग अध्ययन, भूजल विश्लेषण, तथा आइसोटोपिक परीक्षणों से यह प्रमाणित होता है कि सरस्वती नदी का प्रवाह मार्ग आज भी भूमिगत जलधाराओं के रूप में विद्यमान हो सकता है। पेलियो–चैनल मैपिंग से यह भी स्पष्ट होता है कि इस क्षेत्र में कभी एक विशाल नदी प्रणाली प्रवाहित थी। इस शोध का निष्कर्ष यह संकेत करता है कि सरस्वती नदी का अस्तित्व ऐतिहासिक, दार्शनिक और वैज्ञानिक साक्ष्यों द्वारा समर्थित है। सरस्वती नदी वर्तमान समय में लुप्त हो गई हैं और इसका प्रमाण भी वेदों में मिलता है। अतः यह विषय अंतःविषयक अनुसंधान के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण है, जो भारतीय प्राचीन इतिहास के पुनर्मूल्यांकन में सहायक हो सकता है।

बीज शब्द :– सरस्वती नदी, वैदिक साहित्य, घग्गर–हकरा, उपग्रह–चित्रण, भू–वैज्ञानिक अध्ययन, पुरातत्व, अनुसंधान इत्यादि।

प्रस्तावना :– संसार का सबसे प्राचीन ग्रंथ ऋग्वेद है। वेद का अर्थ होता है– ज्ञान। ऋग्वेद से हमें उस समय की सभ्यता, संस्कृति, कला और उपासना–पद्धति का ज्ञान होता है। ऋग्वेद की सभ्यता को वैदिक सभ्यता कहते हैं। यह सभ्यता ऋग्वेद के समय एक विशाल भू–भाग में फैली हुई थी। सरस्वती इस सम्पूर्ण क्षेत्र की महत्त्वपूर्ण नदी थी। ऋग्वेद में सरस्वती को "अम्बितमे नदितमे देवितमे''[1] (माताओं में सबसे महान माता, नदियों में सबसे महान नदी और देवियों में सबसे महान देवी) कहा गया है। विश्व के इस प्राचीनतम ग्रंथ में सरस्वती नदी को समुद्र की तरह विशालकाय और बादलों की तरह गरजते हुए, पर्वत से समुद्र तक बहने वाली नदी बताया गया है। ऋग्वैदिक ऋचाओं में सरस्वती को समृद्धि, विद्या और वाणी की देवी तथा माता कहा गया है। ऋग्वेद में सरस्वती को सात बहनों वाली नदी कहा गया है। ये नदियां थी– सरस्वती, सतलुज, व्यास, रावी, चिनाब, झेलम एवं सिन्धु। वेद के मंत्रों में सरस्वती को सिन्धु नदी की माता भी कहा गया है। दृषद्वती और अपाया भी सरस्वती की सहायक नदियाँ थी। वेद के चार भाग हैं– ऋग्वेद, यजुर्वेद,

***शोधार्थी, संस्कृत–विभाग, हरियाणा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, महेन्द्रगढ।**

****सहायक आचार्य, संस्कृत–विभाग, हरियाणा केन्द्रीय विश्वविद्यालय, महेन्द्रगढ।**

सामवेद और अथर्ववेद। ऋग्वेद में सरस्वती का वर्णन काफी मात्रा में मिलता है। शेष तीन वेदों में भी सरस्वती का वर्णन मिलता है। ब्राह्मण ग्रंथों में भी सरस्वती का वर्णन मिलता है। महाभारत व रामायण में भी सरस्वती का वर्णन मिलता है। विलुप्त हो चुकी सरस्वती का वर्णन भारत के प्राचीन ग्रंथों में मिलता है, क्योंकि वह प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन में पूरी तरह से सम्मिलित थी। इन ग्रंथों में सरस्वती का तात्कालिक एवं सामाजिक रूप साफ–साफ दिखाई देता है। कालक्रम के अनुसार सरस्वती के बारे में मौलिक जानकारी मिलती है।

01.वैदिक साहित्य में सरस्वती नदी

क. ऋग्वेद में सरस्वती नदी : वेदों में सबसे पुराना वेद ऋग्वेद है। इसमें सरस्वती नदी की सबसे अधिक जानकारी उपलब्ध है। ऋग्वेद में सरस्वती की स्तुति के लिए 75 मंत्र हैं। ऋग्वेद के चौथे मण्डल को छोड़कर अन्य सभी नौ मण्डलों में सरस्वती का वर्णन मिलता है। इन मंत्रों की रचना विभिन्न ऋषियों ने की जिन्होंने सरस्वती के रूप का प्रत्यक्ष अवलोकन किया होगा। इन मंत्रों में सरस्वती के भौतिक स्वरूप के साथ–साथ उनका मातृवत स्वरूप एवं विद्या की देवी का स्वरूप भी हमारे सामने आता है। ऋग्वेद में सरस्वती को कला, संस्कृति, भाषा और वेदों की रचना का सृजनकर्ता माना गया है।

"एकाचेतत् सरस्वती नदीनां शुचिर्यती गिरिभ्य आ समुद्रात्।
रायश्चेतन्ती भुवनस्य भूरेधृत पयो दुदुहे नाहुषाय।।"[2]

एकमेव चैतन्यमयी पवित्र सरस्वती नदी पहाड़ों से निकलकर सागर में मिलती है। वह इस धरती के राजा नहुष की प्रजा को दूध एवं घी प्रदान करने वाली है। यह मंत्र सरस्वती के नदीस्वरूप को प्रकट करता है। जो पहाड़ों से निकलकर सागर में मिलती है और मैदानों को अपने जल से सींचती हुई उसे धन–धान्य से भरपूर करती हुई समुद्र में जा मिलती है।

"आ यत्साकं यशसो वावशानाः सरस्वती सप्तथी सिंधुमाता।
याः सुष्वयन्त सुद्धाः सुधारा अभि स्वेन पयसा पीप्यानाः।।"[3]

यहाँ पर बताया गया है कि नदी सरस्वती, सिंधु एवं अन्य नदियों की माता भी है और अथाह जलयुक्त होकर बहुत ही तेज गति से प्रवाहित हो रही है। छः अन्य सहायक नदियाँ सरस्वती के साथ मिलकर एकसाथ प्रवाहित होकर हमें अन्न एवं दूध प्रदान कर रही है। उपर्युक्त मंत्र से पता चलता है कि सरस्वती सातवीं नदी थी। बाकि छः नदियाँ सरस्वती की सहायक नदियां होनी चाहिए। जो वर्तमान में पंजाब की सारी नदियाँ– सतलुज, व्यास, रावी, चिनाब, झेलम एवं सिंधु होनी चाहिए। ऋग्वैदिक ऋषियों को उस समय की सभी नदियों की जानकारी थी।

"इमं में गंगे यमुने सरस्वति शुतुद्री स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिकन्या मरुद्धे वितस्तयाऽजीकीये ऋणुह्या सुषोमया।।"[4]

हे गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री (सतलुज), परुष्णी (रावी), असिक्नी (चिनाब) के साथ मरुद्धधा, वितस्ता (झेलम), सुषमा (सोहान) और आर्जीकिया (व्यास) आदि नदियों! हमारे स्त्रोतों को सुने।

"अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नरकृधि।।"5

हे सरस्वती ! आप माताओं में श्रेष्ठ माता, नदियों में उतम महानदी और देवियों में सबसे ज्यादा माननीय देवी हो। हे माता ! हम अज्ञानी है। आप हमारा अज्ञान दूर करके हमें ज्ञान प्रदान करें। हम आपसे ज्ञान प्रदान करने की प्रार्थना करते हैं।

"इला सरस्वती मही तिस्त्रो देवीर्मयोभुवः।
बर्हिः सीदन्त्वसिधः।।"[6]

इला, सरस्वती और मही – ये तीनों देवियां सुखकारी और क्षयरहित हैं। ये तीनों दीप्तिमान कुश के आसनों पर विराजमान होकर सुशोभित हो।

ख. यजुर्वेद में सरस्वती नदी : इन्द्रदेव की वैसे ही सहायता की जिस प्रकार माता–पिता अपने पुत्रों यजुर्वेद में भी सरस्वती का वर्णन मिलता है। यजुर्वेद में सरस्वती से संबंधित 68 ऋचाएँ हैं। इनमें से कई मंत्रों में

सरस्वती को अश्विनी कुमारों के साथ देवीस्वरूप माना गया है। यजुर्वेद में सरस्वती की 5 प्रमुख सहायक नदियाँ बताई गई है।

"पञ्च नद्यः सरस्वतीमपियन्ति सस्रोतसः।/सरस्वती तु पञ्चधा सो देशेभवत्सरित्।''[7]

यजुर्वेद में सरस्वती के भौतिक स्वरूप को प्रकट करने वाला एक ही मंत्र है। सरस्वती में पाँच विशाल नदियाँ समाहित होती है। वह सरस्वती देश में आगे चलकर पाँच मुख्य धाराओं में बंट जाती है। यजुर्वेद के इस मंत्र से हमें पता चलता है कि युजर्वैदिक काल में सरस्वती की पाँच मुख्य सहायक नदियाँ थी। यजुर्वेद के भाष्यकार उव्वट के अनुसार वे नदियां दृषद्वती, शुतुद्री, विपासा (व्यास), इरावती (रावी) और चन्द्रभागा (चिनाब) थी। ऋग्वैदिक काल में सिंधु और झेलम समेत सरस्वती की सात सहायक नदियां थी। मंत्र के दूसरे भाग से पता चलता है कि सरस्वती गुजरात के कच्छ के रण में, पांच धाराओं में बंटकर विशाल डेल्टा का निर्माण करती हुई सागर में मिलती थी। यजुर्वैदिक काल में भी सरस्वती वाणी व विद्या की देवी के रूप में प्रतिष्ठित थी। इनमें सरस्वती देवी व अश्विनी कुमारों से इन्द्रदेव व याचकों के लाभ हेतु औषधियां एवं अन्य पदार्थ उपलब्ध कराने की प्रार्थना की गई है।

"अश्विनकृतस्य ते सरस्वतिकृतस्येन्द्रण सुत्राम्णा कृतस्य।
उपदूतऽउपहूतस्य भक्षयामि।।''[8]

हे औषधे ! अश्विनीकुमारों द्वारा संस्कारित देवी सरस्वती के बल से पुष्ट हुई और उत्तम रक्षक इन्द्रदेव द्वारा उत्पन्न, आपका हम आदर से आह्वान करते हैं। अपने स्वस्थ एवं दीर्घ जीवन की इच्छा से हम आपका सेवन करते हैं।

ग. सामवेद में सरस्वती नदी : सामवेद में सरस्वती से संबंधित दो ही ऋचाएँ है। जिनमें सरस्वती को मातृरूपा माना गया है'– "जनीयन्तो न्वग्रवः पुत्रीयन्तः सुदानवः।/सरस्वन्त हूँ वामहे।।''[9]

इस ऋचा में स्त्रियाँ पुत्रों की कामना करते हुए यज्ञ–दानादि श्रेष्ठ कर्मों में अग्रणी हम याचक माँ सरस्वती का आह्वान करते है। हे माता ! हमारी प्रार्थना स्वीकार करो।

"प्र नो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती।
धीनामवित्र्यवतु।।"[10]

हे देवी सरस्वती! आप हमें बल, बुद्धि और ज्ञान प्रदान करें। आप हमारी बुद्धियों की रक्षा करें और हमें प्रेरणा दें।

घ. अथर्ववेद में सरस्वती नदी : अथर्ववेद में सरस्वती को पितृ उद्धार करने वाली, अन्न, धन देने वाली बताया गया है। अथर्ववेद के 'कृषि सूक्त' से खेती के विकास की जानकारी मिलती है। अथर्ववेद में सरस्वती सन्तान देने वाली रोगमुक्त करने वाली देवी माना गया है।

"सरस्वती व्रतेषु ते दिव्येषु देवी धामसु।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः।।''[11]

हे सरस्वती देवी! आपके दिव्य व्रतों और धामों के लिए अर्पित आहुतियों को आप ग्रहण करें। आप हमारी पुत्र–पौत्रादि की कामना को पूर्ण करें।

"सरस्वती पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः।
आसद्यास्मिन्बहिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धे ह्यस्मे।''[12]

हमारे आह्वान पर दक्षिण दिशा से आने वाले सभी पितृ माँ सरस्वती को पाकर संतुष्ट होते है। हे माँ सरस्वती ! आप हमारे यज्ञ में स्थापित हो। हम आपका आह्वान करते हैं। आप हम पर प्रसन्न होकर हमें धन–धान्य प्रदान करें। भारतीय संस्कृति में नदियों के जल से पितरों का तर्पण होता है जिससे उनका उद्धार हो सके और वे देवलोक में स्थान पा सकें। वैदिक काल में पितृ तर्पण के लिए सरस्वती नदी का ही आश्रय रहा होगा। वर्तमान में हरियाणा में पितृतर्पण के लिए आज भी प्राचीन सरस्वती के तट पर स्थित पिहोवा जाने की प्रथा है। इसलिए सरस्वती को पुण्य सलीला कहा गया है। अथर्ववैदिक काल में सरस्वती पितृ तर्पण करने वाली भी रही होगी।

"शनु सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शनु की नाश अनुयन्तु वाहान।

शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै।।''[13]

हल के नीचे लगे हुए लोहे के फाल से, खेत को अच्छी तरह से जोतते हुए किसान बैलों के पीछे–पीछे आराम से चले। हे देव! आप हविष्य से प्रसन्न होकर धरती को जल से सींचकर धनधान्य से परिपूर्ण करें। ऋग्वेद और अथर्ववेद में कृषि संबंधित ऋचाओं से पता चलता है कि ऋग्वैदिक काल में कृषि का विकास हुआ और अथर्ववैदिक काल तक कृषि वहां के लोगों का मुख्य व्यवसाय बन गया था जो सरस्वती के जल से सींचित होकर वहां के मैदानों को धनधान्य से भरपूर बनाता दिक काल में सरस्वती एक महत्त्वपूर्ण नदी थी। इसी के किनारे ही वैदिक संस्कृति का पालन–पोषण हुआ। सम्पूर्ण वैदिक संस्कृति का सरस्वती नदी पालना रही जिसकी गोद में संस्कृति फली–फूली।

ङ. ब्राह्मण ग्रंथों में सरस्वती नदी : ब्राह्मण ग्रंथों में भी सरस्वती नदी का वर्णन आया है। वैदिक सभ्यता में सरस्वती का असाधारण महत्त्व है। अतः लोग सरस्वती की श्रद्धापूर्वक परिक्रमा भी करते थे। ब्राह्मण काल में यहनदी सूखने के कारण या प्रवाह कम होने के कारण समुद्र में न मिलकर मार्ग में (विनशन) में लुप्त होने लगी, तब परिक्रमा का अन्तिम स्थान 'विनशन' बहुत महत्वपूर्ण माना जाने लगा। अतः सरस्वती के ब्राह्मण काल में सरस्वती नदी पवित्र तीर्थ बन गई। "सरस्वत्या विनशने दीक्षन्ते।''[14] विनशन में ताण्ड्यपंचविंशब्राह्मण में आता है। दिखाई देने का वर्णन वाणी की देवी के ऐतरेय ब्राह्मण में सरस्वती को वाग्देवी या वाणी की देवी के रूप में सम्मानित किया गया है।

"वाग्वै सरस्वती पावीरवी।''[15]

''प्रतीपं यन्ति न ह्यन्वीप अष्ट वै पूर्वेण पक्षसा यन्ति''[16]

सरस्वती के वृद्धावस्था में प्रवेश करने के कारण उसका प्रवाह कमजोर पड़ गया है और इसलिए वह शिथिल होकर टेढ़े–मेढ़े रास्तों से प्रवाहित होती हुई पश्चिम दिशा में प्रवाहित होने लगी है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में सरस्वती को नदी रूप व देवी रूप का वर्णन मिलता है। ब्राह्मण ग्रंथों में ही सरस्वती के सूखने के बारे में जानकारी मिलती है।

02. लौकिक साहित्य में सरस्वती नदी

क. रामायण में सरस्वती नदी : रामायण में भी सरस्वती का वर्णन मिलता है। रामायण के पहले श्लोक में सरस्वती के देवीरूप की वंदना की गई है।

"वर्णानामर्थसंघानां रसानां छन्दसामपि।
मङ्गलानां च कर्तारौ वन्दे वाणी विनायकौ।।''[17]

अक्षरों, अर्थ समूहों, रसों और मंगल की कामना करने वाली सरस्वती जी और गणेशजी की मैं वन्दना करता हूँ। यहाँ पर सरस्वती को विद्या देवी के रूप में वर्णन किया गया। रामायण के अयोध्या काण्ड में भी सरस्वती के नदी रूप का वर्णन आता है। जब श्रीराम के वनवास जाने के बाद भरत व शत्रुघ्न कैकय देश से अयोध्या वापस लौटते है तो वे सरस्वती नदी को पार करते है।

"सरस्वती च गंगा च युग्मेन प्रतिपद्य च।
उत्तरान् वीरमत्स्यानां भारुण्डं प्राविशद्धनम्।।''[18]

रामायण में सरस्वती के देवीरूप व नदीरूप का वर्णन किया गया है। रामायण काल में भी सरस्वती के दोनों रूप की जानकारी थी।

ख. महाभारत में सरस्वती नदी : "महाभारत में सरस्वती नदी के तटवर्ती तीर्थों का वर्णन शल्यपर्व में बलराम जी की तीर्थयात्रा के दौरान दिया गया है और महाभारत के प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में भी सरस्वती की देवी रूप में वंदना की गई है''[19] "शल्यपर्व में बलराम जी ने अपनी यात्रा प्रभास तीर्थ से आरम्भ की थी, जहां पर चांद को शापमुक्त होकर अपनी कांति दोबारा वापिस मिली। प्रभास तीर्थ मुख्य तीर्थ है। इसके बाद बलराम जी चमसोद्भेद नामक तीर्थ में गये और वहां पर उन्होंने एक रात निवास भी किया।''[20] यहां से फिर वे उदपान तीर्थ गये। यहां पर सरस्वती नदी का जल जमीन के भीतर छिपा रहता है। बलराम जी अपनी तीर्थ यात्रा में सरस्वती के किनारे बने हुए सभी तीर्थों पर गए। इन सभी तीर्थों की महिमा आज भी महत्त्वपूर्ण है।

ग. पुराणों में सरस्वती नदी : देवीपुराण में सरस्वती नदी (१.२.३.१)

देवीपुराण में भी सरस्वती नदी का वर्णन प्राप्त होता है। इस पुराण के 45वें अध्याय में सरस्वती को दुर्गा के रूप में वर्णित किया गया है। स्कन्दपुराण में सरस्वती नदी (१.२.३.२)

स्कन्दपुराण में पाँच मुख्य धाराओं का वर्णन मिलता है, जिनमें सरस्वती का भी नाम आता है। ये पाँच मुख्य धाराएँ इस प्रकार हैं– हरिणी, वज्रिणी, न्यंकू, कपिला और सरस्वती।

गरुडपुराण में सरस्वती नदी (४.१६)

"प्राची सरस्वती पुण्या सप्त सारस्वतम् परम्''

गरुडपुराण में यह वर्णन प्राप्त होता है कि सम्पूर्ण तीर्थों में प्राची सरस्वती पवित्र है तथा सरस्वती का सारस्वत तीर्थ भी परमश्रेष्ठ है।

घ. मनुसमृति में सरस्वती नदी (१.२.४)

"सरस्वतीदृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्त प्रचक्षते।।''

देवताओं द्वारा निर्मित ब्रह्मवर्त नामक देश पवित्र सरस्वती नदी और दृषद्वती नदी नाम की दिव्य नदियों के बीच स्थित है।

"कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः।।''

अभिप्राय यह है कि 'ब्रह्मवर्त' नामक देश सबसे अधिक विशेषताओं से युक्त माना जाता है। उसके बाद कुरुक्षेत्र आदि देशों का स्थान आता है। भावार्थ– ब्रह्मवर्त नाम का देश देवताओं द्वारा निर्मित माना गया है। यह देश सरस्वती और दृषद्वती नामक दिव्य नदियों के बीच स्थित है। इसके अतिरिक्त अन्य पवित्र प्रदेश भी हैं, जो ब्राह्मर्षियों के निवास स्थान रहे हैं– जैसे कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाञ्चाल और शूरसेन। ये सभी ब्रह्मवर्त के निकट स्थित हैं। अर्थात्, विशेष रूप से श्रेष्ठ और पवित्र देश ब्रह्मवर्त है, और उसके बाद कुरुक्षेत्र आदि अन्य प्रदेशों का स्थान आता है।

03. सरस्वती नदी के पुरातात्विक साक्ष्य :– आधुनिक काल में सरस्वती नदी के अस्तित्व को समझने के लिए अनेक पुरातात्विक और वैज्ञानिक अनुसंधान किए गए हैं। इन शोधों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि प्राचीन भारत की एक प्रमुख नदी, जिसे वैदिक ग्रंथों में सरस्वती कहा गया है, वास्तव में अस्तित्व में थी और इसका महत्वपूर्ण सांस्कृतिक एवं सभ्यतागत योगदान रहा है। विशेष रूप से सिन्धु घाटी सभ्यता (Indus Valley Civilization) के अनेक महत्वपूर्ण स्थल उस क्षेत्र में पाए गए हैं, जहाँ आज घग्घर–हकरा नदी का सूखा प्रवाह मार्ग देखा जाता है। हरियाणा, राजस्थान और पाकिस्तान के कुछ हिस्सों में फैले इन स्थलों जैसे राखीगढ़ी, कालीबंगा आदि से यह प्रमाणित होता है कि प्राचीन समय में यहाँ जल की प्रचुरता थी और यह क्षेत्र अत्यंत समृद्ध था। पुरातत्वविदों का मत है कि ये स्थल किसी बड़ी नदी के किनारे विकसित हुए होंगे, क्योंकि उस समय की सभ्यताएँ जलस्रोतों पर ही आधारित होती थीं। उपग्रह चित्रों और भू–वैज्ञानिक अध्ययनों से यह भी संकेत मिला है कि घग्घर–हकरा प्रणाली प्राचीन काल में एक विशाल नदी का मार्ग रही होगी, जिसे अनेक विद्वान सरस्वती नदी के रूप में पहचानते हैं। इसके अतिरिक्त, जलवायु परिवर्तन, टेक्टोनिक हलचलों (भूगर्भीय परिवर्तन) और नदियों के मार्ग परिवर्तन के कारण इस नदी का जलस्रोत धीरे–धीरे समाप्त हो गया। माना जाता है कि सतलुज और यमुना जैसी नदियों के मार्ग बदलने से सरस्वती का जल कम हो गया और अंततः यह नदी सूख गई। इन सभी पुरातात्विक एवं वैज्ञानिक साक्ष्यों से यह स्पष्ट होता है कि सरस्वती नदी केवल पौराणिक कल्पना नहीं, बल्कि एक ऐतिहासिक वास्तविकता थी, जिसने प्राचीन भारतीय सभ्यता के विकास में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

सरस्वती नदी के विलुप्त होने के कारण :– वैज्ञानिक और भूगर्भीय खोजों से पता चला है कि किसी समय इस क्षेत्र में बहुत भीषण भूकंप आए, जिससे जमीन के नीचे के पहाड़ ऊपर उठ गए और सरस्वती नदी का प्रवाह मार्ग बदल गया। वैदिककाल में जिस एक और नदी का जिक्र आता है वह दृषद्वती नदी थी। दृषद्वती सरस्वती की सहायक नदी थी। यह आज भी हरियाणा में चौतंग नाम से जानी जाती है। जब भूगर्भीय हलचलों से

राजस्थान और हरियाणा की धरती के नीचे पहाड़ उठे, तो नदियों के बहाव की दिशा बदल गई और दृषद्वती नदी जो सरस्वती की सहायक नदी थी, उत्तर–पूर्व की बहने लगी। इस नदी का पानी यमुना में चला गया, इसका इतिहास 4,000 वर्ष पूर्व माना जाता है''[21] इसी समय सरस्वती का जल यमुना में मिल गया। ऋग्वेद काल में सरस्वती समुद्र में गिरती थी। प्रयाग में सरस्वती नदी कभी पहुंची ही नहीं भूकम्प के कारण यमुना में सरस्वती का जल प्रवाहित होने लगा। इसलिए प्रयाग में तीन नदियों का संगम माना जाता है। जबकि वास्तविक रूप में सरस्वती वहां कभी पहुंची ही नहीं भूकम्प के कारण यमुना में सरस्वती का जल प्रवाहित होने लगा। इसलिए प्रयाग में तीन नदियों का संगम माना जाता है। जबकि वास्तविक रूप में सरस्वती वहां कभी पहुंची ही नहीं। इलाबाबाद में केवल दो नदियों का ही संगम है।''[22]

निष्कर्ष :– नदियां न केवल मनुष्य बल्कि जैव विविधता का भी केंद्र रही हैं। नदियों के तट पर सदियों से अनेकों सभ्यताएं पनपी हैं। भूत हो या वर्तमान या फिर भविष्य, सभ्यताओं का विस्तार न तो नदियों के बगैर संभव था न संभव होगा। नदियां हमारी आस्थाओं का केंद्र भी रही हैं। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में, पहाड़ों, जंगलों और नदियों के पास स्थित तीर्थस्थलों की तीर्थयात्राओं से समाज और तीर्थयात्रियों को कई लाभ होते थे। उदाहरण के लिए, हमारे प्राचीन तीर्थ स्थलों ने भारतीय संस्कृति और इस देश की मौलिक एकता की महत्वपूर्ण भावना को विकसित किया है। हमारे ऋषियों ने इन महान नदियों में आश्रम प्रणाली या तीर्थयात्रा के माध्यम से ज्ञान प्राप्त किया और इस प्रकार अपने शिष्यों को भी ज्ञान दिया। सरस्वती नदी भी उन महान नदियों में से एक थी जहाँ विश्वामित्र जैसे महान ऋषियों ने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था। वैदिक ग्रंथों के अनेक प्रमाणों से हम जानते हैं कि सरस्वती नदी का मौलिक, भौगोलिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक महत्व है। इस शोध के माध्यम से समाज के द्वारा भुलाई गई अपनी संस्कृति का पुनर्ज्ञान होगा। सरस्वती नदी के अस्तित्व को लेकर विभिन्न मत हैं। पारंपरिक दृष्टिकोण इसे दिव्य एवं पौराणिक मानता है, जबकि आधुनिक विज्ञान इसके भौतिक अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयास करता है। वर्तमान साक्ष्य इस निष्कर्ष की ओर संकेत करते हैं कि सरस्वती नदी वास्तविक थी, परंतु समय के साथ प्राकृतिक कारणों से विलुप्त हो गई। इस अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सरस्वती नदी केवल पौराणिक कल्पना नहीं, बल्कि एक वास्तविक ऐतिहासिक नदी थी। वैदिक साहित्य, पुरातात्विक साक्ष्य, उपग्रह चित्रण एवं वैज्ञानिक अनुसंधान इसके अस्तित्व की पुष्टि करते हैं। भविष्य में और अधिक बहु–विषयक (Multidisciplinary) अनुसंधान इस विषय को और स्पष्ट कर सकते हैं।

सन्दर्भ–सूची :–

1. माली श्री एवं श्री माल; सरस्वती की कहानी; श्री बाबा साहेब (उमाकान्त केशव) आप्टे समिति न्यास, बेंगलूरू; संस्करण 2017; पृ० 7।
2. ऋग्वेद, 7.95.2।
3. वही, 7.36.6।
4. वही, 10,75.5।
5. वही, 2.41,16
6. वही, 1.13.9
7. यजुर्वेद, 34,11
8. वही, 20.35
9. सामवेद, 1460
10. सामवेद,
11. अथर्ववेद, 7.70.1
12. वही, 18.1.42
13. वही, 3.17.5
14. ताण्ड व पञ्चविंशब्राह्मण, 25.10.1
15. ऐतरेय ब्राह्मण, 3.37
16. ताण्ड्यपञ्चविंशब्राह्मण, 25.10,12
17. रामायण, 1.1
18. वही, 71
19. महाभारत, शल्यपर्व, पृ० 170, 171।
20. मेहेंदले लीना; बलराम जी की सरस्वती यात्रा; कौशलम न्यास तथा हरियाणा सरस्वती धरोहर विकास बोर्ड; संस्करण 2018; पृ० 4।
21. लाल बी.बी.; सरस्वती बह रही है; आर्यन बुक्स इंटरनेशनल, नई दिल्ली; संस्करण 2017; पृ० 2, 3, 4।
22. वल्दिया खड्ग सिंह; एक थी नदी सरस्वती; आर्यन बुक्स इंटरनेशनल, नई दिल्ली; संस्करण 2018; पृ० 22।

संयुक्त राष्ट्र में हिंदी की पहली गूंज : अटल बिहारी वाजपेयी का भाषण (1977)

तुषार*

अटल बिहारी वाजपेयी का भारतीय राजनीति में सफर एक महत्वपूर्ण वैचारिक विकास का उदाहरण है, जो हिंदू राष्ट्रवादी आंदोलन में उनके शुरुआती कट्टरपंथी विचारों से लेकर एक अधिक समावेशी और उदार राजनेता के रूप में उनके उदय तक फैला हुआ है। यह परिवर्तन उनके संसदीय भाषणों में सबसे स्पष्ट रूप से दिखाई देता है, जिनमें काव्यमय कुशलता और विचारशील संयम का अद्भुत मिश्रण था, और जिसने उन्हें सभी राजनीतिक दलों के बीच प्रशंसा दिलाई। विशेष रूप से, 1959 में तिब्बत पर दिया गया उनका जोशीला भाषण अक्सर स्वतंत्र भारत के इतिहास के सबसे प्रभावशाली संसदीय भाषाओं में से एक माना जाता है।

अटल बिहारी वाजपेयी ने अंतरराष्ट्रीय मंचों पर हिंदी के उपयोग के माध्यम से भारत की भाषाई पहचान को रणनीतिक रूप से प्रमुखता दी, विशेष रूप से 1977 में संयुक्त राष्ट्र महासभा में दिए गए अपने संबोधन में, जिसने प्रतीकात्मक रूप से वैश्विक मंच पर हिंदी को ऊंचा स्थान दिया।उनकी वाक्पटुता और हिंदी भाषा पर उनकी पकड़ ने जनसंघ के हाशिये से उठकर बाद के दशकों में केंद्रीय नेतृत्व की भूमिका तक पहुंचने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसके अलावा, इतिहासकारों का तर्क है कि आरएसएस ने वाजपेयी को न केवल उनके वैचारिक झुकाव के कारण बल्कि एक करिश्माई वक्ता और लोकप्रिय व्यक्ति के रूप में उनकी प्रतिष्ठा के कारण भी पसंद किया, ये ऐसे गुण थे जो पार्टी के लिए एक व्यापक आधार को एकजुट कर सकते थे। विभिन्न विचारधाराओं वाले श्रोताओं, कट्टरपंथियों और उदारवादियों, सभी के साथ समान रूप से जुड़ने की उनकी क्षमता उनकी व्यापक अपील को रेखांकित करती है और वैचारिक मतभेदों को पाने में सक्षम व्यक्ति के रूप में उनके विकास के संदर्भ प्रदान करती है। वाजपेयी की वाक्पटुता, विशेष रूप से संसदीय और सार्वजनिक भाषणों में हिंदी का उनका उपयोग, जनसंघ की विचारधारा को अधिक सुलभ बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, जिससे एक प्रमुख राजनीतिक व्यक्ति के रूप में उनके उदय में योगदान मिला। स्वतंत्रता के बाद भारत में अंग्रेजी का निरंतर प्रभाव ऐतिहासिक परिस्थितियों और सामाजिक–राजनीतिक व्यावहारिकता दोनों का परिणाम माना जा सकता है। यद्यपि संविधान निर्माताओं ने हिंदी को एकमात्र आधिकारिक भाषा के रूप में धीरे–धीरे अपनाने की परिकल्पना की थी, लेकिन भारत की भाषाई विविधता की वास्तविकता ने इस उद्देश्य को सीमित कर दिया। संविधान सभा की बहसों से पता चलता है कि भाषा का प्रश्न एक ऐसे समझौते के माध्यम से हल किया गया जिसे ष्आधे–अधूरे मन से किया गया समझौताष कहा गया है, जिसके तहत हिंदी के साथ–साथ अंग्रेजी का निरंतर उपयोग जारी रखने की अनुमति दी गई द्रविड़, तिब्बती–बर्मी और इंडो–आर्यन भाषाओं सहित भारत की भाषाओं की विशाल विविधता ने किसी भी एकरेखीय भाषाई नीति के लिए महत्वपूर्ण चुनौतियाँ खड़ी की । कई गैर–हिंदी भाषी लोगों, विशेष रूप से दक्षिण भारत में, हिंदी के महत्व को एकीकरण के बजाय वर्चस्ववादी के रूप में देखा गया।

1950 और 1960 के दशक के भाषा संघर्षों, विशेष रूप से तमिलनाडु में हिंदी–विरोधी आंदोलनों ने, इस प्रतिरोध की गहराई को रेखांकित किया और भाषाई केंद्रीकरण की सीमाओं को प्रदर्शित किया। इसके जवाब में, अंग्रेजी एक राजनीतिक रूप से तटस्थ संपर्क भाषा के रूप में उभरी, जिसने किसी एक भाषाई समुदाय को विशेषाधिकार नहीं दिया और इस प्रकार राष्ट्रीय एकता के एक व्यावहारिक उपकरण के रूप में कार्य किया।औपनिवेशिक शासन से विरासत में मिली प्रशासनिक, शैक्षिक और कानूनी संस्थाओं में अंग्रेजी की मजबूत स्थिति ने इस समझौते को और भी पुष्ट किया, जिससे इसका अचानक हटाना अव्यावहारिक

*हिंदी विभाग, हेमवती नन्दन बहुगुणा गढ़वाल यूनिवर्सिटी, श्रीनगर, उत्तराखंड, 246174।

और संभावित रूप से अस्थिरता पैदा करने वाला साबित हुआ।आंतरिक पहलुओं के अलावा, अंग्रेजी पर निरंतर निर्भरता तेजी से आधुनिक हो रही, उत्तर–औपनिवेशिक दुनिया में इसकी वैश्विक उपयोगिता से भी प्रभावित थी। अंग्रेजी ने वैज्ञानिक ज्ञान, तकनीकी प्रगति और अंतरराष्ट्रीय कूटनीति तक पहुंच प्रदान की, जिससे भारत को शक्ति और ज्ञान के वैश्विक नेटवर्क में लाभप्रद स्थिति प्राप्त हुई।इस प्रकार, संविधान में परिकल्पित पंद्रह वर्षीय संक्रमण काल से परे अंग्रेजी भाषा का निरंतर बने रहना घरेलू विविधता, राजनीतिक आवश्यकता और वैश्विक अनिवार्यता के संगम को दर्शाता है। उपनिवेशवाद के मात्र अवशेष के बजाय, अंग्रेजी राष्ट्रीय एकता और अंतर्राष्ट्रीय जुड़ाव दोनों का एक सार्थक साधन बन गई।

इस व्यापक भाषाई और राजनीतिक संदर्भ में, कुछ ऐसे व्यक्ति भी शामिल हैं जैसे कि...अटल बिहारी वाजपेयी उन्होंने हिंदी के सांस्कृतिक और प्रतीकात्मक महत्व को स्पष्ट करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वाजपेयी द्वारा संसदीय चर्चा में हिंदी का लगातार उपयोग, जो 1977 में संयुक्त राष्ट्र महासभा में उनके ऐतिहासिक भाषण में परिणत हुआ, वैश्विक मंच पर भारत की भाषाई पहचान की सचेत पुष्टि का प्रतिनिधित्व करता है।उनकी वाक्पटुता और जटिल राजनीतिक विचारों को सुलभ हिंदी में संप्रेषित करने की क्षमता ने उन्हें जनसंघ और बाद में भारतीय जनता पार्टी के भीतर एक प्रमुख नेता के रूप में उभरने में योगदान दिया, यह दर्शाता है कि भाषा सांस्कृतिक अभिव्यक्ति और राजनीतिक लामबंदी दोनों के माध्यम के रूप में कैसे कार्य कर सकती है।

स्वतंत्रता के बाद का भारत :– जैसा कि अक्सर उद्धृत की जाने वाली कहावत से पता चलता है,"साहित्य ही समाज का दर्पण है" । भारतीय संदर्भ में, विशेषकर स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में, हिंदी साहित्य को एक महत्वपूर्ण माध्यम के रूप में देखा जा सकता है जिसके द्वारा राष्ट्र के सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक संघर्षों को अभिव्यक्त किया गया। जहाँ एक ओर स्वतंत्रता की राजनीतिक गाथा आशावाद से ओतप्रोत थी, वहीं साहित्यिक कृतियाँ आम नागरिकों के दैनिक जीवन में व्याप्त निराशा को उजागर करती हैं।इस प्रकार हिंदी साहित्य केवल एक प्रतिबिंब के रूप में ही नहीं, बल्कि एक आलोचना के रूप में भी कार्य करता है, जो इस बात पर सवाल उठाता है कि स्वतंत्रता किस हद तक सार्थक परिवर्तन में तब्दील हुई।

1947 के बाद के दशकों में भारत आधुनिकता के वादों और पारंपरिक जड़ों के बोझ के बीच झूलता रहा। एक ओर, राज्य ने लोकतंत्र, विकास और सामाजिक न्याय के आदर्शों का प्रचार किया। दूसरी ओर, भ्रष्टाचार, जातिवाद और संस्थागत अक्षमता की गहरी जड़ें जमा चुकी प्रथाओं ने इन लक्ष्यों को कमजोर कर दिया। "नए भारत" की पहचान कभी स्थिर नहीं रही, बल्कि परस्पर विरोधी आवेगों से आकार लेती एक विवादित भूमि रही। यही अस्पष्टता श्रीलाल शुक्ल के प्रसिद्ध व्यंग्य उपन्यास की पृष्ठभूमि है।

शुक्ला ने स्वतंत्रता के बाद के ग्रामीण भारत की अव्यवस्था को तीखे व्यंग्य से चित्रित किया है। उनका काल्पनिक गाँव, शिवपालगंज, एक अलग–थलग बस्ती मात्र नहीं, बल्कि राष्ट्र का एक सूक्ष्म रूप है। अपने सजीव चरित्र चित्रण और व्यंग्य के माध्यम से शुक्ला दर्शाते हैं कि कैसे राष्ट्र के स्तंभ – शिक्षा, कानून, राजनीति और नौकरशाही – भीतर से ही खोखली हो रही हैं। स्थानीय विद्यालय शिक्षा के स्थान से अधिक छल–कपट का अड्डा बन गया हैय कानूनी व्यवस्था निहित स्वार्थों के बोझ तले दब गई हैय और राजनीतिक नेता दूरदर्शिता के बजाय अवसरवादिता पर फल–फूल रहे हैं। यह कथा, जैसा कि शुक्ला स्वयं रूपक के माध्यम से संकेत देते हैं, एक ष्भारी माल से लदे ट्रकष की तरह है जिसे ष्एक सड़क पर चलाया जा रहा है। 'जūṭā–चीūṭāष सड़क' एक ऐसे राष्ट्र का प्रतीक है जो आकांक्षाओं से बोझिल है लेकिन आगे बढ़ने के लिए एक स्थिर मार्ग का अभाव है।

स्वातंत्र्योत्तर युग के अन्य हिंदी लेखकों की रचनाओं में भी इसी प्रकार की आलोचनाएँ पाई जा सकती हैं। फणीश्वरनाथ रेणु की रचनाएँ भी इसी श्रेणी में आती हैं। मैला आँचल (1954) ग्रामीण बिहार में विकास के विरोधाभास को उजागर करता है, जहाँ प्रगति के वादे गहरी गरीबी और जातिगत उत्पीड़न से टकराते हैं। इसी प्रकार, निर्मल वर्मा की लघु कहानियाँ, विशेष रूप से संग्रहित कहानियाँ 'परिंदे', और मोहन

राकेश के नाटक (1959) स्वतंत्रता–उत्तर शहरी मध्यम वर्ग के अलगाव और पहचान संकट को स्पष्ट करते हैं, जो पश्चिमी आधुनिकता और भारतीय परंपराओं के बीच फँसा हुआ है। विशेष रूप से मोहन राकेश के नाटक 'आधे–अधूरे' (1969) में, उन्होंने तीव्र लेकिन असमान आधुनिकीकरण के युग में भारतीय परिवार और समाज की खंडित स्थिति की आलोचना की। रघुवीर सहाय जैसे कवियों ने भी अपने संग्रह 'हँसो हँसो जल्दी हँसो' (1975) में इस विषय पर प्रकाश डाला है, जिसने उस दौर में बढ़ते राजनीतिक अधिनायकवाद और भ्रष्टाचार पर व्यंग्य किया। स्वातंत्र्योत्तर युग के हिंदी साहित्य ने जहाँ एक ओर भारत की आंतरिक चुनौतियों का जीवंत प्रतिबिंब प्रस्तुत किया, वहीं दूसरी ओर राष्ट्र वैश्विक मंच पर अपनी पहचान को लेकर भी संघर्ष कर रहा था। श्रीलाल शुक्ल (राग दरबारी, फणीश्वर नाथ 'रेणु' (मैला आँचल) की रचनाओं ने आधुनिक आकांक्षाओं और पारंपरिक विरासतों के बीच फंसे समाज के विरोधाभासों को दस्तावेजीकृत किया। व्यंग्य, यथार्थवाद और सामाजिक आलोचना के माध्यम से, इन कृतियों ने नए भारतीय राज्य की अक्षमताओं, भ्रष्टाचार और संस्थागत विरोधाभासों को उजागर किया। जिस प्रकार शुक्ला के काल्पनिक गांव शिवपालगंज ने अनसुलझे तनावों से बोझिल राष्ट्र को चित्रित किया, उसी प्रकार व्यापक भारतीय राजनीतिक व्यवस्था अपनी भाषाई और सांस्कृतिक विरासत से जुड़े रहते हुए अंतरराष्ट्रीय स्तर पर अपनी पहचान बनाने के तरीके तलाश रही थी।

इसी पृष्ठभूमि में अटल बिहारी वाजपेयी ने 1977 में संयुक्त राष्ट्र में अपना ऐतिहासिक पहला भाषण दिया, जिसमें उन्होंने हिंदी को माध्यम चुना। यह कदम पारंपरिक राजनयिक मानदंडों से एक महत्वपूर्ण विचलन था, जो अंग्रेजी और अन्य व्यापक रूप से बोली जाने वाली भाषाओं को प्राथमिकता देते थे। हिंदी में बोलने का निर्णय केवल एक प्रतीकात्मक संकेत नहीं थाय यह वैश्विक शासन और अंतर्राष्ट्रीय संवाद का प्रतिनिधित्व करने वाले मंच पर भारत की सांस्कृतिक पहचान और भाषाई विरासत का एक सुनियोजित दावा था। जिस प्रकार हिंदी साहित्य ने भारतीय समाज का दर्पण प्रस्तुत किया, उसी प्रकार वाजपेयी के भाषण ने दुनिया के सामने एक आत्मविश्वासी भारत की छवि प्रस्तुत की, जिसमें नैतिक और राजनीतिक दोनों ही पहलुओं पर जोर दिया गया।

भाषण में शांति, निरस्त्रीकरण, विकासशील देशों के अधिकार और न्यायसंगत अंतरराष्ट्रीय संबंध जैसे महत्वपूर्ण वैश्विक मुद्दों को उठाया गया, लेकिन इसके माध्यम ने भी उतना ही सशक्त संदेश दिया। हिंदी का प्रयोग करके वाजपेयी ने जटिल अंतरराष्ट्रीय कूटनीति को अभिव्यक्त करने में भारत की स्वदेशी भाषाओं की वैधता और क्षमता को उजागर किया। वास्तव में, यह कार्य स्वतंत्रता के बाद के हिंदी लेखकों की साहित्यिक परंपरा के समानांतर था, जिन्होंने बौद्धिक या राजनीतिक विमर्श के एकमात्र माध्यम के रूप में अंग्रेजी के प्रभुत्व का विरोध करते हुए, स्थानीय भाषा के माध्यम से भारत की अनूठी वास्तविकताओं को व्यक्त करने पर जोर दिया।

इसके अलावा, साहित्य और कूटनीति का संगम एक व्यापक कथा को रेखांकित करता हैरू स्वतंत्रता के बाद का भारत आंतरिक और बाह्य दोनों स्तरों पर अपनी पहचान को लेकर संघर्ष कर रहा था। आंतरिक रूप से, साहित्य ने एक ऐसे समाज के संघर्षों, मोहभंगों और विरोधाभासों को दर्ज किया जो अपने लोकतांत्रिक आदर्शों को स्थापित सामाजिक वास्तविकताओं के साथ सामंजस्य बिठाने का प्रयास कर रहा था। बाह्य रूप से, वाजपेयी के संयुक्त राष्ट्र में दिए गए भाषण जैसे कार्यों के माध्यम से, भारत ने अंतरराष्ट्रीय मंच पर अपनी सांस्कृतिक और राजनीतिक पहचान को स्थापित करने का प्रयास किया, यह संकेत देते हुए कि आधुनिकता के लिए स्वदेशी जड़ों का विलोपन आवश्यक नहीं है। आंतरिक आलोचना और बाह्य अभिकथन का यह दोहरा मार्ग राष्ट्रवाद की एक सूक्ष्म समझ को दर्शाता हैरू भारत की आधुनिक पहचान केवल अपने ऐतिहासिक, सामाजिक और भाषाई आधारों को स्वीकार करते हुए और वैश्विक चुनौतियों से सक्रिय रूप से जुड़ते हुए ही उभर सकती थी।

1977 के भाषण का विश्लेषण :– "वसुधैव कुटुंबकम्" की भावना भारत की प्राचीन परंपरा है। हम सदा से यह मानते आए हैं कि पूरा विश्व एक परिवार है। संयुक्त राष्ट्र इस आदर्श को साकार करने की दिशा में

एक महत्वपूर्ण कदम है। हम राष्ट्रों की शक्ति या प्रभुत्व की नहीं, बल्कि मानव की गरिमा और प्रगति की बात करते हैं। हमारी सफलता का मापदंड यह होना चाहिए– क्या हम हर व्यक्ति को न्याय और सम्मान दिला पा रहे हैं?[1]

जब अटल बिहारी वाजपेयी ने 1977 में संयुक्त राष्ट्र महासभा को हिंदी में संबोधित किया ऐसा करने वाले वे पहले भारतीय विदेश मंत्री थे। उनकी भाषा का चुनाव एक सांस्कृतिक पुनरुद्धार का प्रतीक बन गया। भारत की सभ्यतागत चेतना में गहराई से समाहित भाषा हिंदी में बोलते हुए, एक ऐसे मंच पर जहां पारंपरिक रूप से पश्चिमी विचार हावी रहे हैं, वाजपेयी केवल एक राष्ट्र का प्रतिनिधित्व नहीं कर रहे थेय वे एक संपूर्ण भाषाई परंपरा की ज्ञान–संबंधी संप्रभुता को पुनः स्थापित कर रहे थे। उनका भाषण अहिंसक अभिव्यक्ति का एक ऐसा रूप था, जहां शब्दों में इतिहास, गौरव और पहचान की शक्ति समाहित थी।

1970 के दशक के भारत की सामाजिक–आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ अटल बिहारी वाजपेयी के 1977 में संयुक्त राष्ट्र महासभा में दिए गए संबोधन को समझने के लिए एक महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि प्रदान करती हैं। गरीबी, असमान विकास, और आपातकाल के दौरान सत्तावादी केंद्रीकरण के हालिया अनुभव ने लोकतांत्रिक संस्थाओं की नाजुकता तथा उपनिवेशोत्तर शासन की सीमाओं को उजागर कर दिया था। इस संदर्भ में, वाजपेयी का भाषण केवल एक कूटनीतिक वक्तव्य नहीं, बल्कि वैश्विक मंच पर लोकतांत्रिक वैधता और नैतिक स्थिति को पुनः प्रतिपादन के रूप में देखा जा सकता है।

मानव गरिमा, गुटनिरपेक्षता और "वसुधैव कुटुंबकम्" के आदर्श पर उनका जोर भारत की आंतरिक चुनौतियों की पृष्ठभूमि में और अधिक अर्थपूर्ण हो जाता है। ऐसे समय में, जब राज्य ने अभी–अभी नागरिक स्वतंत्रताओं को पुनर्स्थापित किया था और लोकतांत्रिक विश्वसनीयता को पुनर्निर्मित करने का प्रयास कर रहा था, यह भाषण भारत को एक नैतिक रूप से सुदृढ़, मानवीय और सहयोगी राष्ट्र के रूप में प्रस्तुत करने का माध्यम बनाकृभले ही उसके भीतर अंतर्विरोध मौजूद थे।

अटल जी अपने भाषण में सवाल करते हुए अफ्रीका की स्थिति पर चिंता व्यक्त करते हैं, अफ्रीका में स्थिति गंभीर है। क्या वहाँ के लोगों को स्वतंत्रता और सम्मान के साथ जीने का अधिकार मिलेगा,या रंगभेद पर आधारित अल्पसंख्यक शासन जारी रहेगा?

जिस प्रकार वाजपेयी ने अन्य राष्ट्रों के संघर्षों को मानवीय स्तर पर प्रमुखता दी, वह मानव गरिमा की सर्वोच्चता के प्रति उनकी सिद्धांतनिष्ठ प्रतिबद्धता को दर्शाता है। उनका संबोधन राष्ट्रीय हितों से आगे बढ़कर वैश्विक अन्यायों से जुड़ता है, विशेष रूप से अफ्रीका में नस्लीय भेदभाव की निंदा करते हुए तथा वहाँ के लोगों के वैध अधिकारों और गरिमा की वकालत करते हुए। उन्होंने मध्य पूर्व की परिस्थितियों की ओर भी ध्यान आकर्षित किया, जहाँ जबरन जनसांख्यिकीय और राजनीतिक हस्तक्षेपों की आलोचना की गई। इन सभी संदर्भों में वाजपेयी ने एक स्पष्ट और दृढ़ दृष्टिकोण प्रस्तुत किया कि मानव गरिमा पर किसी भी प्रकार का समझौता पूर्णतः अस्वीकार्य है। इस प्रकार उन्होंने भारत की विदेश नीति को सार्वभौमिक मानवाधिकारों पर आधारित एक नैतिक ढाँचे में स्थापित किया।

उनके संबोधन के नैतिक केंद्र में "वसुधैव कुटुंबकम्" का शाश्वत सिद्धांत था, विश्व एक परिवार है। यह आदर्श, जो "महाउपनिषद" से प्रेरित है, भारत में सार्वभौमिक मानवतावाद की सबसे प्राचीन अभिव्यक्तियों में से एक है, और इसकी गूंज ने आधुनिक हिंदी साहित्य के विकास को गहराई से प्रभावित किया है। स्वतंत्रता के बाद के हिंदी लेखकों ने इस विषय पर बार–बार विचार किया, इसे एक नैतिक दृष्टि और एक सामाजिक आवश्यकता दोनों के रूप में व्याख्यायित किया।

इसी प्रकार के विषयों पर हिंदी साहित्य के चिंतकों द्वारा भी विचार किया जा रहा था। रामधारी सिंह 'दिनकर' ने अपनी कृतियों जैसे रश्मिरथी (1952) और कुरुक्षेत्र (1946) में शक्ति और करुणा के बीच संतुलन की परिकल्पना की, यह तर्क देते हुए कि सच्चा राष्ट्रवाद मानवता में विकसित होना चाहिए। दिनकर

का विचार "संयम से सशक्तता" वाजपेयी की संयुक्त राष्ट्र में भाषाई कूटनीति के साथ निकटता से मेल खाता है, जहाँ भाषा प्रभुत्व के बजाय नैतिक प्रभाव का एक साधन बन जाती है।

अटल बिहारी वाजपेयी ने सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक विभाजनों से परे मानव कल्याण की ऐसी दृष्टि को निरंतर प्रतिपादित किया, जो समावेशिता और करुणा पर आधारित एक सार्वभौमिक नैतिकता थी। मानवता के प्रति उनकी अवधारणा व्यापक थी, जिसमें जन्म की परिस्थितियों या सामाजिक स्तरीकरण की परवाह किए बिना सभी व्यक्ति समाहित थे। इस प्रकार, वाजपेयी ने एक ऐसे भारत की नैतिक कल्पना को प्रतिध्वनित किया, जो अपनी सभ्यतागत लोकाचार में निहित होते हुए भी न्याय, सहानुभूति और साझा प्रगति के सिद्धांतों के माध्यम से विश्व के साथ जुड़ने का प्रयास करता है।

यह दृष्टिकोण एक ऐसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक मोड़ पर उभरा जब राष्ट्र अभी भी अपनी उत्तर–औपनिवेशिक पहचान और नैतिक दिशा का निर्धारण कर रहा था। वाजपेयी केवल एक राजनीतिक व्यक्तित्व ही नहीं, बल्कि एक नैतिक राजनेता भी थे, जो मानते थे कि किसी राष्ट्र की शक्ति उसकी नैतिक सार्वभौमिकता की क्षमता में निहित है। यद्यपि पूर्णतः न्यायपूर्ण मानवता का आदर्श अभी भी एक आकांक्षा मात्र है, वाजपेयी का जोर नैतिक प्रयासों की निरंतरता पर था, उनका मानना था कि मानव कल्याण की प्राप्ति ही किसी सभ्यता के नैतिक मूल्य को परिभाषित करती है, न कि उसकी पूर्ण प्राप्ति। इस प्रकार उनका विचार वैश्विक मानवतावाद के एक ऐसे स्वरूप के प्रति अटूट प्रतिबद्धता को दर्शाता है, जो प्रत्येक व्यक्ति की गरिमा और क्षमता को मान्यता देता है।

भाषा और कूटनीति के बीच संबंध :– "साम्राज्यवाद द्वारा प्रयुक्त और वास्तव में प्रतिदिन छोड़ा जाने वाला सबसे बड़ा हथियार. सांस्कृतिक बम है।"(Decolonising the Mind, 1986)

औपनिवेशिक शासन के तहत अफ्रीका का अनुभव कई मायनों में उत्तर–औपनिवेशिक भारत के बौद्धिक और सांस्कृतिक संघर्षों को प्रतिबिंबित करता है। यूरोपीय औपनिवेशिक शक्तियों, विशेष रूप से ब्रिटेन और फ्रांस ने न केवल राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित किया, बल्कि ज्ञान और भाषाई नियंत्रण भी थोपा, और शिक्षा, धर्म और साहित्य के माध्यम से अफ्रीकी चेतना को नया आकार देने का प्रयास किया। अफ्रीका में उपनिवेशीकरण, जैसा कि न्गुगी वा थ्योंगो ने प्रसिद्ध रूप से वर्णित किया है, एक 'सांस्कृतिक बम' था – एक ऐसा विस्फोट जो लोगों के अपने नामों, भाषाओं, पर्यावरण, विरासत और अंततः स्वयं में विश्वास को मिटा देता है। इसलिए, अफ्रीका पर उपनिवेशवाद का प्रभाव केवल आर्थिक या राजनीतिक क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं थाय इसने समाज की मनोवैज्ञानिक और भाषाई संरचनाओं में भी पैठ बना ली। औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली, जो अक्सर केवल अंग्रेजी या फ्रेंच में संचालित होती थी, ने अफ्रीकी बच्चों को उनकी स्वदेशी भाषाओं और सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों से अलग कर दिया। भाषा उत्पीड़न और प्रतिरोध दोनों का स्थल बन गई।मन का विउपनिवेशीकरण न्गुगी का तर्क है कि 'भाषा संचार का साधन होने के साथ–साथ संस्कृति की वाहक भी है,' और यूरोपीय भाषाओं के थोपे जाने से अफ्रीकी समाजों की सामूहिक स्मृति विस्थापित हो गई। इसका परिणाम चेतना में एक गहरा विभाजन था, भावना की भाषा और बुद्धि की भाषा के बीच, घर और विद्यालय के बीच, स्वयं और उसके थोपे गए प्रतिबिंब के बीच।

व्यक्तिगत पहचान और उसकी मातृभाषा के बीच अंतर्निहित संबंध को नकारना एक मूलभूत वैचारिक त्रुटि है। भाषा मात्र संचार का माध्यम नहीं हैय यह सांस्कृतिक स्मृति, ज्ञान मीमांसा और सामाजिक अनुभव का भंडार है। मैकाले की शिक्षा नीति के माध्यम से भारत में औपचारिक अंग्रेजी शिक्षा की शुरुआत ने ज्ञान की एक ऐसी श्रेणी को संस्थागत रूप दिया जिसने पश्चिमी विचार–पद्धतियों को प्राथमिकता दी। समय के साथ, यह ज्ञानमीमांसीय प्रभुत्व भारतीय चेतना में गहराई से समा गया, जिसने जीवन शैली, आकांक्षाओं और बौद्धिक ढांचों को आकार दिया अक्सर निरंतर आलोचनात्मक चिंतन के बिना।

जब कोई राजनीतिक नेता सांस्कृतिक विस्मृति की इस स्थिति को तोड़ता है, तो यह स्मरण की एक सामूहिक क्रिया को प्रेरित करता है, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक जड़ों की जागृति, जिन्हें हाशिए पर

धकेल दिया गया है या भुला दिया गया है। इस अर्थ में, 1977 में संयुक्त राष्ट्र में अटल बिहारी वाजपेयी का भाषण केवल एक कूटनीतिक संकेत या राष्ट्रीय पहचान का प्रतीकात्मक दावा नहीं था। बल्कि, यह सांस्कृतिक पुनरुद्धार का एक कार्य था, जिसने भाषाई आत्मसम्मान की पुष्टि की और भारतीयों को उनकी सभ्यतागत जड़ों की याद दिलाई। हिंदी में बोलने का उनका चुनाव औपनिवेशिक परंपराओं के प्रति सचेत प्रतिरोध का संकेत था और उसने सच्ची स्वतंत्रता के एक आवश्यक आयाम के रूप में सांस्कृतिक आत्म–जागरूकता के महत्व को रेखांकित किया।

निष्कर्ष :– पश्चिमी सांस्कृतिक वर्चस्व के व्यापक प्रभाव से गहराई से प्रभावित भारत, आधुनिकता की आकांक्षाओं और इन अंतर्संबंधों से उत्पन्न सांस्कृतिक पहचान और ऐतिहासिक स्मृति के संकट के बीच एक जटिल तनाव से जूझ रहा है। ऐसा संकट मुख्य रूप से भारत की स्वतंत्रता के समय देखा गया था, और यह आज भी जारी है। पश्चिम की भाषा के अलावा किसी अन्य भाषा का प्रयोग करना, विशेष रूप से भारत जैसे राष्ट्र में, जिसने न केवल सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर बल्कि मनोवैज्ञानिक और ज्ञान संबंधी स्तर पर भी उपनिवेशवाद का अनुभव किया है, एक गहन सांस्कृतिक पुनरुद्धार का कार्य है।

कूटनीति के स्तर पर, अंग्रेजी या फ्रेंच जैसी वैश्विक स्तर पर प्रभावशाली या ष्सत्ता की भाषाष् के बजाय अपनी राष्ट्रीय भाषा का उपयोग करना संप्रभुता और सांस्कृतिक आत्मसम्मान की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के रूप में कार्य करता है। यह उपनिवेशवाद द्वारा स्थापित ऐतिहासिक पदानुक्रमों को चुनौती देता है, जहाँ भाषा नियंत्रण और बौद्धिक अधीनता के प्राथमिक साधन के रूप में कार्य करती थी। स्वदेशी भाषाई माध्यम से राष्ट्रीय चिंताओं को व्यक्त करके, एक राज्य सूक्ष्म रूप से वैश्विक कूटनीति की वैचारिक शक्ति गतिशीलता को पुनर्परिभाषित करता है।

ऐसा संकेत मात्र भाषाई नहीं, बल्कि वैचारिक होता है, जो विरासत में मिले ज्ञान संबंधी मानदंडों के अनुरूप न ढलने और अपनी सभ्यतागत सक्रियता को पुनः स्थापित करने का प्रतीक है। इस अर्थ में, अटल बिहारी वाजपेयी का 1977 में संयुक्त राष्ट्र में हिंदी में भाषण देने का निर्णय केवल संचार की क्रिया से कहीं अधिक थाय यह भारत की उत्तर–औपनिवेशिक पहचान की एक अभिव्यक्ति पूर्ण घोषणा बन गया, जिसने पश्चिमी विमर्श से ऐतिहासिक रूप से प्रभावित वैश्विक व्यवस्था में भारतीय पहचान के लिए स्थान पुनः प्राप्त किया।

संदर्भ–सूची :–

1. अटल बिहारी वाजपेयी, "संयुक्त राष्ट्र महासभा में भाषण (1977)," यूट्यूब वीडियो, अपलोडकर्ता : UN Web TV, अवधि, 15:32, 4 अक्टूबर 1977 लिंक: https://www-youtube-com
2. अन्नामलाई, ई. भारत में बहुभाषावाद का प्रबंधन, राजनीतिक और भाषाई अभिव्यक्तियाँ (नई दिल्ली, सेज प्रकाशन, 2001), पृ. 60–75
3. ऑस्टिन, ग्रानविल. भारतीय संविधानरू एक राष्ट्र की आधारशिला (ऑक्सफोडर्स क्लेरेंडन प्रेस, 1966), पृ. 307–315।
4. कोहन, बर्नार्ड एस. औपनिवेशिकता और उसके ज्ञान के स्वरूप (प्रिंसटनः प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1966), पृ. 16–30।
5. चौधरी, ए. वाजपेयी, हिंदू दक्षिणपंथ का उदय, 1924–1977 (हार्परकॉलिन्स, 2023)।
6. न्गुगी वा थ्योंगो। डिकॉलोनाइजिंग द माइंड, अफ्रीकी साहित्य में भाषा की राजनीति (लंदन, जेम्स करी, 1986)।
7. राय, आलोक, हिंदी राष्ट्रवाद (हैदराबाद, ओरिएंट ब्लैकस्वान, 2001), पृ. 80–100।
8. शुक्ल, रामचंद्र। यह साहित्य नहीं, इतिहास है (इलाहाबादरू लोकभारती प्रकाशन, 1929, बहुसंस्करण)।
9. शुक्ला, श्रीलाल। राग दरबारी (नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1968)।
10. सिंह, नामवर। हिंदी साहित्य का आधुनिक इतिहास (नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन, 1980)।
11. हार्डग्रेव, रॉबर्ट एल. जूनियर। द्रविड़ आंदोलन (बॉम्बेः पॉपुलर प्रकाशन, 1965), पृ. 120–135।
12. मुखर्जी, मीनाक्षी, यथार्थवाद और वास्तविकतारू भारत में उपन्यास और समाज (नई दिल्लीः ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1985)।

राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के संदर्भ में 'हमारे आस-पास की दुनिया' विषय में अनुभवात्मक अधिगम

डॉ. अंजुली सुहाने*

सारांश :– यह शोध पत्र राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (एनईपी– 2020) और विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रुपरेखा– 2023 (एनसीएफ–एसई 2023) द्वारा परिकल्पित अनुभवात्मक अधिगम के महत्त्व का एक गहन विश्लेषण प्रस्तुत करता है। विशेष ध्यान तैयारी चरण (प्री– प्रेटरी स्टेज) के नवीन, बहु–विषयक विषय 'हमारे आस–पास की दुनिया' पर केंद्रित है। एनसीएफ–एसई 2023 का लक्ष्य 'करके सीखने' के माध्यम से बच्चों में विज्ञान, सामाजिक विज्ञान और पर्यावरण शिक्षा की समग्र समझ विकसित करना है। यह शोध लेख क जॉन ड्यूई और डेविड कोल्ब के सैद्धांतिक ढाँचों का उपयोग करते हुए कक्षा 3–5 के 'हमारे आस–पास की दुनिया' विषय के शिक्षण के लिए अनुभवात्मक अधिगम के महत्व, सिद्धांतों, व्यावहारिक अनुप्रयोगों, लाभों और चुनौतियों की जाँच करता है। निष्कर्ष यह है कि अनुभवात्मक अधिगम एनईपी– 2020 के समग्र और एकीकृत शिक्षा के लक्ष्य को प्राप्त करने का एक अपरिहार्य शैक्षणिक दृष्टिकोण है, जिसके सफल कार्यान्वयन हेतु शिक्षक क्षमता निर्माण और समावेशी कार्यनीतियों की आवश्यकता है।

प्रस्तावना :– भारत की राष्ट्रीय शिक्षा नीति–2020 (एनईपी– 2020) एक समग्र, बहु–विषयक और अनुभवात्मक शिक्षा प्रणाली की परिकल्पना करती है, जो विद्यार्थियों को केवल ज्ञान प्राप्त करने के बजाय उसे वास्तविक जीवन से जोड़ने में सक्षम बनाए। इस नीति के अनुसरण में, विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रुपरेखा– 2023 (एनसीएफएसई–2023) विभिन्न प्रकार के शिक्षार्थियों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पाठ्यक्रम तथा इसके कार्यान्वयन के लिए मार्गदर्शन करता है। एनसीएफएसई–23 में तैयारी चरण (Preparatory Stage) में एक नए विषय क्षेत्र 'हमारे आस–पास की दुनिया' की शुरुआत करने की अनुशंसा की है। इस विषय का मुख्य उद्देश्य बच्चों को उनके परिवेश और दैनिक अनुभवों से जोड़ते हुए पर्यावरणीय शिक्षा प्रदान करना है, ताकि वे विज्ञान, सामाजिक विज्ञान और पर्यावरण शिक्षा जैसे विभिन्न विषयों की बुनियादी अवधारणाओं को समझ सकें। 'हमारे आस–पास की दुनिया' विषय क्षेत्र से संबंधित एन सी आर टी द्वारा कक्षा 3–5 की पाठ्यपुस्तकें इसी उद्देश्य से तैयार की गई है कि बच्चे अपने सीखने को विभिन्न विषय क्षेत्रों से जोड़ सकें, अपने पर्यावरण के प्रति संवेदनशील बनें, सामुदायिक कार्यों में कौशल विकसित करें और विभिन्न व्यवसायों के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण अपनाएँ।

एनसीएफएसई–2023 ने विशेष रूप से अनुभवात्मक अधिगम पर बल दिया है, जो 'करके सीखने' के सिद्धांत पर आधारित है। यह केवल सूचनाओं के निष्क्रिय रूप से ग्रहण करने के बजाय, अनुभवों के माध्यम से ज्ञान, कौशल और मूल्यों के सक्रिय अधिग्रहण पर जोर देता है। यह शोध लेख कक्षा 3–5 के 'हमारे आस–पास की दुनिया' विषय के शिक्षण–अधिगम के लिए अनुभवात्मक अधिगम के महत्व, सिद्धांतों, व्यावहारिक अनुप्रयोगों, लाभों और चुनौतियों पर प्रकाश डालता है

अनुभवात्मक अधिगम का सैद्धांतिक आधार :– अनुभवात्मक अधिगम का सिद्धांत ज्ञान के निर्माण में अनुभवों और चिंतन की केंद्रीय भूमिका को रेखांकित करता है। अनुभवात्मक अधिगम ठोस अनुभव, चिंतनशील अवलोकन, अमूर्त गर्भाधान और सक्रिय प्रयोग के तरीकों को शामिल करता है, जिससे महारत हासिल करने और 'अधिगम की प्रक्रिया को सीखने' को बढ़ावा मिलता है (क्लैकस्टन और मुरेल, 1987)। इस संदर्भ में कुछ प्रमुख सिद्धांतकार और उनके योगदान निम्नलिखित हैं:

जॉन ड्यूई का सक्रिय जुड़ाव पर ज़ोर :– अनुभवात्मक शिक्षा पद्धतियों की नींव जॉन ड्यूई ने रखी थी, जो व्यावहारिक अनुभवों, गहन चिंतन और सिद्धांत व व्यवहार के एकीकरण को महत्व देते हैं।

* सह प्राध्यापक, शिक्षा विद्यापीठ, इग्नू, नई दिल्ली।

जॉन ड्यूई का मानना था कि बच्चों को कक्षा में केवल चुपचाप बैठकर जानकारी प्राप्त नहीं करनी चाहिए, बल्कि उन्हें सीखने की प्रक्रिया में सक्रिय रूप से शामिल होना चाहिए। ड्यूई ने इस बात पर ज़ोर दिया कि असली ज्ञान और समझ तब आती है जब लोग व्यावहारिक अनुभव प्राप्त करते हैं। यानी, किताब पढ़ने के बजाय, उस काम को वास्तव में करके सीखें। उनके अनुसार, सीखने में सिर्फ काम करना ही शामिल नहीं है, बल्कि उस अनुभव पर गहन चिंतन (सोचना) करना भी ज़रूरी है। इससे सिद्धांत (किताब की बातें) और व्यवहार (जो किया गया) एक साथ जुड़ जाते हैं। ड्यूई के विचार शिक्षकों को प्रेरित करते हैं कि वे एक ऐसी कक्षा बनाएं जहाँः

- **सक्रिय भागीदारी :** विद्यार्थी सिर्फ सुनते नहीं हैं, बल्कि शोध करते हैं, सवाल पूछते हैं, और समस्याओं को हल करने में सीधे शामिल होते हैं।
- **जांच का समुदाय :** कक्षा एक ऐसी जगह बन जाती है जहाँ विद्यार्थी एक–दूसरे के साथ मिलकर जानकारियों की जांच करते हैं और मिलकर सीखते हैं।

संक्षेप में, ड्यूई का दर्शन यह है कि सीखना एक सक्रिय प्रक्रिया है। यह यादगार और जीवन बदलने वाली तब होती है जब आप हाथों से काम करते हैं, सोचते हैं, और उन अनुभवों को अपने जीवन से जोड़ते हैं।

डेविड कोल्ब का अनुभवात्मक अधिगम सिद्धांत :– डेविड कोल्ब का अनुभवात्मक अधिगम मॉडल सीखने की प्रक्रिया को समझने में एक मौलिक ढाँचा प्रदान करता है, जिसे एक चक्रीय प्रक्रिया के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उनके मॉडल के चार मुख्य घटक हैंः

1. **ठोस अनुभव :** यह वह प्रारंभिक चरण है जहाँ शिक्षार्थी किसी गतिविधि या घटना में प्रत्यक्ष रूप से संलग्न होता है। उदाहरण के लिए, प्रकृति की सैर पर जाना या एक पौधा लगाना।
2. **चिंतनशील अवलोकन :** अनुभव के बाद, शिक्षार्थी उस पर चिंतन करते हैं कि क्या हुआ, क्या देखा, और क्यों हुआ। इसमें अनुभवों पर गहराई से विचार करना शामिल है।
3. **अमूर्त गर्भाधान :** इस चरण में, शिक्षार्थी अपने चिंतनशील अवलोकनों से सिद्धांतों, अवधारणाओं या विचारों का निर्माण करते हैं। वे अनुभव से प्राप्त जानकारी को व्यवस्थित करते हैं।
4. **सक्रिय प्रयोग :** अंतिम चरण में, शिक्षार्थी अपने नए बनाए गए अवधारणाओं या सिद्धांतों का परीक्षण करते हैं। वे नई परिस्थितियों में अपने ज्ञान को लागू करते हैं या भविष्य के अनुभवों के लिए योजना बनाते हैं।

यह चक्र सुनिश्चित करता है कि सीखना केवल अमूर्त अवधारणाओं का संग्रह न हो, बल्कि अनुभव से निकली हुई गहरी और स्थायी समझ ह, कार्रवाई–उन्मुख हो, जो ड्यूई के सिद्धांतों को कक्षा अभ्यास में अनुवादित करता है।

'हमारे आस–पास की दुनिया' विषय के शिक्षण में अनुभवात्मक अधिगम के लाभ :– 'हमारे आस–पास की दुनिया' विषय में अनुभवात्मक अधिगम को अपनाने से बच्चों और शिक्षकों दोनों को कई लाभ मिलते हैं, जिससे सीखने की प्रक्रिया अधिक प्रासंगिक और प्रभावी बनती हैः

1. **गहरी और स्थायी समझः** जब बच्चे सीधे अनुभव करते हैं, तो वे अमूर्त अवधारणाओं को ठोस वास्तविकताओं से जोड़ पाते हैं। उदाहरण के लिए, सिर्फ किताबों में पेड़–पौधों के बारे में पढ़ने के बजाय, जब वे खुद बीज बोते हैं और पौधे को बढ़ते देखते हैं, तो उन्हें पौधों के जीवन चक्र, मिट्टी और पानी के महत्व की गहरी और स्थायी समझ मिलती है। यह ज्ञान रटने की बजाय आत्मसात हो जाता है।
2. **बढ़ा हुआ जुड़ाव और प्रेरणाः** अनुभवात्मक गतिविधियाँ बच्चों को स्वाभाविक रूप से आकर्षित करती हैं। कक्षा में निष्क्रिय श्रोता बनने के बजाय, जब उन्हें बाहर जाने, खोजने, या कुछ करने का अवसर मिलता है, तो उनकी सीखने में रुचि और उत्साह कई गुना बढ़ जाता है। यह निष्क्रियता को सक्रिय भागीदारी में बदल देता है।
3. **उच्च–क्रम चिंतन कौशल का विकासः** अनुभवात्मक अधिगम केवल तथ्यों को याद रखने से कहीं बढ़कर है। यह बच्चों को अवलोकन, विश्लेषण, संश्लेषण, समस्या–समाधान और आलोचनात्मक सोच जैसे महत्वपूर्ण कौशल विकसित करने के लिए प्रोत्साहित करता है। जब वे किसी समुदाय सर्वेक्षण के आकड़ों का विश्लेषण करते हैं या किसी पर्यावरणीय समस्या का समाधान खोजते हैं, तो वे इन कौशलों का सक्रिय रूप से उपयोग करते हैं।

4. **व्यावहारिक और जीवन कौशल का विकासः** ये गतिविधियाँ बच्चों को सिर्फ अकादमिक ज्ञान ही नहीं देतीं, बल्कि उन्हें संचार, सहयोग, नेतृत्व, पहल, अनुकूलनशीलता और रचनात्मकता जैसे महत्वपूर्ण जीवन कौशल भी सिखाती हैं। प्रकृति की सैर के दौरान समूह में काम करना या कचरा प्रबंधन परियोजना के लिए योजना बनाना इन कौशलों को मजबूत करता है।
5. **पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता और जिम्मेदारीः** 'हमारे आस–पास की दुनिया' का एक मुख्य उद्देश्य पर्यावरणीय शिक्षा है। प्रत्यक्ष अनुभव (जैसे कचरा छाँटना या पौधे लगाना) बच्चों में अपने परिवेश के प्रति सीधा भावनात्मक जुड़ाव और जिम्मेदारी की भावना विकसित करता है, जो केवल व्याख्यान से संभव नहीं है। वे सीखते हैं कि उनके कार्यों का पर्यावरण पर क्या प्रभाव पड़ता है।
6. **समग्र विकासः** अनुभवात्मक अधिगम बच्चों के संज्ञानात्मक (ज्ञान), भावात्मक (भावनाएँ, दृष्टिकोण) और मनोगत्यात्मक (शारीरिक कौशल) तीनों क्षेत्रों को संबोधित करता है। यह उन्हें संतुलित और अच्छी तरह से विकसित व्यक्ति बनने में मदद करता है।
7. **वास्तविक दुनिया से जुड़ावः** यह अधिगम बच्चों को स्कूल में सीखे गए ज्ञान को उनके दैनिक जीवन और आसपास की दुनिया से जोड़ने में मदद करता है। वे समझते हैं कि उन्होंने जो सीखा है, वह केवल किताबों तक सीमित नहीं है, बल्कि वास्तविक जीवन में भी प्रासंगिक और उपयोगी है।

कक्षा 3–5 के लिए 'हमारे आस–पास की दुनिया' हेतु अनुभवात्मक गतिविधियों के उदाहरण :– यहाँ कुछ प्रभावी अनुभवात्मक अधिगम गतिविधियाँ की चर्चा करते जिनका उपयोग 'हमारे आस–पास की दुनिया' विषय के शिक्षण में किया जा सकता है, जो कोल्ब के चक्र के चरणों को समाहित करती हैंः

1. प्रकृति की सैर और अवलोकन

- अवधारणाएँः जैव विविधता, पारिस्थितिकी तंत्र, स्थानीय वनस्पति/जीव, प्राकृतिक संसाधन, भू–आकृतियाँ, प्रदूषण के स्रोत आदि
- गतिविधिः बच्चों को स्कूल के बगीचे, पास के पार्क, या किसी खुले मैदान में ले जाएँ। उन्हें अपनी इंद्रियों का उपयोग करके विभिन्न प्रकार के पौधों, पेड़ों, कीटों और पक्षियों का अवलोकन करने दें जिससे वे मूर्त अनुभव ले पायेंगे । वे पत्तियाँ, फूल (बिना तोड़े), या टहनियाँ एकत्र कर सकते हैं, चित्र बना सकते हैं या अपनी प्रकृति लॉगबुक में लिख सकते हैं।
- अधिगम को बढ़ावाः वापस कक्षा में, शिक्षक छात्रों को उनके अनुभवों पर चिंतन करने के लिए प्रोत्साहित करते हैंः "आपने क्या देखा/सुना/महसूस किया?", "क्या कोई पैटर्न था?" विद्यार्थी अपने अवलोकनों से सामान्य अवधारणाएं बनाते हैं जैसे विभिन्न जीवों का सह–अस्तित्व । वे अपने नए ज्ञान का उपयोग स्कूल के बगीचे में एक मिनी–पारिस्थितिकी तंत्र बनाने जैसी गतिविधियों में कर सकते हैं।

2. लघु बागवानी परियोजना

- अवधारणाएँः पौधों का जीवन चक्र, खाद्य उत्पादन, मिट्टी का महत्व, पानी का संरक्षण, स्थानीय कृषि।
- गतिविधिः विद्यार्थी स्कूल परिसर में या गमलों में छोटी सब्जियाँ या फूल लगाएँ)। उन्हें बीज बोने, पानी देने, खरपतवार निकालने और पौधों के विकास का दस्तावेजीकरण करने की प्रक्रिया में शामिल करें जो।
- अधिगम को बढ़ावाः विद्यार्थी पौधों के विकास पर नियमित रूप से चिंतन करते हैंः "पौधा क्यों बढ़ रहा है?", "इसे पानी की आवश्यकता क्यों है?" वे पौधों के जीवन चक्र, मिट्टी और पानी के महत्व जैसी अवधारणाओं को समझते हैं इस प्रकार बच्चे अमूर्त संकल्पनाएँ बनाते हैं । विद्यार्थी अपने सीखे हुए बागवानी कौशल को घर पर लागू कर सकते हैं या दूसरों को सिखा सकते हैं तब बच्चे सीखे हुए ज्ञान का सक्रिय प्रयोग करना सीख लेते हैं।

3. कचरा प्रबंधन और पुनर्चक्रण

- अवधारणाएँः पर्यावरणीय प्रदूषण, संसाधन संरक्षण, 3त (कम करें, पुनः उपयोग करें, पुनर्चक्रण करें), जिम्मेदार नागरिकता।

- गतिविधिः विद्यार्थी स्कूल में कचरा अलग करने (गीला/सूखा) के लिए डिब्बे स्थापित करें जो बच्चों को मूर्त अनुभव प्रदान करते हें। वे जैविक कचरे से खाद बनाने के लिए एक छोटा कंपोस्ट पिट भी बना सकते हैं। बच्चों को बेकार सामग्री से कलाकृतियाँ या उपयोगी वस्तुएँ बनाने के लिए प्रोत्साहित करें।
- अधिगम को बढ़ावाः विद्यार्थी अपनी गतिविधियों के परिणामों पर विचार करते हैंः "कचरा क्यों जमा होता है?", "खाद कैसे बनती है?" वे "कम करें, पुनः उपयोग करें, पुनर्चक्रण करें" के सिद्धांतों और उनके पर्यावरणीय स्थिरता पर प्रभाव को समझते हैं (अमूर्त संकल्पनाएँ)। विद्यार्थी अपने घरों में कचरा कम करने के लिए नए तरीके लागू कर सकते हैं (सक्रिय प्रयोग)।

4. समुदाय सर्वेक्षण और साक्षात्कार

- अवधारणाएँः स्थानीय समुदाय, विभिन्न व्यवसाय (किसान, दुकानदार, डॉक्टर), सेवाएँ (अस्पताल, डाकघर), संसाधन (पानी, बिजली), पर्यावरणीय मुद्दे (पानी की कमी), सांस्कृतिक विविधता।
- गतिविधिः शिक्षक के मार्गदर्शन में, बच्चे अपने पड़ोस या समुदाय में विभिन्न व्यवसायों या स्थानीय पर्यावरणीय मुद्दों पर सरल सर्वेक्षण प्रश्न तैयार करते हैं। वे परिवार के सदस्यों या पड़ोसियों का साक्षात्कार कर सकते हैं (मूर्त अनुभव)।
- अधिगम को बढ़ावाः विद्यार्थी अपने साक्षात्कारों से प्राप्त जानकारी पर चिंतन (चिंतनशील अवलोकन) करते हैंः "लोगों ने क्या कहा?", "क्या कोई समानताएं थीं?" वे समझते हैं कि कैसे विभिन्न व्यवसाय समुदाय में योगदान करते हैं या सामुदायिक समस्याएं क्या हैं (अमूर्त संकल्पना) । विद्यार्थी अपने निष्कर्षों को प्रस्तुत करते हैं और समस्याओं के समाधान सुझाते हैं (सक्रिय प्रयोग)।

5. पर्यावरण संबंधी नाटक/भूमिका–निर्वहन

- अवधारणाएँः पर्यावरणीय मुद्दे (प्रदूषण, वनों की कटाई, जल संरक्षण), पर्यावरणीय जिम्मेदारी, समाधान खोजना, सहानुभूति।
- गतिविधिः विद्यार्थी पर्यावरणीय समस्याओं पर आधारित लघु नाटक या भूमिका–निर्वहन तैयार करते हैं और प्रस्तुत करते हैं (मूर्त अनुभव)। उदाहरण के लिए, एक नाटक जो जल संरक्षण के महत्व को दर्शाता है।
- अधिगम को बढ़ावाः विद्यार्थी नाटक के संदेश और विभिन्न पात्रों के दृष्टिकोण पर चिंतन (अमूर्त संकल्पना) करते हैं। वे पर्यावरणीय मुद्दों की जटिलता और कैसे व्यक्ति समाधान का हिस्सा बन सकते हैं, जैसी अवधारणाओं को विकसित करते हैं ((अमूर्त संकल्पना)। विद्यार्थी अपने सीखे हुए संदेशों को अपने परिवार और दोस्तों के साथ साझा कर सकते हैं (सक्रिय प्रयोग)।

शिक्षण–अधिगम में अनुभवात्मक अधिगम लागू करने की चुनौतियाँ और समाधान :– अनुभवात्मक अधिगम के कई लाभों के बावजूद, इसके सफल कार्यान्वयन में कुछ चुनौतियाँ आ सकती हैं, जिनके लिए सुनियोजित समाधानों की आवश्यकता हैः

1. समय और संसाधन की आवश्यकताः अनुभवात्मक गतिविधियों की योजना बनाने, उन्हें निष्पादित करने और उनका मूल्यांकन करने में अधिक समय और संसाधनों (सामग्री, उपकरण) की आवश्यकता होती है।

समाधानः शिक्षकों को पर्याप्त तैयारी का समय और लचीला पाठ्यक्रम दिया जाना चाहिए। विद्यालयों को आवश्यक सामग्रियों के लिए बजट आवंटित करना चाहिए या स्थानीय समुदाय से मदद लेनी चाहिए।

2. आधारभूत संरचना और सामग्री की कमीः कई विद्यालयों, विशेषकर ग्रामीण या सीमित संसाधनों वाले विद्यालयों में, बाहरी गतिविधियों के लिए उपयुक्त बुनियादी ढाँचा या आवश्यक सामग्री की कमी हो सकती है।

समाधानः उपलब्ध स्थानीय संसाधनों का रचनात्मक रूप से उपयोग करें (जैसे विद्यालयों का प्रांगण, आस–पास के पार्क)। कम लागत वाली या पुनर्चक्रित सामग्री का उपयोग करें। समुदाय के सदस्यों से सामग्री दान करने का आग्रह करें।

3. शिक्षक प्रशिक्षण और क्षमता निर्माणः अनुभवात्मक अधिगम के लिए शिक्षकों को पारंपरिक 'शिक्षक–केंद्रित' दृष्टिकोण से हटकर 'सुविधाकर्ता' की भूमिका निभानी होती है। इसके लिए उन्हें विशेष प्रशिक्षण तथा कार्यशालाएँ की आवश्यकता होती है।

समाधानः नियमित शिक्षक विकास कार्यक्रम आयोजित किए जाने चाहिए जो अनुभवात्मक अधिगम के सिद्धांतों और व्यावहारिक कार्यान्वयन पर केंद्रित हों। अनुभवी शिक्षकों द्वारा सलाह और सहकर्मी सहायता समूह भी सहायक हो सकते हैं।

4. बड़ी कक्षाओं का प्रबंधनः बड़ी कक्षाओं में अनुभवात्मक गतिविधियों का प्रबंधन करना चुनौतीपूर्ण हो सकता है।

समाधानः गतिविधियों को छोटे समूहों में विभाजित करें। माता–पिता या अन्य समुदाय के सदस्यों को स्वयंसेवकों के रूप में शामिल करें। गतिविधियों को इस तरह से डिज़ाइन करें जो अधिकतम विद्यार्थी भागीदारी सुनिश्चित करे।

5. मूल्यांकन की चुनौतियाँः अनुभवात्मक अधिगम के परिणामों का मूल्यांकन पारंपरिक परीक्षा–आधारित तरीकों से करना कठिन हो सकता है।

समाधानः अवलोकन, पोर्टफोलियो, प्रदर्शन–आधारित कार्य, और चिंतनशील जर्नल जैसे अधिक रचनात्मक और प्रक्रिया–उन्मुख मूल्यांकन विधियों का उपयोग करें। मूल्यांकन को सीखने की प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग बनाएं।

6. सुरक्षा और जोखिमः क्षेत्र भ्रमण या बाहरी गतिविधियों में बच्चों की सुरक्षा सुनिश्चित करना एक महत्वपूर्ण चिंता का विषय हो सकता है।

समाधानः प्रत्येक गतिविधि के लिए विस्तृत सुरक्षा योजनाएँ बनाएँ। माता–पिता से लिखित अनुमति लें। पर्याप्त पर्यवेक्षण सुनिश्चित करें। छात्रों को सुरक्षा नियमों के बारे में स्पष्ट रूप से सूचित करें।

इन चुनौतियों को स्वीकार करना और उनके समाधान के लिए रणनीतियाँ विकसित करना 'हमारे आस–पास की दुनिया' के लिए अनुभवात्मक अधिगम को सफल बनाने के लिए महत्वपूर्ण है। इसमें नीतिगत समर्थन, पर्याप्त संसाधन आवंटन, सतत शिक्षक विकास और माता–पिता व समुदाय की भागीदारी शामिल है।

निष्कर्ष :– 'हमारे आस–पास की दुनिया' विषय के शिक्षण के लिए अनुभवात्मक अधिगम एक परिवर्तनकारी शक्ति के रूप में उभरा है, जो सिद्धांत और व्यवहार के बीच एक सशक्त सेतु का निर्माण करता है। यह बच्चों को केवल पर्यावरणीय अवधारणाओं को सिखाने से कहीं बढ़कर है; यह उन्हें अपने परिवेश के साथ सीधा अनुभव करने, उस पर चिंतन करने और सक्रिय रूप से उससे जुड़ने का अवसर प्रदान करता है। अनुभवात्मक अधिगम के माध्यम से, बच्चे न केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं, बल्कि वे महत्वपूर्ण जीवन कौशल विकसित करते हैं, पर्यावरण के प्रति संवेदनशीलता सीखते हैं और जिम्मेदार नागरिक बनने की दिशा में कदम बढ़ाते हैं।

हालांकि, इस दृष्टिकोण को प्रभावी ढंग से लागू करने के लिए शिक्षकों, स्कूल प्रशासन और नीति–निर्माताओं के बीच एक समन्वित प्रयास की आवश्यकता है। चुनौतियों का समाधान करके और अनुभवात्मक अधिगम के सिद्धांतों को शिक्षण प्रथाओं में गहराई से एकीकृत करके, हम यह सुनिश्चित कर सकते हैं कि 'हमारे आस–पास की दुनिया' विषय वास्तव में बच्चों को उस अद्भुत दुनिया से जोड़े जिसमें वे रहते हैं, और उन्हें भविष्य की चुनौतियों का सामना करने के लिए तैयार करे।

संदर्भ–सूची :–

1. भारत सरकार. (2020). राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 (NEP 2020). नई दिल्लीः शिक्षा मंत्रालय।
2. एन सी ई आर टी . (2023). विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा– 2023, नई दिल्लीः एन सी ई आर टी।
3. डेवी, जे. (1938). एक्सपीरियंस एंड एजुकेशन. न्यूयॉर्कः मैकमिलन।
4. कोल्ब, डी. ए. (1984). एक्सपीरिएंशियल लर्निंगः एक्सपीरियंस ऐज़ द सोर्स ऑफ लर्निंग एंड डेवलपमेंट. एंग्लवुड क्लिफ्स, एनजेः प्रेंटिस–हॉल।
5. क्लैकस्टन, सी. एस., एवं मुरेल, पी. एच. (1987). लर्निंग स्टाइल्सः इम्प्लिकेशन्स फॉर इम्प्रूविंग एजुकेशनल प्रैक्टिसेज (ASHE&ERIC हायर एजुकेशन रिपोर्ट संख्या 4, 1987). एसोसिएशन फॉर द स्टडी ऑफ हायर एजुकेशन।

समाज को समझने की समाजशास्त्रीय दृष्टि

भारतीय समाज, सामाजिक संरचना, परिवर्तन एवं समकालीन विमर्श का अध्ययन

डॉ. वरुण कुमार उपाध्याय*

डॉ. अनुराग सिंह**

सारांश :– समाजशास्त्र समाज के संरचनात्मक, सांस्कृतिक एवं परिवर्तनशील आयामों को समझने का एक वैज्ञानिक अनुशासन है। प्रस्तुत शोध–पत्र में समाज को समझने की समाजशास्त्रीय दृष्टि का विश्लेषण करते हुए भारतीय समाज की संरचना, उसके परिवर्तन और समकालीन विमर्शों का अध्ययन किया गया है। इसमें जाति, वर्ग, लिंग, धर्म, वैश्वीकरण, आधुनिकता तथा उत्तर–आधुनिकता जैसे पहलुओं को समाहित किया गया है। साथ ही, विभिन्न समाजशास्त्रीय विचारकों के सिद्धांतों के आधार पर भारतीय समाज की व्याख्या की गई है। अंततः यह शोध सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति और समकालीन चुनौतियों पर प्रकाश डालता है।

मुख्य–शब्द :– सामाजिक संरचना, भारतीय समाज, सामाजिक परिवर्तन, जाति, वैश्वीकरण, समकालीन विमर्श।

प्रस्तावना :– समाजशास्त्र एक आधुनिक सामाजिक विज्ञान के रूप में मानव समाज, सामाजिक संबंधों, संस्थागत संरचनाओं तथा सामाजिक प्रक्रियाओं के व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक अध्ययन का अनुशासन है। यह न केवल सामाजिक जीवन के विभिन्न आयामों का वर्णन करता है, बल्कि उनके अंतर्निहित कारणों, संरचनात्मक संबंधों तथा उनके परिणामों का विश्लेषण भी करता है। समाजशास्त्र का मूल उद्देश्य यह समझना है कि मनुष्य किस प्रकार सामाजिक संदर्भों में व्यवहार करता है, सामाजिक संबंधों का निर्माण कैसे होता है तथा सामाजिक व्यवस्था किस प्रकार स्थायित्व एवं परिवर्तन के बीच संतुलन बनाए रखती है। समाजशास्त्र की दृष्टि अन्य सामाजिक विज्ञानों से इस अर्थ में भिन्न है कि यह समाज को एक समग्र (भ्वसपेजपब) इकाई के रूप में देखता है। यह न केवल व्यक्तिगत व्यवहार को समझने का प्रयास करता है, बल्कि यह भी स्पष्ट करता है कि व्यक्ति का व्यवहार सामाजिक संरचनाओं, सांस्कृतिक मान्यताओं तथा संस्थागत व्यवस्थाओं से किस प्रकार प्रभावित होता है। इस प्रकार समाजशास्त्र व्यक्ति और समाज के मध्य अंतर्संबंधों को समझने का एक सशक्त उपकरण प्रदान करता है।

भारतीय समाज, समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए एक अत्यंत महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट उदाहरण प्रस्तुत करता है। यह समाज अपनी बहुलता (plurality), विविधता(diversity) तथा जटिलता (बवउचसम•पजल) के कारण विश्व के अन्य समाजों से अलग पहचान रखता है। यहाँ अनेक धर्म, भाषाएँ, संस्कृतियाँ, जातियाँ एवं उपजातियाँ एक साथ विद्यमान हैं, जो इसे एक बहुस्तरीय सामाजिक संरचना प्रदान करती हैं। भारतीय समाज की यह विशेषता इसे अध्ययन के लिए अत्यंत समृद्ध एवं चुनौतीपूर्ण दोनों बनाती है। भारतीय समाज में परंपरा और आधुनिकता का सह–अस्तित्व इसकी एक प्रमुख विशेषता है। एक ओर यहाँ प्राचीन सांस्कृतिक परंपराएँ, धार्मिक मान्यताएँ तथा सामाजिक प्रथाएँ आज भी प्रभावी हैं, वहीं दूसरी ओर औद्योगीकरण, नगरीकरण, शिक्षा के प्रसार तथा वैश्वीकरण के प्रभाव से आधुनिक मूल्यों एवं जीवन शैलियों का भी तीव्र विकास हुआ है। इस द्वैत (duality) ने भारतीय समाज को एक संक्रमणशील (transitional) स्वरूप प्रदान किया है, जहाँ निरंतर परिवर्तन और स्थायित्व दोनों एक साथ कार्य कर रहे हैं।

भारतीय समाज की संरचना को समझने में जाति व्यवस्था एक केंद्रीय तत्व के रूप में सामने आती है। यह केवल एक सामाजिक श्रेणीकरण प्रणाली नहीं है, बल्कि यह सामाजिक संबंधों, संसाधनों के वितरण तथा शक्ति संरचना को भी प्रभावित करती है। जाति व्यवस्था ने ऐतिहासिक रूप से सामाजिक असमानताओं को

***सहायक आचार्य, समाजशास्त्र विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,वर्धा।**

****अतिथि अध्यापक समाजशास्त्र विभाग महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय,वर्धा।**

संरक्षित एवं वैधता प्रदान की है, हालांकि आधुनिक समय में इसके स्वरूप में परिवर्तन भी देखने को मिल रहा है। इसी प्रकार वर्ग व्यवस्था, जो आर्थिक आधार पर निर्मित होती है, आधुनिक भारतीय समाज में बढ़ती हुई महत्ता प्राप्त कर रही है। इसके अतिरिक्त, धर्म भारतीय समाज के संगठन में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। यह न केवल व्यक्ति के नैतिक जीवन को दिशा देता है, बल्कि सामाजिक एकता एवं पहचान के निर्माण में भी सहायक होता है। हालांकि, कई बार धार्मिक विविधता सामाजिक तनाव एवं संघर्ष का कारण भी बनती है। भाषा एवं क्षेत्रीयता भी भारतीय समाज की संरचना में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं, जो सांस्कृतिक विविधता को समृद्ध करते हैं, परंतु कभी–कभी क्षेत्रीय अस्मिता (Regional Identity) के आधार पर विभाजन की स्थिति भी उत्पन्न करते हैं। आर्थिक विषमता भारतीय समाज की एक अन्य प्रमुख विशेषता है, जो सामाजिक असमानताओं को और अधिक जटिल बनाती है। गरीबी, बेरोजगारी, शिक्षा की असमान उपलब्धता तथा संसाधनों का असमान वितरण सामाजिक संरचना को प्रभावित करते हैं और सामाजिक गतिशीलता को सीमित करते हैं।

इस संदर्भ में समाजशास्त्रीय दृष्टि अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है, क्योंकि यह हमें समाज की संरचना, प्रक्रियाओं एवं परिवर्तनों को समझने का एक वैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक आधार प्रदान करती है। समाजशास्त्र हमें यह समझने में सक्षम बनाता है कि समाज केवल व्यक्तियों का समूह नहीं है, बल्कि यह एक सुव्यवस्थित संरचना है जिसमें विभिन्न संस्थाएँ, मानदंड एवं भूमिकाएँ एक–दूसरे से अंतर्संबंधित होती हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के माध्यम से हम यह विश्लेषण कर सकते हैं कि सामाजिक संबंध किस प्रकार निर्मित होते हैं तथा वे किस प्रकार सामाजिक संरचना को बनाए रखते हैं। उदाहरण के लिए, परिवार, विवाह, शिक्षा एवं धर्म जैसी संस्थाएँ न केवल सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में सहायक होती हैं, बल्कि वे सामाजिक मूल्यों एवं मानदंडों के संचरण का भी माध्यम होती हैं। इसके अतिरिक्त, समाजशास्त्र हमें सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति एवं दिशा को समझने में भी सहायता प्रदान करता है। सामाजिक परिवर्तन एक सतत प्रक्रिया है, जो विभिन्न कारकों जैसे–प्रौद्योगिकी, शिक्षा, आर्थिक विकास, राजनीतिक नीतियों एवं वैश्विक प्रभावों से प्रभावित होती है। भारतीय समाज में यह परिवर्तन विशेष रूप से देखा जा सकता है, जहाँ पारंपरिक संरचनाओं में परिवर्तन हो रहा है और नए सामाजिक स्वरूप उभर रहे हैं। समकालीन समाज में अनेक नई समस्याएँ एवं विमर्श उभरकर सामने आए हैं, जैसे–जातीय असमानता, लैंगिक भेदभाव, पर्यावरणीय संकट, पहचान की राजनीति एवं वैश्वीकरण के प्रभाव। समाजशास्त्रीय दृष्टि इन समस्याओं की जड़ों को समझने तथा उनके समाधान के लिए वैचारिक आधार प्रदान करने में सहायक होती है। यह हमें यह समझने में सक्षम बनाती है कि ये समस्याएँ केवल व्यक्तिगत स्तर की नहीं हैं, बल्कि इनके पीछे व्यापक सामाजिक संरचनाएँ एवं प्रक्रियाएँ कार्य कर रही हैं।

इस प्रकार समाजशास्त्रीय दृष्टि इन प्रमुख प्रश्नों के उत्तर खोजने में सहायता करती है–

- समाज की संरचना किन तत्वों से निर्मित होती है और यह किस प्रकार कार्य करती है।
- सामाजिक संबंधों का निर्माण किन प्रक्रियाओं के माध्यम से होता है तथा वे किस प्रकार सामाजिक व्यवस्था को प्रभावित करते हैं।
- सामाजिक परिवर्तन किन कारकों से संचालित होता है और उसकी दिशा एवं गति क्या होती है।
- समकालीन सामाजिक समस्याओं की जड़ें क्या हैं और वे किस प्रकार सामाजिक संरचना से संबंधित हैं।

अतः यह कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र न केवल समाज को समझने का एक उपकरण है, बल्कि यह सामाजिक यथार्थ के आलोचनात्मक विश्लेषण का माध्यम भी है। विशेष रूप से भारतीय समाज के संदर्भ में, जहाँ विविधता, असमानता एवं परिवर्तन की प्रक्रियाएँ एक साथ कार्य कर रही हैं, समाजशास्त्रीय दृष्टि का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता है। जिसमें भारतीय समाज की संरचना, सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रियाओं तथा समकालीन विमर्शों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत किया जाएगा। इसके माध्यम से यह समझने का प्रयास किया जाएगा कि किस प्रकार समाजशास्त्र हमें समाज के गहन एवं बहुआयामी स्वरूप को समझने में सक्षम बनाता है।

सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य :– समाज को समझने के लिए समाजशास्त्र विभिन्न सैद्धांतिक दृष्टिकोणों का उपयोग करता है, जो सामाजिक संरचना, प्रक्रियाओं एवं परिवर्तन की व्याख्या करने में सहायक होते हैं। कोई भी समाज एक जटिल व्यवस्था है, जिसे समझने के लिए एकल दृष्टिकोण पर्याप्त नहीं होता; अतः समाजशास्त्रीय विश्लेषण में बहु–दृष्टिकोणीय (उनसजप–चमतेचमबजपअंस) पद्धति को अपनाया जाता है। इस संदर्भ में कार्यात्मकतावाद, संघर्ष सिद्धांत, प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद, आधुनिकता एवं उत्तर–आधुनिकता जैसे प्रमुख सिद्धांत अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

कार्यात्मकतावादी दृष्टिकोण :– कार्यात्मकतावाद समाज को एक सुव्यवस्थित एवं संतुलित प्रणाली के रूप में देखता है, जिसमें प्रत्येक सामाजिक संस्था का एक विशिष्ट कार्य (निदबजपवद) होता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार समाज एक जैविक इकाई (वतहंदपब ेलेजमउ) की तरह कार्य करता है, जहाँ विभिन्न अंग परस्पर निर्भर होते हैं।

इस सिद्धांत के अनुसार–

- समाज की प्रत्येक संस्था (जैसे परिवार, शिक्षा, धर्म) सामाजिक स्थिरता बनाए रखने में योगदान देती है।
- सामाजिक मानदंड एवं मूल्य सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखते हैं।
- सामाजिक परिवर्तन धीमी एवं क्रमिक प्रक्रिया होती है।

भारतीय समाज के संदर्भ में कार्यात्मकतावादी दृष्टिकोण जाति व्यवस्था को सामाजिक स्थिरता बनाए रखने वाली संस्था के रूप में देखता है। पारंपरिक समाज में विभिन्न जातियाँ अपने–अपने कार्यों का निर्वहन करती थीं, जिससे सामाजिक संतुलन बना रहता था। हालांकि, इस दृष्टिकोण की आलोचना इस आधार पर की जाती है कि यह सामाजिक असमानताओं को उचित ठहराने की प्रवृत्ति रखता है।

संघर्ष सिद्धांत :– संघर्ष सिद्धांत समाज को एक ऐसे क्षेत्र के रूप में देखता है जहाँ विभिन्न समूहों के बीच संसाधनों, शक्ति एवं प्रतिष्ठा के लिए निरंतर संघर्ष चलता रहता है। यह दृष्टिकोण सामाजिक असमानताओं, शोषण एवं प्रभुत्व की संरचनाओं को उजागर करता है।

इस सिद्धांत के मुख्य तत्त्व हैं–

- समाज में संसाधनों का असमान वितरण होता है।
- शक्तिशाली वर्ग अपने हितों की रक्षा करता है।
- सामाजिक परिवर्तन संघर्ष के परिणामस्वरूप होता है।

भारतीय समाज में यह दृष्टिकोण विशेष रूप से प्रासंगिक है, जहाँ जाति, वर्ग एवं लिंग के आधार पर असमानताएँ स्पष्ट रूप से देखी जा सकती हैं। दलित आंदोलन, महिला आंदोलन एवं अन्य सामाजिक आंदोलनों को इस दृष्टिकोण के माध्यम से समझा जा सकता है। संघर्ष सिद्धांत यह भी स्पष्ट करता है कि सामाजिक संरचना केवल सहमति (बवदेमदेने) पर आधारित नहीं होती, बल्कि यह शक्ति संबंधों एवं प्रभुत्व के तंत्र से भी निर्मित होती है।

प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद :– प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद समाज को सूक्ष्म स्तर (उपबतव–समअमस) पर समझने का प्रयास करता है। यह दृष्टिकोण इस बात पर बल देता है कि सामाजिक वास्तविकता का निर्माण दैनिक अंतःक्रियाओं एवं प्रतीकों के माध्यम से होता है। इसके प्रमुख तत्व हैं–

- व्यक्ति अपने अनुभवों के आधार पर अर्थ (उमंदपदह) निर्मित करता है।
- सामाजिक संबंध प्रतीकों एवं भाषा के माध्यम से बनते हैं।
- समाज निरंतर पुनर्निर्मित (तमबवदेजतनबजमक) होता रहता है।

भारतीय समाज में यह दृष्टिकोण यह समझने में सहायक है कि किस प्रकार जातीय पहचान, धार्मिक प्रतीक एवं सांस्कृतिक व्यवहार सामाजिक जीवन को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिए, जातिगत पहचान केवल संरचनात्मक तत्व नहीं है, बल्कि यह दैनिक जीवन में व्यवहार, भाषा एवं प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त होती है।

संरचनावाद एवं उत्तर–संरचनावाद :– संरचनावादी दृष्टिकोण समाज को एक ऐसी संरचना के रूप में देखता है जिसमें विभिन्न तत्व एक निश्चित पैटर्न में संगठित होते हैं। यह भाषा, संस्कृति एवं सामाजिक संबंधों के गहरे ढाँचों को समझने का प्रयास करता है। इसके विपरीत, उत्तर–संरचनावाद यह तर्क देता है कि सामाजिक वास्तविकता स्थिर नहीं होती, बल्कि यह निरंतर परिवर्तनशील एवं बहु–अर्थी (उनसजप–उमंदपदहनिस) होती है। भारतीय समाज के संदर्भ में यह दृष्टिकोण सांस्कृतिक विविधता एवं पहचान की जटिलताओं को समझने में सहायक है।

आधुनिकता का सिद्धांत :– आधुनिकता एक ऐसी प्रक्रिया है जो औद्योगीकरण, नगरीकरण, वैज्ञानिक दृष्टिकोण एवं तर्कशीलता के विकास से जुड़ी हुई है। यह पारंपरिक समाज से आधुनिक समाज की ओर संक्रमण को दर्शाती है।

आधुनिकता के प्रमुख लक्षण–

- तर्कसंगतता (Rationality)
- वैज्ञानिक दृष्टिकोण
- व्यक्तिवाद (Individualism)
- संस्थागत विभाजन

भारतीय समाज में आधुनिकता का प्रभाव शिक्षा, संचार, तकनीकी विकास एवं लोकतांत्रिक संस्थाओं के माध्यम से देखा जा सकता है। हालांकि, भारतीय समाज में आधुनिकता पूर्णतः पारंपरिक संरचनाओं को समाप्त नहीं कर पाई है, बल्कि दोनों का सह–अस्तित्व बना हुआ है।

उत्तर–आधुनिकता (Postmodernism) उत्तर–आधुनिकता आधुनिकता की सीमाओं एवं दावों की आलोचना करती है। यह इस विचार को चुनौती देती है कि समाज एक ही दिशा में विकास करता है।

इसके मुख्य तत्त्व हैं–

- "महान आख्यानों" (Grand Narratives) का अंत
- पहचान की राजनीति
- बहुलता एवं विविधता पर बल
- उपभोक्तावाद एवं मीडिया का प्रभाव

भारतीय समाज में उत्तर–आधुनिक प्रवृत्तियाँ विशेष रूप से शहरी क्षेत्रों, मीडिया संस्कृति एवं उपभोक्तावादी जीवन शैली में देखी जा सकती हैं।

नारीवादी दृष्टिकोण (Feminist Perspective) नारीवादी दृष्टिकोण समाज में लैंगिक असमानताओं का विश्लेषण करता है। यह पितृसत्तात्मक संरचना की आलोचना करता है और महिलाओं के अधिकारों एवं समानता की वकालत करता है। भारतीय समाज में यह दृष्टिकोण–

- लैंगिक भेदभाव
- घरेलू हिंसा
- शिक्षा एवं रोजगार में असमानता जैसे मुद्दों को समझने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

उपनिवेशोत्तर दृष्टिकोण (Postcolonial Perspective) यह दृष्टिकोण उपनिवेशवाद के प्रभावों एवं उसके पश्चात उत्पन्न सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों का अध्ययन करता है। भारतीय समाज के संदर्भ में यह दृष्टिकोण–

- औपनिवेशिक विरासत
- ज्ञान की राजनीति को समझने में सहायक है।
- सांस्कृतिक पहचान

साहित्य समीक्षा (Literature Review) :– साहित्य समीक्षा किसी भी शोध का एक केंद्रीय एवं अनिवार्य घटक है, जिसके माध्यम से संबंधित विषय पर पूर्ववर्ती अध्ययनों, सिद्धांतों एवं विमर्शों का समालोचनात्मक विश्लेषण किया जाता है। यह न केवल शोध की सैद्धांतिक पृष्ठभूमि को स्पष्ट करती है, बल्कि यह अनुसंधान के क्षेत्र में विद्यमान प्रवृत्तियों, बहसों तथा अंतरालों (तमेमंतबी हंचे) की पहचान करने में भी सहायक होती है।

भारतीय समाज, अपनी जटिलता, विविधता एवं ऐतिहासिक गहराई के कारण समाजशास्त्रीय अध्ययन के लिए एक अत्यंत समृद्ध क्षेत्र प्रस्तुत करता है। इस संदर्भ में विभिन्न कालखंडों में अनेक विद्वानों ने समाज की संरचना, परिवर्तन एवं असमानताओं को समझने के लिए महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इस साहित्य समीक्षा को कालानुक्रमिक दृष्टिकोण (chronological approach) के आधार पर चार प्रमुख चरणों में विभाजित किया गया है–

1. शास्त्रीय समाजशास्त्रीय अध्ययन
2. भारतीय समाजशास्त्रीय परंपरा
3. आधुनिक एवं समकालीन अध्ययन
4. आलोचनात्मक एवं उत्तर–आधुनिक दृष्टिकोण

शास्त्रीय समाजशास्त्रीय अध्ययन (Classical Sociological Tradition) :– शास्त्रीय समाजशास्त्र का उद्‌भव 19वीं शताब्दी में औद्योगिक क्रांति एवं आधुनिकता के उदय के साथ हुआ। इस काल के समाजशास्त्रियों ने समाज को एक संगठित एवं संरचित प्रणाली के रूप में समझने का प्रयास किया। कार्ल मार्क्स ने समाज को आर्थिक संरचना के आधार पर विश्लेषित करते हुए यह तर्क दिया कि उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण रखने वाला वर्ग सामाजिक, राजनीतिक एवं वैचारिक प्रभुत्व स्थापित करता है। उन्होंने वर्ग संघर्ष को सामाजिक परिवर्तन का मुख्य प्रेरक माना (डंत•, 1867/1976)। इसके विपरीत, एमिल दुर्खीम ने समाज को एक नैतिक एवं सामूहिक चेतना (बवससमबजपअम बवदेबपमदबम) से युक्त व्यवस्था के रूप में देखा। उन्होंने सामाजिक एकता के दो रूपों–यांत्रिक एवं जैविक–का विश्लेषण किया तथा यह स्पष्ट किया कि आधुनिक समाज में श्रम विभाजन सामाजिक एकता का आधार बनता है (क्नतगीमपउ, 1893/1984; 1912/1995)।

मैक्स वेबर ने समाजशास्त्र को व्याख्यात्मक (पदजमतचतमजंजपअम) दिशा प्रदान करते हुए सामाजिक क्रिया (वबपंस बजपवद) की अवधारणा विकसित की। उन्होंने यह तर्क दिया कि सामाजिक व्यवहार को समझने के लिए व्यक्तियों द्वारा दिए गए अर्थों एवं उद्देश्यों का विश्लेषण आवश्यक है (मइमत, 1905/2002; 1922/1978)। इन शास्त्रीय विचारकों के अध्ययन में समाज को एक संगठित प्रणाली के रूप में देखा गया तथा सामाजिक व्यवस्था, स्थिरता एवं संरचना पर विशेष बल दिया गया। हालांकि, इन सिद्धांतों की आलोचना इस आधार पर की गई कि ये मुख्यतः पश्चिमी समाजों के अनुभवों पर आधारित थे।

भारतीय समाजशास्त्रीय परंपरा (Indian Sociological Tradition) :– भारतीय समाजशास्त्र का विकास 20वीं शताब्दी के मध्य में हुआ, जब विद्वानों ने भारतीय समाज की विशिष्टताओं को समझने के लिए स्वदेशी दृष्टिकोण विकसित करने का प्रयास किया। जी. एस. घुर्ये ने जाति व्यवस्था को भारतीय समाज की केंद्रीय संस्था के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने जाति को केवल सामाजिक श्रेणीकरण नहीं, बल्कि सांस्कृतिक एवं धार्मिक तत्वों से जुड़ी हुई एक जटिल व्यवस्था के रूप में देखा (ळीनतलम, 1932/2008)। डी. पी. मुखर्जी ने भारतीय समाज के अध्ययन में ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक संदर्भों की महत्ता पर बल दिया। उनका मत था कि भारतीय समाज को समझने के लिए पश्चिमी सिद्धांतों को सीधे लागू करना उपयुक्त नहीं है, बल्कि स्थानीय परंपराओं एवं मूल्यों को ध्यान में रखना आवश्यक है (डनामतरप, 1958)। एम. एन. श्रीनिवास ने सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया को समझाने के लिए "संस्कृतिकरण" एवं "पश्चिमीकरण" की अवधारणाएँ प्रस्तुत कीं। उनके अनुसार निम्न जातियाँ उच्च जातियों के रीति–रिवाजों को अपनाकर अपनी सामाजिक स्थिति को सुधारने का प्रयास करती हैं (तपदपअें, 1966)। ए. आर. देसाई ने भारतीय समाज का मार्क्सवादी विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए वर्ग संरचना, औद्योगीकरण एवं राज्य की भूमिका को स्पष्ट किया (क्मेंप, 1966)। इन विद्वानों के अध्ययन में जाति व्यवस्था, ग्राम समाज तथा परंपरा एवं आधुनिकीकरण के अंतर्संबंधों पर विशेष ध्यान दिया गया। इन अध्ययनों ने यह स्थापित किया कि भारतीय समाज की जटिलता को समझने के लिए स्थानीय संदर्भों का समावेश अनिवार्य है।

आधुनिक एवं समकालीन अध्ययन :– 20वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में समाजशास्त्रीय अध्ययन अधिक विविध एवं आलोचनात्मक हो गए, जिसमें नए सामाजिक मुद्दों एवं प्रक्रियाओं को शामिल किया गया। आंद्रे बेतेइये ने भारतीय समाज में जाति, वर्ग एवं शक्ति के अंतर्संबंधों का विश्लेषण किया और यह दिखाया कि सामाजिक स्तरीकरण बहुआयामी होता है (ठन्नजमपससम, 1971)। योगेंद्र सिंह ने भारतीय समाज में परंपरा एवं आधुनिकता के अंतर्संबंधों को स्पष्ट करते हुए यह तर्क दिया कि भारतीय समाज में परिवर्तन एक समेकित प्रक्रिया है, जिसमें पारंपरिक एवं आधुनिक तत्व सह–अस्तित्व में रहते हैं (पदही, 1973)। गेल ओमवेट ने दलित आंदोलन एवं सामाजिक न्याय के प्रश्नों को समाजशास्त्रीय विमर्श में प्रमुखता दी, जबकि घनश्याम शाह ने सामाजिक आंदोलनों के अध्ययन को व्यवस्थित रूप प्रदान किया (व्उअमकज, 1994; ीी, 2002)। गोपाळ गुरु ने दलित विमर्श के माध्यम से सामाजिक असमानताओं के वैचारिक एवं अनुभवात्मक आयामों को उजागर किया (ळनतन, 2009)।

इन अध्ययनों में वैश्वीकरण, सामाजिक आंदोलन, पहचान की राजनीति, तथा हाशिए पर स्थित समूहों के अनुभवों को प्रमुखता दी गई, जिससे समाजशास्त्र अधिक समावेशी एवं आलोचनात्मक बना।

आलोचनात्मक एवं उत्तर–आधुनिक दृष्टिकोण :– उत्तर–आधुनिक समाजशास्त्र ने पारंपरिक सिद्धांतों की सीमाओं को चुनौती देते हुए नए दृष्टिकोण प्रस्तुत किए। मिशेल फूको ने ज्ञान एवं शक्ति के अंतर्संबंधों का विश्लेषण करते हुए यह तर्क दिया कि सामाजिक संरचनाएँ शक्ति के माध्यम से निर्मित एवं नियंत्रित होती हैं (थ्वनबंनसज, 1977)। जीन–फ्रांस्वा ल्योतार ने "महान आख्यानों" (ळतंदक छंततंजपअमे) के अंत की अवधारणा प्रस्तुत करते हुए यह कहा कि आधुनिकता के सार्वभौमिक दावे अब वैध नहीं रहे (स्लवजंतक, 1979)। जीन बौद्रियार ने उपभोक्तावाद एवं सिमुलेशन के माध्यम से आधुनिक समाज की आलोचना करते हुए यह दिखाया कि वास्तविकता और आभासीता के बीच की सीमाएँ धुंधली हो गई हैं (ठंनकतपससंतक, 1981)। इन दृष्टिकोणों में बहुलता, विविधता, पहचान एवं शक्ति संबंधों पर विशेष बल दिया गया, जिससे समाजशास्त्रीय अध्ययन में नई वैचारिक दिशाएँ विकसित हुईं। उपरोक्त साहित्य के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि समाजशास्त्र का विकास एक सतत एवं बहुआयामी प्रक्रिया है।

- शास्त्रीय सिद्धांतों ने समाज के अध्ययन की आधारशिला रखी
- भारतीय समाजशास्त्रियों ने स्थानीय संदर्भों को समाहित किया
- समकालीन अध्ययनों ने नए सामाजिक मुद्दों को शामिल किया
- उत्तर–आधुनिक दृष्टिकोण ने पारंपरिक सिद्धांतों की आलोचना की।

इस प्रकार समाजशास्त्र एक गतिशील अनुशासन के रूप में विकसित हुआ है, जो निरंतर नए प्रश्नों एवं चुनौतियों का सामना करता है।

अनुसंधान अंतराल :– उपलब्ध साहित्य के विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि–

- कई अध्ययन विशिष्ट विषयों तक सीमित हैं
- समग्र दृष्टिकोण की कमी है
- समकालीन विमर्शों को पारंपरिक संरचना से जोड़कर कम अध्ययन किया गया है इस शोध में इन अंतरालों को भरने का प्रयास किया गया है।

भारतीय समाज की संरचना :– भारतीय समाज विश्व के सबसे प्राचीन, जटिल एवं बहुआयामी समाजों में से एक है। इसकी संरचना ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कारकों के परस्पर अंतःक्रिया से निर्मित हुई है। भारतीय समाज की विशेषता इसकी विविधता (कपअमतेपजल) में निहित है, जहाँ विभिन्न जातियाँ, धर्म, भाषाएँ, क्षेत्रीय पहचान एवं जीवन शैलियाँ एक साथ विद्यमान हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टि से "सामाजिक संरचना" (वबपंस जतनबजनतम) का अर्थ उन स्थायी प्रतिमानों (चंजजमतदे) एवं संबंधों से है, जिनके माध्यम से समाज संगठित होता है। भारतीय समाज की संरचना को समझने के लिए हमें इसके प्रमुख घटकों–जाति, वर्ग, परिवार, धर्म, भाषा एवं क्षेत्रीयता–का विश्लेषण करना आवश्यक है।

जाति व्यवस्था :– भारतीय समाज की संरचना का सबसे महत्वपूर्ण एवं विशिष्ट तत्व जाति व्यवस्था है। यह एक जन्म–आधारित सामाजिक स्तरीकरण प्रणाली है, जिसमें व्यक्ति की सामाजिक स्थिति, व्यवसाय एवं जीवन–शैली पूर्व निर्धारित होती है। जाति व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएँ–

- जन्म आधारित सदस्यता
- सामाजिक श्रेणीकरण (भ्पमतंतबील)
- अंतर्विवाह (म्दकवहंउल)
- व्यवसाय का निर्धारण
- शुद्धता एवं अशुद्धता की अवधारणा

जाति व्यवस्था ने भारतीय समाज में सामाजिक संगठन को स्थायित्व प्रदान किया, परंतु इसके साथ ही इसने गहरी सामाजिक असमानताओं को भी जन्म दिया। आधुनिक काल में शिक्षा, औद्योगीकरण एवं लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रभाव से जाति व्यवस्था के स्वरूप में परिवर्तन हो रहा है, किंतु यह अभी भी सामाजिक जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही है।

वर्ग व्यवस्था :– वर्ग व्यवस्था आर्थिक आधार पर निर्मित सामाजिक स्तरीकरण का एक रूप है, जो व्यक्ति की आय, संपत्ति, शिक्षा एवं पेशे के आधार पर निर्धारित होती है। वर्ग व्यवस्था की विशेषताएँ–

- गतिशीलता (Social Mobility) संभव है
- आर्थिक असमानता प्रमुख आधार है

- उपलब्धि आधारित स्थिति (Achieved Status)

भारतीय समाज में वर्ग व्यवस्था विशेष रूप से नगरीय क्षेत्रों में अधिक स्पष्ट रूप से दिखाई देती है। वैश्वीकरण एवं आर्थिक उदारीकरण के पश्चात मध्यम वर्ग का विस्तार हुआ है, जिससे सामाजिक संरचना में नए आयाम जुड़े हैं।

परिवार एवं विवाह :– परिवार भारतीय समाज की सबसे महत्वपूर्ण सामाजिक संस्था है, जो सामाजीकरण (वबपंसप्रंजपवद), संरक्षण एवं मूल्य संप्रेषण का कार्य करती है।

परिवार के प्रकार

- संयुक्त परिवार (Joint Family)
- एकल परिवार (Nuclear Family)

पारंपरिक भारतीय समाज में संयुक्त परिवार प्रमुख था, जहाँ कई पीढ़ियाँ एक साथ रहती थीं। किंतु औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के प्रभाव से एकल परिवारों की संख्या में वृद्धि हुई है।

विवाह संस्था :– विवाह भारतीय समाज में एक सामाजिक एवं धार्मिक संस्था के रूप में महत्वपूर्ण है।

- परंपरागत रूप से व्यवस्थित विवाह (Arranged Marriage) प्रमुख रहा है
- आधुनिक समय में प्रेम विवाह एवं अंतर्जातीय विवाह बढ़ रहे हैं

धर्म :– धर्म भारतीय समाज की संरचना का एक केंद्रीय तत्व है, जो व्यक्ति के जीवन, आचरण एवं सामाजिक संबंधों को प्रभावित करता है। भारतीय समाज में विभिन्न धर्मों–हिंदू, मुस्लिम, सिख, ईसाई, बौद्ध आदि–का सह–अस्तित्व है। धर्म–

- नैतिक मूल्यों का निर्धारण करता है
- सामाजिक एकता को बढ़ावा देता है
- कभी–कभी सामाजिक संघर्ष का कारण भी बनता है

धर्मनिरपेक्षता (secularism) भारतीय संविधान का एक महत्वपूर्ण सिद्धांत है, जो सभी धर्मों के प्रति समान सम्मान को सुनिश्चित करता है।

भाषा एवं सांस्कृतिक विविधता :– भारत एक बहुभाषी एवं बहुसांस्कृतिक समाज है। यहाँ सैकड़ों भाषाएँ एवं बोलियाँ प्रचलित हैं।

भाषा–

- सांस्कृतिक पहचान का आधार है
- सामाजिक एकता एवं विभाजन दोनों का कारण बन सकती है

सांस्कृतिक विविधता भारतीय समाज की समृद्धि का प्रतीक है, जिसमें विभिन्न रीति–रिवाज, परंपराएँ एवं जीवन शैलियाँ शामिल हैं।

क्षेत्रीयता (Regionalism) :– भारत में क्षेत्रीय विविधता अत्यंत व्यापक है, जो भौगोलिक, भाषाई एवं सांस्कृतिक भिन्नताओं पर आधारित है।

क्षेत्रीयता के प्रभाव–

- क्षेत्रीय पहचान का विकास
- कभी–कभी क्षेत्रीय संघर्ष
- राजनीतिक एवं सामाजिक आंदोलनों का उदय

लिंग एवं सामाजिक संरचना :– भारतीय समाज में लिंग आधारित असमानता एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। पितृसत्तात्मक संरचना महिलाओं की स्थिति को प्रभावित करती है।

मुख्य समस्याएँ–

- लैंगिक भेदभाव
- घरेलू हिंसा
- शिक्षा एवं रोजगार में असमानता

हालांकि, आधुनिक समय में महिलाओं की स्थिति में सुधार हुआ है, परंतु पूर्ण समानता अभी भी एक चुनौती है।

ग्रामीण एवं नगरीय संरचना (Rural and Urban Structure) भारतीय समाज को ग्रामीण एवं नगरीय दो प्रमुख भागों में विभाजित किया जा सकता है।

ग्रामीण समाज

- कृषि आधारित
- पारंपरिक मूल्य
- सामुदायिक जीवन

नगरीय समाज

- औद्योगिक एवं सेवा क्षेत्र आधारित
- व्यक्तिवाद
- सामाजिक गतिशीलता

नगरीकरण के प्रभाव से दोनों के बीच का अंतर धीरे–धीरे कम हो रहा है।

सामाजिक संस्थाएँ (Social Institutions) सामाजिक संस्थाएँ वे संरचनाएँ हैं जो समाज के संगठन एवं स्थिरता को बनाए रखती हैं। मुख्य संस्थाएँ–

- परिवार
- धर्म
- अर्थव्यवस्था
- शिक्षा
- राजनीति

ये संस्थाएँ सामाजिक नियंत्रण, मूल्य संप्रेषण एवं सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

सामाजिक परिवर्तन (Social Change) सामाजिक परिवर्तन समाजशास्त्र का एक केंद्रीय विषय है, जो समाज की संरचना, संस्थाओं, संबंधों एवं मूल्यों में समय के साथ होने वाले परिवर्तनों का अध्ययन करता है। समाज एक स्थिर इकाई नहीं है, बल्कि यह निरंतर गतिशील एवं परिवर्तनशील है। इस परिवर्तनशीलता के कारण ही समाज अपने अस्तित्व को बनाए रखते हुए नई परिस्थितियों के अनुरूप स्वयं को ढालता रहता है। भारतीय समाज के संदर्भ में सामाजिक परिवर्तन विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि यहाँ परंपरा एवं आधुनिकता के बीच निरंतर अंतःक्रिया देखने को मिलती है।

सामाजिक परिवर्तन की अवधारणा :– सामाजिक परिवर्तन से आशय उन परिवर्तनों से है जो समाज की संरचना, सामाजिक संबंधों, संस्थाओं एवं सांस्कृतिक प्रतिमानों में समय के साथ उत्पन्न होते हैं। सामाजिक परिवर्तन की प्रमुख विशेषताएँ–

- यह एक सतत प्रक्रिया है
- यह सार्वभौमिक (Universal) है
- इसकी गति असमान (Uneven) होती है
- यह बहुआयामी (Multidimensional) होता है

सामाजिक परिवर्तन केवल बाहरी परिवर्तनों तक सीमित नहीं है, बल्कि यह विचारों, मूल्यों एवं व्यवहारों में भी परिवर्तन लाता है।

सामाजिक परिवर्तन के सिद्धांत (Theories of Social Change)

(क) उदविकासवादी सिद्धांत (Evolutionary Theory) इस सिद्धांत के अनुसार समाज सरल से जटिल रूप की ओर विकसित होता है। यह परिवर्तन क्रमिक एवं प्रगतिशील होता है।

(ख) चक्रीय सिद्धांत (Cyclical Theory) इस दृष्टिकोण के अनुसार समाज का विकास एक चक्र के रूप में होता है, जिसमें उत्थान और पतन दोनों शामिल होते हैं।

(ग) संघर्ष सिद्धांत (Conflict Theory) यह सिद्धांत बताता है कि सामाजिक परिवर्तन संघर्ष के परिणाम स्वरूप होता है। जब विभिन्न समूहों के हित टकराते हैं, तो परिवर्तन की प्रक्रिया प्रारंभ होती है।

(घ) संरचनात्मक–कार्यात्मक दृष्टिकोण :– इस दृष्टिकोण के अनुसार समाज में परिवर्तन तब होता है जब किसी एक संस्था में परिवर्तन अन्य संस्थाओं को प्रभावित करता है, जिससे एक नया संतुलन स्थापित होता है।

सामाजिक परिवर्तन के कारक (Factors of Social Change) सामाजिक परिवर्तन अनेक कारकों से प्रभावित होता है, जिनमें प्रमुख निम्नलिखित हैं–

1. **प्रौद्योगिकी** (Technology) प्रौद्योगिकी सामाजिक परिवर्तन का सबसे महत्वपूर्ण कारक है।
   - संचार क्रांति (इंटरनेट, मोबाइल)
   - कार्य के स्वरूप में परिवर्तन
   - डिजिटल समाज का विकास

2. **औद्योगीकरण (Industrialization)**
   - उत्पादन प्रणाली में बदलाव
   - श्रम विभाजन में वृद्धि
   - ग्रामीण से नगरीय जीवन की ओर संक्रमण

3. **नगरीकरण (Urbanization)**
   - शहरों का विस्तार
   - सामाजिक संबंधों का औपचारिक होना
   - जीवन शैली में परिवर्तन

4. **शिक्षा (Education)**
   - जागरूकता का विकास
   - परंपरागत मान्यताओं में परिवर्तन
   - सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि

5. **वैश्वीकरण (Globalization)**
   - सांस्कृतिक आदान–प्रदान
   - आर्थिक अवसरों में वृद्धि
   - उपभोक्तावाद का विस्तार

6. **राजनीतिक कारक (Political Factors)**
   - लोकतंत्र
   - सामाजिक न्याय की पहल
   - नीतियाँ एवं कानून

भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन :– भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन बहुआयामी रूप में देखा जा सकता है–

(क) जाति व्यवस्था में परिवर्तन
   - जातिगत प्रतिबंधों में कमी
   - आरक्षण नीति का प्रभाव
   - अंतर्जातीय विवाह में वृद्धि

(ख) परिवार में परिवर्तन
   - संयुक्त परिवार से एकल परिवार की ओर बदलाव
   - पारिवारिक भूमिकाओं में परिवर्तन

(ग) महिलाओं की स्थिति में परिवर्तन
   - शिक्षा एवं रोजगार में वृद्धि
   - राजनीतिक सहभागिता
   - अधिकारों के प्रति जागरूकता

(घ) ग्रामीण समाज में परिवर्तन
   - कृषि में तकनीकी विकास
   - ग्रामीण–नगरीय अंतर में कमी

(ङ) सांस्कृतिक परिवर्तन
   - पारंपरिक मूल्यों में परिवर्तन
   - आधुनिक जीवन शैली का विकास

आधुनिकीकरण एवं पश्चिमीकरण (Modernization and Westernization) आधुनिकीकरण एक ऐसी प्रक्रिया है जो समाज को पारंपरिक से आधुनिक स्वरूप की ओर ले जाती है।

पश्चिमीकरण के प्रभाव–
   - जीवन शैली में परिवर्तन
   - सांस्कृतिक परिवर्तन
   - शिक्षा एवं विज्ञान का विकास

भारतीय समाज में आधुनिकीकरण एवं पश्चिमीकरण दोनों प्रक्रियाएँ एक साथ कार्य कर रही हैं।

संस्कृतिकरण :– यह अवधारणा यह बताती है कि निम्न जातियाँ उच्च जातियों के रीति–रिवाजों को अपनाकर अपनी सामाजिक स्थिति को सुधारने का प्रयास करती हैं।
यह भारतीय समाज में सामाजिक गतिशीलता का एक महत्वपूर्ण माध्यम है।

समकालीन परिवर्तन की प्रवृत्तियाँ (Contemporary Trends)

- डिजिटलीकरण एवं सूचना समाज
- पहचान की राजनीति
- उपभोक्तावाद
- पर्यावरणीय चेतना

सामाजिक परिवर्तन की चुनौतियाँ (Challenges of Social Change)

- असमानता का बने रहना
- पर्यावरणीय संकट
- सांस्कृतिक संघर्ष
- सामाजिक विघटन

समकालीन विमर्श (Contemporary Discourses) समकालीन समाजशास्त्रीय अध्ययन में "विमर्श" (कपेबवनतेम) की अवधारणा अत्यंत महत्वपूर्ण हो गई है। विमर्श न केवल किसी विषय पर विचारों का आदान–प्रदान है, बल्कि यह शक्ति, ज्ञान एवं सामाजिक संरचना के बीच अंतर्संबंधों को भी उजागर करता है। भारतीय समाज में समकालीन विमर्श विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं क्योंकि ये समाज में व्याप्त असमानताओं, पहचान, अधिकार एवं न्याय के प्रश्नों को केंद्र में लाते हैं। दलित, नारीवादी, आदिवासी, पर्यावरणीय तथा वैश्वीकरण से संबंधित विमर्श समाजशास्त्रीय अध्ययन के प्रमुख क्षेत्र बन चुके हैं।

दलित विमर्श :– दलित विमर्श भारतीय समाज में जाति आधारित असमानताओं एवं सामाजिक बहिष्करण के विरुद्ध एक वैचारिक एवं राजनीतिक आंदोलन के रूप में उभरा है।

मुख्य बिंदु

- सामाजिक न्याय एवं समानता की मांग
- आत्मसम्मान एवं पहचान का निर्माण
- जातिगत भेदभाव का विरोध

दलित साहित्य एवं आंदोलन ने यह स्पष्ट किया है कि सामाजिक संरचना में निहित असमानताएँ केवल आर्थिक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक एवं वैचारिक भी हैं।

यह विमर्श समाजशास्त्र को एक आलोचनात्मक दृष्टिकोण प्रदान करता है, जिसके माध्यम से सामाजिक संरचना के दमनकारी पक्षों को समझा जा सकता है।

नारीवादी विमर्श (Feminist Discourse) नारीवादी विमर्श समाज में लैंगिक असमानताओं की पहचान एवं उनके निराकरण की दिशा में कार्य करता है।

मुख्य आयाम

- पितृसत्ता (च्ंजतपंतबील) की आलोचना
- लैंगिक भूमिकाओं का पुनर्निर्धारण
- महिलाओं के अधिकार एवं समानता
-

भारतीय समाज में नारीवादी विमर्श ने शिक्षा, रोजगार, राजनीतिक सहभागिता एवं कानूनी अधिकारों के क्षेत्र में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाए हैं। यह विमर्श यह भी स्पष्ट करता है कि लिंग आधारित असमानताएँ सामाजिक संरचना में गहराई से निहित हैं और इन्हें समाप्त करने के लिए संरचनात्मक परिवर्तन आवश्यक हैं।

आदिवासी विमर्श (Tribal Discourse) आदिवासी विमर्श आदिवासी समुदायों की पहचान, संस्कृति एवं अधिकारों से संबंधित मुद्दों पर केंद्रित है।

मुख्य मुद्दे

- विस्थापन एवं विकास
- सांस्कृतिक संरक्षण
- प्राकृतिक संसाधनों पर अधिकार

यह विमर्श "विकास" की पारंपरिक अवधारणा को चुनौती देता है और यह प्रश्न उठाता है कि विकास किसके लिए और किस कीमत पर किया जा रहा है।

पर्यावरणीय विमर्श (Environmental Discourse) पर्यावरणीय संकट आज के समय की एक प्रमुख वैश्विक समस्या है, जिसका प्रभाव भारतीय समाज पर भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

मुख्य चिंताएँ

- जलवायु परिवर्तन
- सतत विकास (Sustainable Development)
- प्राकृतिक संसाधनों का दोहन

यह विमर्श समाजशास्त्र को एक नई दिशा प्रदान करता है, जिसमें मानव और प्रकृति के संबंधों का अध्ययन किया जाता है।

वैश्वीकरण एवं पहचान का विमर्श :– वैश्वीकरण ने भारतीय समाज में व्यापक परिवर्तन किए हैं।

प्रभाव

- सांस्कृतिक समरूपता एवं विविधता का सह–अस्तित्व
- उपभोक्तावाद का विकास
- पहचान की राजनीति का उदय

यह विमर्श यह स्पष्ट करता है कि वैश्वीकरण केवल आर्थिक प्रक्रिया नहीं है, बल्कि यह सामाजिक एवं सांस्कृतिक संरचनाओं को भी प्रभावित करता है।

समग्र निष्कर्ष :– प्रस्तुत शोध–पत्र "समाज को समझने की समाजशास्त्र की दृष्टिः भारतीय समाज, सामाजिक संरचना, परिवर्तन एवं समकालीन विमर्श का अध्ययन" भारतीय समाज की जटिलता, बहुलता एवं परिवर्तनशीलता को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझने का एक समग्र प्रयास है। इस अध्ययन में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित किया गया है कि समाजशास्त्र केवल सामाजिक तथ्यों का वर्णन करने वाला अनुशासन नहीं है, बल्कि यह सामाजिक यथार्थ की गहन व्याख्या, आलोचनात्मक विश्लेषण एवं परिवर्तन की दिशा को समझने का एक सशक्त उपकरण है ।

इस शोध के विभिन्न अध्यायों के समेकित विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज एक बहुस्तरीय एवं बहुआयामी संरचना है, जिसमें विविधता और असमानता दोनों सह–अस्तित्व में विद्यमान हैं। जाति, वर्ग, धर्म, भाषा, क्षेत्रीयता एवं लिंग जैसे तत्व सामाजिक संरचना के प्रमुख निर्धारक हैं, जो व्यक्ति के जीवन अवसरों, सामाजिक स्थिति एवं पहचान को प्रभावित करते हैं।

समाजशास्त्रीय दृष्टि की प्रासंगिकता :– इस अध्ययन का एक प्रमुख निष्कर्ष यह है कि समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण समाज को समझने के लिए अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि यह हमें सामाजिक घटनाओं के सतही रूप से आगे बढ़कर उनके गहरे संरचनात्मक एवं सांस्कृतिक कारणों को समझने में सक्षम बनाता है।

समाजशास्त्र यह स्पष्ट करता है कि–

- सामाजिक संबंध केवल व्यक्तिगत स्तर पर निर्मित नहीं होते, बल्कि वे व्यापक सामाजिक संरचनाओं से प्रभावित होते हैं
- सामाजिक समस्याएँ व्यक्तिगत विफलता नहीं, बल्कि संरचनात्मक असमानताओं का परिणाम होती हैं
- सामाजिक परिवर्तन एक जटिल एवं बहुआयामी प्रक्रिया है

इस प्रकार समाजशास्त्र समाज के "सामान्य ज्ञान" (common sense) से परे जाकर एक वैज्ञानिक एवं विश्लेषणात्मक दृष्टिकोण प्रदान करता है।

सैद्धांतिक परिप्रेक्ष्य का समेकित महत्व :– इस शोध में प्रयुक्त विभिन्न सैद्धांतिक दृष्टिकोण–कार्यात्मकतावाद, संघर्ष सिद्धांत, प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद, आधुनिकता एवं उत्तर–आधुनिकता–समाज को समझने के विभिन्न आयाम प्रस्तुत करते हैं।

- कार्यात्मकतावाद सामाजिक स्थिरता एवं एकता को स्पष्ट करता है
- संघर्ष सिद्धांत सामाजिक असमानताओं एवं शक्ति संबंधों को उजागर करता है
- प्रतीकात्मक अंतःक्रियावाद दैनिक जीवन के अर्थों एवं अनुभवों को समझाता है
- उत्तर–आधुनिक दृष्टिकोण बहुलता एवं पहचान की राजनीति को केंद्र में लाता है

इस अध्ययन का महत्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि भारतीय समाज की जटिलता को समझने के लिए किसी एक सिद्धांत पर निर्भर रहना पर्याप्त नहीं है, बल्कि एक समेकित (पदजमहतंजमक) एवं बहु–दृष्टिकोणीय (उनसजप–चमतेचमबजपअंस) दृष्टि आवश्यक है।

भारतीय समाज की संरचनात्मक विशेषताएँ :– भारतीय समाज की संरचना का विश्लेषण यह दर्शाता है कि यह समाज ऐतिहासिक रूप से निर्मित एक जटिल व्यवस्था है, जिसमें परंपरा एवं आधुनिकता का सह–अस्तित्व है।

मुख्य निष्कर्ष:

- जाति व्यवस्था अभी भी सामाजिक संगठन का एक महत्वपूर्ण आधार है, यद्यपि इसके स्वरूप में परिवर्तन हो रहा है
- वर्ग व्यवस्था आधुनिक समाज में अधिक प्रभावशाली होती जा रही है
- परिवार एवं विवाह संस्था में संरचनात्मक परिवर्तन देखने को मिल रहे हैं
- धर्म एवं संस्कृति सामाजिक पहचान के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं

इससे यह स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज न तो पूर्णतः पारंपरिक है और न ही पूर्णतः आधुनिक, बल्कि यह एक संक्रमणशील (जतंदेपजपवदंस) समाज है।

सामाजिक परिवर्तन की प्रकृति एवं दिशा :– इस अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि सामाजिक परिवर्तन भारतीय समाज की एक अनिवार्य एवं सतत प्रक्रिया है, जो विभिन्न कारकों–प्रौद्योगिकी, औद्योगीकरण, नगरीकरण, शिक्षा एवं वैश्वीकरण–से प्रभावित होती है।

प्रमुख निष्कर्ष:

- सामाजिक परिवर्तन असमान एवं बहुआयामी है
- परिवर्तन के बावजूद पारंपरिक संरचनाएँ पूर्णतः समाप्त नहीं होतीं
- आधुनिकता एवं परंपरा के बीच अंतःक्रिया से नए सामाजिक रूप उत्पन्न होते हैं

विशेष रूप से यह देखा गया कि–

- जातिगत प्रतिबंधों में कमी आई है, परंतु जाति का प्रभाव समाप्त नहीं हुआ
- महिलाओं की स्थिति में सुधार हुआ है, परंतु लैंगिक असमानता अभी भी बनी हुई है
- ग्रामीण एवं नगरीय जीवन के बीच अंतर कम हो रहा है, परंतु पूर्णतः समाप्त नहीं हुआ

समकालीन विमर्शों का महत्व :– इस शोध का एक महत्वपूर्ण योगदान यह है कि इसमें समकालीन विमर्शों–दलित, नारीवादी, आदिवासी, पर्यावरणीय एवं वैश्वीकरण–को समाजशास्त्रीय विश्लेषण के केंद्र में रखा गया है।

मुख्य निष्कर्ष:

- दलित विमर्श सामाजिक न्याय एवं समानता की आवश्यकता को रेखांकित करता है
- नारीवादी विमर्श पितृसत्ता एवं लैंगिक असमानताओं की आलोचना करता है
- आदिवासी विमर्श विकास की पारंपरिक अवधारणा को चुनौती देता है
- पर्यावरणीय विमर्श सतत विकास की आवश्यकता को सामने लाता है

इन विमर्शों से यह स्पष्ट होता है कि समाजशास्त्र केवल वर्णनात्मक नहीं, बल्कि परिवर्तनकारी (transformative) भूमिका भी निभाता है।

साहित्य समीक्षा से प्राप्त निष्कर्ष :– साहित्य समीक्षा के विश्लेषण से यह स्पष्ट हुआ कि समाजशास्त्र का विकास एक निरंतर प्रक्रिया है–

- शास्त्रीय समाजशास्त्रियों ने सैद्धांतिक आधार प्रदान किया
- भारतीय समाजशास्त्रियों ने स्थानीय संदर्भों को जोड़ा
- समकालीन विद्वानों ने नए विमर्शों को विकसित किया
- उत्तर–आधुनिक दृष्टिकोण ने पारंपरिक सिद्धांतों की आलोचना की

यह निष्कर्ष भी महत्वपूर्ण है कि भारतीय समाज के अध्ययन में अभी भी समेकित दृष्टिकोण की कमी है, जिसे यह शोध आंशिक रूप से पूरा करने का प्रयास करता है।

अनुसंधान के प्रमुख निष्कर्ष :– इस अध्ययन के आधार पर निम्नलिखित प्रमुख निष्कर्ष प्रस्तुत किए जा सकते हैं

1. भारतीय समाज एक जटिल, बहुल एवं बहुस्तरीय संरचना है
2. सामाजिक असमानताएँ अभी भी गहराई से विद्यमान हैं
3. सामाजिक परिवर्तन सतत एवं असमान प्रक्रिया है
4. समकालीन विमर्श सामाजिक चेतना को बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं
5. समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण सामाजिक समस्याओं के समाधान के लिए आवश्यक है

नीतिगत एवं व्यावहारिक निहितार्थ :– इस अध्ययन के आधार पर कुछ महत्वपूर्ण नीतिगत सुझाव भी प्रस्तुत किए जा सकते हैं–

- शिक्षा के माध्यम से सामाजिक जागरूकता को बढ़ावा देना
- सामाजिक असमानताओं को कम करने के लिए प्रभावी नीतियाँ बनाना
- लैंगिक समानता एवं सामाजिक न्याय को सुनिश्चित करना
- सतत विकास एवं पर्यावरण संरक्षण पर बल देना

सीमाएँ एवं भविष्य के शोध की दिशा :– हालांकि यह अध्ययन व्यापक है, फिर भी इसकी कुछ सीमाएँ हैं–

- यह मुख्यतः सैद्धांतिक एवं द्वितीयक स्रोतों पर आधारित है
- क्षेत्रीय अध्ययन (पिमसक`जनकल) का अभाव है
- क्षेत्रीय एवं अनुभवजन्य अध्ययन
- डिजिटल समाज एवं नई तकनीकों का प्रभाव
- पहचान की राजनीति एवं वैश्वीकरण
- के नए आयाम पर अधिक शोध की आवश्यकता है।

संदर्भ सूची :–

1. Ambedkar, B. R. (1936). *Annihilation of caste*. Navayana.
2. Desai, A. R. (2005). *Social background of Indian nationalism*. Popular Prakashan.
3. Dumont, L. (1980). *Homo hierarchicus: The caste system and its implications*. University of Chicago Press.
4. Giddens, A. (2009). *Sociology* (6th ed.). Polity Press.
5. Marx, K. (1976). *Capital: A critique of political economy* (Vol. 1). Penguin Books.
6. Merton, R. K. (1968). *Social theory and social structure*. Free Press.
7. Srinivas, M. N. (1966). *Social change in modern India*. University of California Press.
8. Weber, M. (1978). *Economy and society*. University of California Press.
9. **Journal Articles**
10. Guru, G. (2009). Dalit perspective on social transformation. *Economic and Political Weekly*, 44(25), 25–30.
11. Omvedt, G. (1994). Dalits and the democratic revolution. *Sociological Bulletin*, 43(2), 157–175.
12. **Edited Books / Chapters**
13. Shah, G. (2002). *Social movements in India: A review of literature*. Sage Publications.
14. Chatterjee, P. (1993). *The nation and its fragments: Colonial and postcolonial histories*. Princeton University Press.
15. **Reports & Online Sources**
16. Government of India. (2011). *Census of India 2011*. https://censusindia.gov.in
17. NITI Aayog. (2020). *Sustainable development goals report*. https://www.niti.gov.in

राष्ट्रीय शिक्षा नीति-2020 के परिप्रेक्ष्य में कक्षा 3 की हिंदी पाठ्यपुस्तक 'वीणा' : एक समग्र विश्लेषण

डॉ सर्वेश मौर्य*

सार :– प्रस्तुत शोध पत्र NCERT द्वारा निर्मित कक्षा 3 की हिंदी पाठ्यपुस्तक 'वीणा' का राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 तथा राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2023[1] के परिप्रेक्ष्य में समग्र विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इस अध्ययन में पुस्तक की संरचना, पाठ्यसामग्री, शिक्षणशास्त्रीय दृष्टिकोण, बहुभाषिकता, सांस्कृतिक समावेश, रचनात्मकता, मौखिक और लिखित भाषायी कौशल के विकास, तथा लैंगिक संवेदनशीलता जैसे महत्वपूर्ण पहलुओं का विस्तार से परीक्षण किया गया है। शोध में पाया गया कि 'वीणा' पाठ्यपुस्तक राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के मूल सिद्धांतों– बहुभाषिकता, समग्र विकास, रचनात्मक शिक्षण, और सांस्कृतिक जड़ों से जुड़ाव– को प्रभावी ढंग से मूर्त रूप देती है। पाँच इकाइयों में विभक्त यह पुस्तक बच्चों को भाषा के साहित्यिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक आयामों से बेहद संजीदगी से परिचित कराती है।

मुख्य शब्द :– वीणा पाठ्यपुस्तक, राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020, हिंदी शिक्षण, बहुभाषिकता, भाषायी कौशल, पाठ्यचर्या विश्लेषण, SWOT विश्लेषण।

1. परिचय :–भाषा शिक्षण किसी भी राष्ट्र की शिक्षा–व्यवस्था का आधारभूत स्तंभ है। हिंदी, भारत की राजभाषा होने के साथ–साथ सांस्कृतिक एकता का सेतु भी है। प्राथमिक स्तर पर हिंदी शिक्षण की गुणवत्ता आगे की सम्पूर्ण शैक्षिक यात्रा को प्रभावित करती है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 ने भाषा शिक्षण में क्रांतिकारी परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त किया है। NCERT द्वारा निर्मित कक्षा 3 की हिंदी पाठ्यपुस्तक 'वीणा' राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (NCF) 2023 के दिशानिर्देशों के अनुरूप तैयार की गई है। यह पुस्तक बच्चों को भाषा के माध्यम से न केवल पढ़ने–लिखने का कौशल प्रदान करती है, अपितु उन्हें अपने परिवेश, संस्कृति और समाज से जोड़ने का भी प्रयास करती है। 'पाठ्यपुस्तक के विषय' नाम से लिखी गयी भूमिका में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि "इसका निर्माण करते हुए मुख्य रूप से राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के दिशानिर्देशों को ध्यान में रखा गया है। भाषा सीखना राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2023(विद्यालयी शिक्षा) का महत्वपूर्ण पहलू है। भाषा के सहारे बच्चे अपने परिवार, परिवेश, संस्कृति और राष्ट्र से जुड़ते हैं। बच्चों में बुनियादी एवं संवैधानिक मूल्यों का विकास, स्वास्थ्य और सुरक्षा के प्रति सतर्कता, सामाजिक–भावनात्मक अधिगम आदि को प्राप्त करने का माध्यम भाषा ही है। अतः यहाँ भाषा सीखने का तात्पर्य केवल पड़ना और लिखना नहीं है, बल्कि बच्चों की जीवन–शैली सहित उनमें व्यवहारगत परिवर्तन का परिलक्षित होना भी है।"[2] प्रस्तुत शोध पत्र का उद्देश्य 'वीणा' पाठ्यपुस्तक का बहुआयामी विश्लेषण करना है, जिसमें इसकी शैक्षणिक उपयोगिता, सामग्री की प्रासंगिकता, शिक्षणशास्त्रीय नवाचार और राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के साथ इसके सामंजस्य को परखा जाएगा।

1.1 शोध के उद्देश्य

- *'वीणा' पाठ्यपुस्तक की संरचना और सामग्री का विश्लेषण करना*
- *राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के सिद्धांतों के साथ पुस्तक के समन्वय का मूल्यांकन करना*
- *भाषायी कौशलों के विकास हेतु प्रयुक्त पद्धतियों का परीक्षण*
- *बहुभाषिकता और सांस्कृतिक समावेश के तत्वों की पहचान करना*
- रचनात्मकता और जिज्ञासा के संवर्धन हेतु प्रावधानों का आकलन

2. साहित्य समीक्षा :– भाषा शिक्षण और पाठ्यपुस्तक विश्लेषण के क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण अध्ययन किए गए हैं। कार्ल मार्क्स ने 'गोथा कार्यक्रम की समीक्षा', (1875) "राज्य द्वारा जनशिक्षा पूरी तरह आपत्तिजनक है। एक सामान्य नियम द्वारा प्रारंभिक स्कूलों के खर्चे, अध्यापकों की योग्यता, वीक्षा के विषय आदि निर्धारित करना–जैसा कि संयुक्त राज्य में होता है अथवा शासन के निरीक्षकों द्वारा इन कानूनी मुद्दों की पूर्ति का निरीक्षण किया जानारू यह सब एक बात है और राज्य को जनता का शिक्षक नियुक्त कर देना बिलकुप्त दूसरी बात है। वास्तव में सरकार और चर्च दोनों के किसी भी प्रकार के प्रभाव से स्कूल को मुक्त रखा जाना चाहिए।"[3] Vygotsky

***असिस्टेंट प्रोफेसर, समाज विज्ञान और मानविकी शिक्षा विभाग, क्षेत्रीय शिक्षा संस्थान, भुवनेश्वर।**

(1978)[4] ने भाषा और विचार के अंतर्संबंध पर प्रकाश डाला और बताया कि सामाजिक अंतःक्रिया भाषा विकास में केंद्रीय भूमिका निभाती है। बेवउेाल (1965)[5] की सार्वभौमिक व्याकरण की अवधारणा बताती है कि बच्चे जन्मजात भाषायी क्षमता लेकर आते हैं। भारतीय संदर्भ में, रामविलास शर्मा[6] और नामवर सिंह ने हिंदी भाषा की सांस्कृतिक भूमिका पर महत्वपूर्ण कार्य किया है। राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा (NCF) (2005)[7] ने भाषा शिक्षण में रचनात्मकता और बाल–केंद्रित दृष्टिकोण को प्रोत्साहन दिया। राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020[8] ने इसे और विस्तारित करते हुए मातृभाषा–आधारित शिक्षण को प्राथमिकता दी। कृष्णकुमार (1986)[9] ने पाठ्यपुस्तकों की राजनीति और उनके सामाजिक–सांस्कृतिक प्रभाव का विश्लेषण किया। अपने मौलिक काम, पॉलिटिकल एजेंडा ऑफ एजुकेशन में, कृष्ण कुमार ने उपनिवेशवादी और राष्ट्रवादी विचारधाराओं के लेंस के माध्यम से 150 वर्षों में भारत की शिक्षा प्रणाली के ऐतिहासिक विकास की जांच की है। उनका तर्क है कि जबकि औपनिवेशिक और राष्ट्रवादी प्रवचन विरोधाभासी प्रतीत होते थे, वे अक्सर एक समान शब्दावली साझा करते थे और ब्रिटिश राज के दौरान स्थापित अंतर्निहित ज्ञानमीमांसीय संरचनाओं को मौलिक रूप से बदलने में विफल रहे। उन्होंने बताया कि एक अच्छी पाठ्यपुस्तक वह होती है जो बच्चे को सीखने की प्रक्रिया में सक्रिय भागीदार बनाए। 'वीणा' पाठ्यपुस्तक इसी परंपरा को आगे बढ़ाती है।

3. राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 और 'वीणा' पाठ्यपुस्तक :– राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 भारत की शिक्षा–व्यवस्था में युगांतरकारी बदलाव का दस्तावेज है। यह नीति बच्चों के समग्र और बहुआयामी विकास पर बल देती है। इसके परिचय वाले हिस्से में स्पष्ट कहा गया है "शिक्षा पूर्ण मानव क्षमता को प्राप्त करने, एक न्यायसंगत और न्यायपूर्ण समाज के विकास और राष्ट्रीय विकास को बढ़ावा देने के लिए मूलभूत आवश्यकता है। गुणवत्तापूर्ण शिक्षा तक सार्वभौमिक पहुँच प्रदान करना वैश्विक मंच पर सामाजिक न्याय और समानता, वैज्ञानिक उन्नति, राष्ट्रीय एकीकरण और सांस्कृतिक संरक्षण के संदर्भ में भारत की सतत प्रगति और आर्थिक विकास की कुंजी है। सार्वभौमिक उच्चतर स्तरीय शिक्षा वह उचित माध्यम है, जिससे देश की समृद्ध प्रतिभा और संसाधनों का सर्वोत्तम विकास और संवर्द्धन व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और विश्व की भलाई के लिए किया जा सकता है। अगले दशक में भारत दुनिया का सबसे युवा जनसंख्या वाला देश होगा और इन युवाओं को उच्चतर गुणवत्तापूर्ण शैक्षिक अवसर उपलब्ध कराने पर ही भारत का भविष्य निर्भर करेगा"[10] और यह भी कि "रोजगार और वैश्विक पारिस्थितिकी में तीव्र गति से आ रहे परिवर्तनों की वजह से यह जरुरी हो गया है कि बच्चे, जो कुछ सिखाया जा रहा है, उसे तो सीखें ही और साथ ही वे सतत सीखते रहने की कला भी सीखें। इसलिए शिक्षा में विषयवस्तु को बढ़ाने की जगह जोर इस बात पर अधिक होने की जरूरत है कि बच्चे समस्या समाधान और तार्किक एवं रचनात्मक रूप से सोचना सीखें, विविध विषयों के बीच अंतर्संबंधों को देख पायें, कुछ नया सोच पायें और नयी जानकारी को नए और बदलती परिस्थितियों या क्षेत्रों में उपयोग में ला पायें। जरूरत है कि शिक्षण प्रक्रिया शिक्षार्थी केन्द्रित हो, जिज्ञासा, खोज, अनुभव और संवाद के आधार पर संचालित हो, लचीली हो और समग्रता और समन्वित रूप से देखने–समझने में सक्षम बनाने वाली और, अवश्य ही, रुचिपूर्ण हो। शिक्षा शिक्षार्थियों के जीवन के सभी पक्षों और क्षमताओं का संतुलित विकास करे इसके लिए पाठ्यक्रम में विज्ञान और गणित के अलावा बुनियादी कला, शिल्प, मानविकी, खेल और फिटनेस, भाषाओं, साहित्य, संस्कृति और मूल्य का अवश्य ही समावेश किया जाये। शिक्षा से चरित्र निर्माण होना चाहिए, शिक्षार्थियों में नैतिकता, तार्किकता, करुणा और संवेदनशीलता विकसित करनी चाहिए और साथ ही रोजगार के लिए सक्षम बनाना चाहिए। सीखने के परिणामों की वर्तमान स्थिति और जो आवश्यक है, उनके बीच की खाई को प्रारंभिक बाल्यावस्था देखभाल और उच्चतर शिक्षा के माध्यम से शिक्षा में उच्चतम गुणवत्ता, इक्विटी और सिस्टम में अखंडता लाने वाले प्रमुख सुधारों के जरिए पाटा जाना चाहिए।"[11] 'वीणा' पाठ्यपुस्तक राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के सभी लक्ष्यों को ध्यान में रखती है और निम्नलिखित प्रमुख सिद्धांतों को साकार करती है–

3.1 मातृभाषा आधारित शिक्षण :– राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 की सबसे महत्वपूर्ण अनुशंसाओं में से एक है– प्रारंभिक शिक्षा में मातृभाषा का उपयोग। 'वीणा' पाठ्यपुस्तक इस दिशा में बच्चों को उनकी मातृभाषा से हिंदी की ओर सहज रूप से ले जाने का प्रयास करती है। पुस्तक में बच्चों को हिंदी शब्दों के लिए अपनी मातृभाषा में समतुल्य शब्द ढूँढने की गतिविधियाँ दी गई हैं।

3.2 समग्र और बहुविषयक शिक्षा :– राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 का जोर केवल विषय ज्ञान पर नहीं, बल्कि बच्चे के समग्र व्यक्तित्व विकास पर है। 'वीणा' में पर्यावरण, स्वास्थ्य, सामाजिक मूल्य, सांस्कृतिक विरासत और तकनीकी जागरूकता– सभी का समावेश हिंदी भाषा शिक्षण के माध्यम से किया गया है।

3.2 आनंदमयी और अनुभव–आधारित शिक्षण :– नीति में बच्चों के लिए आनंदमयी अधिगम पर विशेष बल दिया गया है। पाठ्यपुस्तक में पहेलियाँ, नाटक, खेल–संबंधी कविताएँ, रचनात्मक गतिविधियाँ शामिल की गई हैं जो सीखने को आनंदपूर्ण बनाती हैं।

3.4 भारतीय ज्ञान परंपरा का समावेश : राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 भारतीय ज्ञान परंपरा को आधुनिक शिक्षा से जोड़ने की पुरजोर वकालत करती है। वीणा' में पौराणिक कथाओं (बीरबल, चतुर गीदड़) से लेकर आधुनिक तकनीक (चंद्रयान) तक की यात्रा इस संतुलन का उत्कृष्ट उदाहरण है।

4. पाठ्यचर्या लक्ष्य और उनकी उपलब्धि :– राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2023 ने आरंभिक स्तर (प्रिपरेटरी स्टेज) के लिए पाँच भाषायी पाठ्यचर्या लक्ष्य निर्धारित किए गए हैं। वे इस प्रकार हैंय पहला– विचारों को सुसंगत रूप से समझने और संप्रेषित करने के लिए जटिल वाक्य संरचनाओं का उपयोग करते हुए मौखिक भाषा कौशल विकसित करते हैं। दूसरा– परिचित और अपरिचित पाठ्यवस्तु (जैसे गद्य और पद्य) के विभिन्न रूपों की बुनियादी समझ विकसित करके अर्थबोध सहित पढ़ने की क्षमता विकसित करते हैं। तीसरा– अपनी समझ और अनुभवों को व्यक्त करने के लिए सरल और यौगिक वाक्य संरचनाओं को लिखने की क्षमता विकसित करते हैं। चौथा– विभिन्न स्रोतों के माध्यम से विभिन्न संदर्भों (घर और स्कूल के अनुभव) में व्यापक शब्द भंडार विकसित करते हैं। पाचवां– पढ़ने में रुचि और प्राथमिकताओं को विकसित करते हैं।[12] 'वीणा' पाठ्यपुस्तक इन सभी लक्ष्यों को प्रभावशाली ढंग से संबोधित करती है। इसे नीचे तालिका में दिया गया है–

लक्ष्य	*पाठ्यचर्या लक्ष्य*	*वीणा' में प्रावधान*
लक्ष्य 1	*जटिल वाक्य संरचनाओं का उपयोग करते हुए मौखिक भाषा कौशल*	*बातचीत के लिए, सुनें कहानी, मिलकर पढ़िए गतिविधियाँ*
लक्ष्य 2	*परिचित और अपरिचित पाठ्यवस्तु की बुनियादी समझ*	*गद्य, पद्य, एकांकी, पत्र जैसी विविध साहित्यिक विधाएँ*
लक्ष्य 3	*सरल और यौगिक वाक्य संरचनाओं को लिखने की क्षमता*	*वाक्य निर्माण, चार पंक्ति लेखन, पत्र लेखन अभ्यास*
लक्ष्य 4	*विभिन्न संदर्भों में व्यापक शब्द भंडार विकास*	*घर, स्कूल, परिवेश से जुड़े शब्द और गतिविधियाँ*
लक्ष्य 5	*पढ़ने में रुचि और प्राथमिकताओं का विकास*	*पढ़ने के लिए, आनंदमयी कविता जैसी विविध सामग्री*

5. पाठ्यपुस्तक की संरचना और सामग्री :– 'वीणा' पाठ्यपुस्तक को पाँच सुव्यवस्थित इकाइयों में विभाजित किया गया है। प्रत्येक इकाई एक विशेष थीम के इर्द–गिर्द बुनी गई है और उसमें विविध साहित्यिक विधाएँ– कविता, कहानी, एकांकी, निबंध, पत्र आदि– सम्मिलित हैं।

5.1 इकाई एक : हमारा पर्यावरण : यह इकाई बच्चों को प्रकृति के प्रति संवेदनशील बनाती है। इसमें 'सीखो', 'चींटी', 'कितने पैर?', 'बया हमारी चिड़िया रानी!' और 'आम का पेड़' पाठ हैं श्सीखोश और 'बया हमारी चिड़िया रानी!' कविताएँ प्रकृति की विविधता को काव्यात्मक भाषा में प्रस्तुत करती हैं। श्आम का पेड़श कहानी– पेड़–पौधों और पर्यावरण का महत्व को बताई है। 'कितने पैर?' पाठ जीव–जगत का रोचक परिचय देता है और जिज्ञासा को बढ़ावा देने के मकसद को घर के बड़ों से आम के नाम पूछने की गतिविधि पूरा करती है।

5.2 इकाई दो : हमारे मित्र :– मित्रता, सहयोग और परस्पर प्रेम के मूल्यों को इस इकाई के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। 'बीरबल की खिचड़ी' बुद्धि और चातुर्य की कहानी कहानी है जो बच्चों को बुद्धि और चातुर्य की दिशा में ले जाती है। 'मित्र को पत्र' पथ से पत्र लेखन कौशल का विकास के विकास का मकसद पूरा होता है। श्चतुर गीदड़श एकांकी से बच्चों का नाट्य कला से परिचय होता है। 'प्रकृति पर्व फूलदेई' पाठ उत्तराखंड की लोक–संस्कृति का परिचय देता है। यह यह उतराखंड का एक त्यौहार है। यह बच्चों को बचपन से ही पेड़–पौधों और पर्यावरण से जुड़ना सिखाता है। यह प्रकृति के प्रति संवेदनशीलता, प्रेम और संरक्षण के महत्व को दर्शाने वाला एक जीवंत उत्सव है।

5.3 इकाई तीन : आओ खेलें : खेल और बचपन के आनंद को भाषा शिक्षण से जोड़ने का यह अनूठा प्रयास है। 'सुनो भई गप्प', 'रस्साकशी' खेल–खेल में भाषा का मकसद पूरा करते हैं और 'ट्रैफिक जाम' सामाजिक जागरूकता पैदा करते हैं। 'एक जादुई पिटारा' कल्पना और रचनात्मकता का लक्ष्य हासिल अर्ने में मदद करते हैं।

5.4 इकाई चार – अपना–अपना काम : श्रम की महत्ता और विविधता को सम्मानजनक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। 'अपना–अपना काम' और 'किसान की होशियारी' परिश्रम के मूल्य को बच्चों को समझाते हैं। 'पेड़ों की अम्मा तिमक्का' पर्यावरण प्रेमी महिला की प्रेरक जीवन–गाथा है जिससे बच्चो में अपने पर्यावरण को लेकर सजगता पैदा करने का लक्ष्य है।

5.5 इकाई पाँच : हमारा देश : भारत की विविधता में एकता को इस इकाई के माध्यम से बड़े सुंदर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। भारत की खान–पान संस्कृति और विविधता के साथ 'चंद्रयान' द्वारा आधुनिक भारत की तकनीकी उपलब्धि की जानकारी दी गयी है। इस इकाई में प्राचीन परंपरा से अंतरिक्ष तक की यात्रा का अद्‌भुत और बेहद जरुरी संयोजन किया गया है।

6. भाषायी कौशलों का विकास :– भाषा शिक्षण में सुनना, बोलना, पढ़ना और लिखना– ये चारों कौशल समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। 'वीणा' पाठ्यपुस्तक इन चारों कौशलों के विकास हेतु सुनियोजित प्रावधान करती है।

6.1 श्रवण कौशल – 'सुनें कहानी' शीर्षक के अंतर्गत शिक्षक द्वारा कहानी सुनाने की गतिविधि बच्चों में सक्रिय श्रवण की आदत विकसित करती है। यह कौशल बच्चों की एकाग्रता और स्मृति को भी सुदृढ़ करता है।

6.2 वाचन कौशल – प्रत्येक पाठ के अंत में 'बातचीत के लिए' शीर्षक से प्रश्न दिए गए हैं जो बच्चों को अपने विचार, अनुभव और भावनाएँ साझा करने का अवसर देते हैं। उदाहरणार्थ– 'उगते हुए सूरज को देखकर आपके मन में किस प्रकार के भाव आते हैं?' यह प्रश्न हर बच्चे के लिए खुला है और किसी भी उत्तर को गलत नहीं ठहराता।

6.3 पठन कौशल : 'मिलकर पढ़िए', 'आनंदमयी कविता' और 'पढ़ने के लिए' जैसे शीर्षकों के अंतर्गत विविधतापूर्ण सामग्री संयोजित की गई है। समझ के साथ पढ़ने पर विशेष बल दिया गया है। गद्य और पद्य दोनों विधाएँ पठन कौशल को पोषित करती हैं।

6.4 लेखन कौशल :– श्रस्साकशीश कविता में दिया गया प्रश्न कृ 'आपका सबसे प्रिय खेल कौन–सा है? उसके बारे में चार पंक्तियाँ लिखिए'– बच्चों को स्वतंत्र लेखन के लिए प्रोत्साहित करता है। बोलने से लिखित भाषा की ओर की यात्रा को सहज और क्रमिक बनाया गया है।

7. बहुभाषिकता और सांस्कृतिक समावेश :– भारत एक बहुभाषिक और बहुसांस्कृतिक देश है। वीणा' पाठ्यपुस्तक इस विविधता को न केवल स्वीकार करती है, बल्कि उसे शक्ति के रूप में प्रस्तुत करती है। पुस्तक में बच्चों को हिंदी शब्दों के लिए अपनी–अपनी मातृभाषा में शब्द ढूँढने की गतिविधियाँ दी गई हैं। इससे बच्चे न केवल हिंदी सीखते हैं, बल्कि अपनी भाषा और संस्कृति पर गर्व भी अनुभव करते हैं। 'प्रकृति पर्व फूलदेई' जैसे पाठ उत्तराखंड की लोक–संस्कृति का परिचय कराते हैं। शिक्षकों को स्पष्ट निर्देश दिए गए हैं कि वे कक्षा शिक्षण में बहुभाषिक पद्धति का उपयोग करें और बच्चों को अपनी भाषा, परिवेश और संस्कृति से जोड़ते हुए शिक्षण कार्य करें। यह दृष्टिकोण राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 की समावेशी शिक्षा की भावना के अनुरूप है।

8– रचनात्मकता, कल्पना और जिज्ञासा :– बाल–शिक्षण में रचनात्मकता और कल्पनाशीलता का विशेष महत्व है। 'वीणा' पाठ्यपुस्तक बच्चों की नैसर्गिक जिज्ञासा और रचनात्मकता को पोषित करने के लिए अनेक उपाय करती है। कल्पनाशीलता को बढ़ावा देने के लिए 'चंद्रयान' पाठ में प्रश्न दिया गया है– 'यदि चंद्रयान–3 से जुड़े वैज्ञानिक आपके विद्यालय में आएँ तो आप उनसे कौन–से प्रश्न पूछना चाहेंगे?' यह प्रश्न न केवल कल्पना को उड़ान देता है, बल्कि वैज्ञानिक दृष्टि भी विकसित करता है। जिज्ञासा को प्रोत्साहित करने के लिए श्आम का पेड़श कहानी में बच्चों को घर के बड़ों से आम के विभिन्न प्रकारों के नाम पूछने की गतिविधि दी गई है। यह गतिविधि घर–विद्यालय के बीच सेतु का काम करती है। 'चतुर गीदड़' एकांकी में कागज से गीदड़ का मुखौटा बनाने की रचनात्मक गतिविधि दी गई है। ऐसी गतिविधियाँ बच्चों को हस्तकला, नाटक और भाषा– तीनों के प्रति रुचि जगाती हैं।

9. लैंगिक संवेदनशीलता और समावेशी दृष्टि :– एक प्रगतिशील पाठ्यपुस्तक की पहचान यह भी है कि वह लैंगिक रूढ़ियों को तोड़े और सभी बच्चों को समान अवसर प्रदान करे। 'वीणा' पाठ्यपुस्तक में इस दिशा में उल्लेखनीय प्रयास किए गए हैं। 'पेड़ों की अम्मा तिमक्का' जैसे पाठ एक ऐसी साधारण महिला की असाधारण उपलब्धि को प्रस्तुत करते हैं जिसने हजारों पेड़ लगाकर पर्यावरण की सेवा की। यह पाठ बालिकाओं में आत्मविश्वास और पर्यावरण–चेतना दोनों को एक साथ जागृत करता है। पुस्तक में चित्रों और उदाहरणों में महिलाओं और पुरुषों की संतुलित भागीदारी दिखाई गई है। पेशेवर और घरेलू भूमिकाओं में स्त्री–पुरुष की समान छवि प्रस्तुत की गई है। विशेष आवश्यकता वाले बच्चों के प्रति संवेदनशीलता भी पाठों में परिलक्षित होती है।

10. शिक्षणशास्त्रीय दृष्टिकोण :– पाठ्यपुस्तक का शिक्षणशास्त्रीय दृष्टिकोण रचनावादी (Constructivist) सिद्धांतों पर आधारित है। बच्चे निष्क्रिय प्राप्तकर्ता नहीं, बल्कि सक्रिय ज्ञान–निर्माता हैं– यह मूल विचार पुस्तक की संरचना में स्पष्ट दिखता है।

10.1 बाल–केंद्रित शिक्षण :– प्रत्येक गतिविधि और प्रश्न बच्चे के अनुभव और परिवेश से जुड़े हैं। कोई भी प्रश्न ऐसा नहीं है जिसका 'एकमात्र सही उत्तर' हो– हर बच्चे का उत्तर सही है।

10.2 अनुभव–आधारित सीखना : घर, परिवार और समुदाय से जुड़ी गतिविधियाँ बच्चे के वास्तविक अनुभव को कक्षा में लाती हैं, जिससे सीखना अधिक अर्थपूर्ण बनता है।

10.3 सतत और व्यापक मूल्यांकन :– गतिविधियाँ और अभ्यास प्रश्न इस प्रकार डिजाइन किए गए हैं कि शिक्षक बच्चे की प्रगति का निरंतर और समग्र आकलन कर सकें।

11. विश्लेषणात्मक निष्कर्ष :– प्रस्तुत विश्लेषण से स्पष्ट है कि 'वीणा' पाठ्यपुस्तक अनेक दृष्टियों से बेहतर बन पड़ी है–

- *राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के साथ गहरा सामंजस्य : पुस्तक की प्रत्येक विशेषता राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 के किसी न किसी सिद्धांत को प्रतिबिंबित करती है।*
- *साहित्यिक विविधता : कविता, कहानी, एकांकी, पत्र, निबंध, पहेली आदि विधाओं से बच्चों का परिचय।*
- *सांस्कृतिक समृद्धि : पौराणिक कथाओं से आधुनिक तकनीक तक, पुस्तक भारत की सम्पूर्णता को समेटती है।*
- *भाषायी कौशल : चारों कौशल– सुनना, बोलना, पढ़ना, लिखना– को सुनियोजित तरीके से विकसित किया गया है।*
- *अनुभव–आधारित सीखने को विशेष महत्व मिला है।*
- *समावेशी दृष्टि : लैंगिक संवेदनशीलता और बहुभाषिकता पुस्तक की विशेष खूबियाँ हैं। हालाँकि, कुछ क्षेत्रों में और सुधार परिष्कार की गुंजाइश भी है*
- *स्पेशल बच्चों के लिए अगर कुछ प्रावधान हो तो यह पुस्तक और बेहतर हो जाएगी।*
- *हिंदीतर प्रदेशों के बच्चों से सम्बंधित कुछ पाठ होते तो पुस्तक और बेहतर हो जाएगी।*
- *डिजिटल साक्षरता के तत्वों को और अधिक सम्मिलित किया जा सकता है।*
- *क्षेत्रीय भाषाओं और लोक–साहित्य का प्रतिनिधित्व और व्यापक हो सकता है।*
- *आकलन और मूल्यांकन के लिए अधिक स्पष्ट दिशानिर्देश शिक्षकों के लिए उपयोगी होंगे।*

12. निष्कर्ष :– कक्षा 3 की हिंदी पाठ्यपुस्तक 'वीणा' एक सुविचारित, सुव्यवस्थित और शिक्षाशास्त्रीय दृष्टि से समृद्ध पाठ्य–सामग्री है। यह पुस्तक राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 और NCF 2023 के मूल्यों और उद्देश्यों को प्रभावशाली रूप से मूर्त रूप देती है। 'वीणा' एक वीणा की तरह ही है– जिसके तार हैं भाषा, संस्कृति, रचनात्मकता, जिज्ञासा और मूल्य–शिक्षा। जब एक कुशल शिक्षक इन तारों को सही ढंग से छेड़ता है, तो बच्चों के जीवन में एक सुरीली और अर्थपूर्ण भाषायी यात्रा आरंभ होती है। अंततः, यह कहना उचित होगा कि 'वीणा' केवल एक पाठ्यपुस्तक नहीं, बल्कि बच्चों के समग्र विकास का एक सुंदर साधन है– जो उन्हें भाषा के माध्यम से अपने देश, अपनी संस्कृति और अपने स्वयं से जोड़ती है।

संदर्भ–सूची :–

1. राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (NCERT) (2023) राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2023– नई दिल्ली, NCERT।
2. राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद. (2025). वीणा, कक्षा 3 की हिंदी पाठ्यपुस्तक. नई दिल्ली, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद।
3. Mar Û K. (1891) Critique of the Gotha Programme , Kritik des Gothaer Programms, Die Neue Zeit, Stuttgart, German Empire.
4. Vygotsky, L- S- (1978) Mind in society: The development of higher psychological processes (M. Cole, V. John&Steiner, S. Scribner, & E. Souberman, Eds. Cambridge, MA: Harvard University Press-
5. Chomsky, N. (1965) Aspects of the theory of syntaÛ. Cambridge, MA: MIT Press.
6. शर्मा, रामविलास। (2000). भाषा और समाज. नई दिल्ली, राजकमल प्रकाशन।
7. NCERT (2025). राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2025– नई दिल्ली, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद।
8. भारत सरकार. (2020). राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 नई दिल्ली, शिक्षा मंत्रालय।
9. Kumar, K. (2005). Political agenda of education: A study of colonialist and nationalist ideas- New Delhi: Sage Publications-
10. वही पृष्ठ 3
11. वही पृष्ठ 3, 4
12. वही, पाठ्यपुस्तक के विषय में।

जगदीशभट्टदृष्ट्या कारकस्य तद्भेदस्य च विमर्शः

डॉ. नीरजकुमारभार्गवः*

भूमिका :– शास्त्रेषु कारकशब्दः प्रसिद्धः। अयं च कारकशब्दः पारिभाषिको विद्यते। अतः वैयाकरणेषु मीमांसकेषु नैयायिकेषु च परस्परं मतभेदाः सन्ति। नैयायिकेष्वपि परस्परं मतभेदाः दृश्यन्ते। अत्र प्रबन्धे जगदीशभट्टानुसारं कारकसामान्यस्वरूपम्, तद्भेदः, तद्भेदस्वरूपं च विमृश्यते।

कारकसामान्यलक्षणविमर्शः :– कारकसामान्यं प्रतिपादयितुमाह जगदीशः **''धात्वर्थांशे प्रकारो यः सुबर्थं सोऽत्र कारकम्''**[1] । अर्थात् यः सुबर्थो धात्वर्थांशे प्रकारीभूय भासते स सुबर्थ एव कारकमित्युच्यते। यथा चैत्रो ग्रामं गच्छति इत्यादौ ग्रामम् इत्यत्र द्वितीयार्थे संयोगः, तत्र ग्रामस्य निष्ठत्वसम्बन्धेनान्वयः। गमिधातोः संयोगः, तदनुकूलः पादविक्षेपादिव्यापारश्चार्थः। तत्र संयोगस्य द्विधा भानं नैव भवति। संयोगस्य व्यापारे अनुकूलत्वसम्बन्धेन अन्वयः। तिबर्थः कृतिः, तत्र व्यापारस्य अनुकूलत्वसम्बन्धेनान्वयः, कृतेश्च चैत्रे आश्रयत्वसम्बन्धेनान्वयः। तथा चोक्तवाक्यात् ग्रामनिष्ठसंयोगानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान् चैत्र इति बोधो भवति। एवं चात्र द्वितीयासुबर्थः संयोग एव गमिधात्वर्थे प्रकारीभूय भासते, अतस्तदेवात्र कारकम्। एवमेवान्यत्रापि बोध्यम्। एवमेव चौत्रेण गम्यते ग्राम इत्यत्र चैत्रपदोत्तरतृतीयाविभक्तेरर्थः कृतिः, तत्र कृतौ चैत्रस्य निष्ठत्वसम्बन्धेनान्वयः, गमिधातोः संयोगः, तदनुकूलः पादविक्षेपादिव्यापारश्चार्थः, तत्र व्यापारे कृतेः जन्यत्वसम्बन्धेनान्वयः, तस्मिन्नेव व्यापारे संयोगस्यानुकूलत्वसम्बन्धेनान्वयः, आख्यातस्यार्थः संयोगः, तत्र संयोगे व्यापारस्य जन्यत्वसम्बन्धेनान्वयः, संयोगस्य च ग्रामे आश्रयत्वसम्बन्धेनान्वयः। ततश्च प्रकृतवाक्यस्य चैत्रनिष्ठतिजन्यसंयोगानुकूलव्यापारजन्य संयोगवान् ग्रामः इति बोधो भवति। एवञ्चात्र गमिधात्वर्थे व्यापारे तृतीयारूपसुबर्थः कृतिः प्रकारीभूय भासते, तस्मादत्र सुबर्थः कृतिरेव कारकमिति भावः। एवमेव चैत्रः दात्रेण काष्ठं छिनत्ति इत्यत्र तृतीयासुपः जन्यत्वमर्थः, छिदिधातोः द्वैधीभावः तदनुकूलव्यापारश्चार्थः, तत्र तृतीयार्थे जन्यत्वे प्रकृत्यर्थस्य दात्रस्य स्वनिष्ठव्यापारनिरूपितत्वसम्बन्धेनान्वयः, तृतीयार्थस्य जन्यत्वस्य स्वरूपसम्बन्धेन धात्वर्थे द्वैधीभावे अन्वयः, ततश्च प्रकृतवाक्यस्य दात्रनिष्ठव्यापारनिरूपितजन्यो यो हि काष्ठनिष्ठद्वैधीभावः तदनुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान् चैत्रः इत्यर्थो जायते। ततश्च प्रकृते तृतीयासुपः अर्थः जन्यत्वं कारकमिति भावः। एवमेव ब्राह्मणाय दानं धनस्य इत्यत्र चतुर्थीसुपः प्रतियोगित्वम् अर्थः, तत्र प्रतियोगित्वे ब्राह्मणस्य निष्ठत्वसम्बन्धेनान्वयो भवति। ददातेरर्थः स्वत्त्वजनकत्यागः, तत्र स्वत्त्वे प्रतियोगित्वस्य आश्रयत्वसम्बन्धेनान्वयो भवति, तत्रैव षष्ठ्यर्थे स्वत्त्वे धनस्य वृत्तित्वसम्बन्धेनान्वयो भवति, तथा चोक्तवाक्यस्य ब्राह्मणप्रतियोगिकधनवृत्तिस्वत्त्वजनकत्यागः इत्यर्थो जायते, अत्र ब्राह्मणपदोत्तरचतुर्थ्या दाधात्वर्थे स्वत्वे प्रतियोगित्वं बोध्यते, तस्मात् तदेव प्रतियोगित्वमत्र कारकमिति भावः। एवमेव पर्णं वृक्षात् पतति इत्यत्र पञ्चम्या विभागोऽर्थः, तत्र विभागे प्रकृत्यर्थस्य वृक्षस्य निष्ठत्वसम्बन्धेनान्वयः। पतत्यर्थश्चात्र अधःसंयोगानुकूलव्यापारः, तत्र व्यापारे विभागस्य अनुकूलत्वसम्बन्धेनान्वयः, व्यापारस्य च तिबर्थकृतौ अनुकूलत्वसम्बन्धेनान्वयः, कृतेश्च प्रथमान्तार्थे आश्रयत्वसम्बन्धेनान्वयः, तथा चोक्तवाक्यात् वृक्षनिष्ठविभागानुकूलाधःसंयोगानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमत्पर्णम् इति बोधो जायते। एवञ्च प्रकृते पञ्चमीसुपः अर्थः विभागः कारकमिति भावः। एवमेव ग्रामे गन्ता इत्यत्र ग्रामपदोत्तरसप्तम्या अधिकरणत्वमर्थः तत्र प्रकृत्यर्थस्य ग्रामस्य निष्ठत्वसम्बन्धेनान्वयः, अधिकरणत्वस्य च स्वनिरूपिताधेयतावत्त्वसम्बन्धेन गमिधात्वर्थे अन्वयः, तस्य च तृजर्थे कर्तरि आश्रयत्वसम्बन्धेनान्वयः, तथा चोक्तवाक्यात् ग्रामनिष्ठाधिकरणतानिरूपिताधेयतावत्संयोगानुकूल व्यापाराश्रयः इत्यर्थो भवति। एवं चात्र गम्धातूपस्थाप्ये संयोगानुकूलव्यापारे वाक्यस्थया ग्रामपदोत्तरसप्तम्या यः अधिकरणत्वरूपोऽर्थः स्वनिरूपिताधेयतावत्त्वसम्बन्धेन अनुभाव्यते तस्मात् स अधिकरणत्वरूपोऽर्थ एव गम्धातोः उपस्थाप्ये तादृशे संयोगानुकूलव्यापारे अर्थे अधिकरणं कारकम् इति। एवमेव अन्यत्रापि बोध्यम्।

कारकभेदः – जगदीशभट्टाचार्याः कर्तृकर्मकरणसम्प्रदानापादानभेदेन षट् कारकाणि स्वीकुर्वन्ति। तथाहि प्राह

---

* सहायकाचार्यः संस्कृतदर्शनविभागः रामकृष्णमिशन्विवेकानन्दशैक्षणिकशोधसंस्थानम् बेलुडमठः हावडा।

अपादानसम्प्रदानकरणाधारकर्मणाम्।
कर्तुश्च भेदतः षोढा कारकं परिकीर्तितम्।।
कर्तृलक्षणविमर्शः कर्तृलक्षणं प्राह जगदीशभट्टः
तिङा विकरणाक्तस्य धातोरर्थस्तु यादृशः।
स्वार्थे यादृशि बोध्यस्तत् कर्तृत्वं तदिहोच्यते।।[2]

अन्वयः– विकरणाक्तस्य धातोः यादृशः अर्थः तिङा यादृशि स्वार्थे बोध्यः इह तत् तत् कर्तृत्वम् उच्यते।

कारिकार्थं प्राह जगदीशः– **"सविकरणेन यद्धातुनोपस्थाप्यो यादृशार्थस्तदुत्तरतिङा स्वोपस्थाप्ययादृशार्थेऽनुभावयितुं शक्यः तद्धातूपस्थाप्यस्य तस्य तदेव कर्तृत्वं कारकमित्यर्थः"**[3] । अर्थात् विकरणविशिष्टेन येन धातुना उपस्थाप्यो यो हि स्वार्थः तद्धातुप्रकृतिकतिङः स्वार्थे विशेषणत्वेनान्वेति तथाभूतस्य तिङर्थस्य एव तद्धातूपस्थाप्यां क्रियां प्रति कर्तृत्वं भवति। यथा पचति इत्यत्र पचेरर्थः विक्लित्त्यनुकूलव्यापारः, तत्प्रकृतिकतिङश्च कृतिरर्थः, तत्र तिङर्थे कृतौ धात्वर्थस्य अनुकूलत्वसम्बन्धेनान्वयो भवति, तथा च पचति इत्यस्य विक्लित्त्यनुकूलव्यापारानुकूलकृतिः, इत्यर्थो जायते। एवं च पचति इत्यत्र शब्विकरणविशिष्टेन पचिधातुना उपस्थाप्यो यो हि विक्लित्त्यनुकूलव्यापाररूपः स्वार्थः पचिप्रकृतिकतिङः कृतिरूपे अर्थे अनुकूलत्वसम्बन्धेन विशेषणत्वेनान्वेति। अतः तथाभूतः तिङर्थः कृतिः एव पचिधातूपस्थाप्यक्रियां प्रति कर्तृत्वम् इत्युच्यते। एवं जानाति इत्यत्र ज्ञाधात्वर्थः ज्ञानम्, तत्प्रकृतिकतिङश्च आश्रयत्वमर्थः, तस्मिन् तिङर्थे धात्वर्थस्य ज्ञानस्य स्वनिष्ठाधेयतानिरूपितत्वसम्बन्धेनान्वयो भवति, तथा च जानाति इत्यस्य ज्ञाननिष्ठाधेयतानिरूपताश्रयत्वम् इत्यर्थो भवति। एवं चात्र श्नाविकरणविशिष्टजानातिधातूपस्थाप्यज्ञानरूपार्थस्य तत्प्रकृतिकतिङर्थे आश्रयत्वे विशेषणतया अन्वयो भवति अतः तथाभूतस्य तिङर्थस्य जानातिधातूपस्थाप्यज्ञानरूपक्रियां प्रति कर्तृत्वं बोध्यम्। एवं नश्यति इत्यत्र नश्यतेः नाशोऽर्थः तिङर्थश्च प्रतियोगित्वम्, तत्र धात्वर्थस्य निरूपितत्वसम्बन्धेनान्वयो भवति। तथा च नाशनिरूपितप्रतियोगित्वम् इत्यर्थो भवति। एवं चात्र विकरणविशिष्टस्य नश्यतेः अर्थस्य नाशस्य तत्प्रकृतिकतिङर्थे प्रतियोगित्वे विशेषणतया अन्वयो भवति। अतः तथाभूतस्य तिङर्थस्य नश्यतिधातूपस्थाप्यनाशं प्रति कर्तृत्वं बोध्यम्। एवमन्यत्रापि बोध्यम्। तथा चोक्तं जगदीशेन– **"पचति जानाति इत्यादौ स्वोपस्थाप्यकृत्याश्रयत्वादौ धातूपस्थाप्यस्य पाकबुद्ध्यादेरन्वयः पचाद्युत्तरतिङा बोध्यते इति पाकस्य यत्नवत्त्वं ज्ञानास्याश्रयत्वम्, एवं नश्यति इत्यत्र नाशस्य प्रतियोगित्वम्, प्रतिबिम्बत इत्यत्र भ्रमात्मनः प्रतिबिम्बस्य प्रकारत्वमेव कर्तृत्वम्"**[4]।

अथ चैत्रः अत्ति, जुहोति, इत्यादौ विकरणस्य शबादेः लुगादिना लुप्यमानत्वेन विकरणविशिष्टस्य धातोरभावात् अत्र तिङर्थस्य कर्तृत्वं न स्यात्, इति तु नैव वक्तव्यम्, अत्रापि लुप्यमानस्य विकरणस्य प्रतिसन्धानं भवति, तस्मादत्रापि धातुः विकरणविशिष्ट एवेति भावः। तथा चोक्तं जगदीशेन– **"अत्तिजुहोतीत्यादावप्यदादेरुत्तरं लुप्तस्यैव विकरणस्य प्रतिसन्धाने भोजनकर्तृत्वादेरवगम इति मतेनेदम्"**[5]।

अथ यदि अत्ति जुहोति, इत्यादौ प्रतिसन्धानं विनैव बोध इत्युच्यते तदा भिन्नं लक्षणं प्राह जगदीशः–

यगन्तभिन्नधात्वर्थवत्तया योऽनुभाव्यते।
लटा स्वार्थः स धात्वर्थः कर्तृता वा निगद्यते[6]**।।**

अस्यार्थं प्राह जगदीशः– **"यगन्तभिन्नधातूपस्थाप्ययादृशार्थप्रकारकयदर्थधर्मिकान्वयबोधं प्रति लटः सामर्थ्यं स एवार्थो धातूपरस्याप्यतदर्थस्य कर्तृरत्नम्"**[7] । अर्थात् यगन्तभिन्नो यो हि धातुः तेन उपस्थाप्यो यो हि अर्थः स यस्मिन् अर्थे विशेषणत्वेनान्वेति तस्य विशेष्यभूतार्थस्य बोधको यो हि लट्प्रत्ययो तस्य लट्प्रत्ययस्य अर्थस्य तद्धातूपस्थाप्यतादृशक्रियां प्रति कर्तृत्वं बोध्यमिति भावः। यथा चैत्रः पचति इत्यत्र यगन्तधातुः पच्यते इत्यादौ कर्मप्रत्ययान्ते तद्भिन्नो धातुः पचति इत्यादौ पच् इति तदुपस्थाप्यो यो हि विक्लिरत्त्यनुकूलव्यापारः अर्थः, तस्य कृतौ विशेषणत्वेनान्वयो भवति, तस्या बोधको तिप्स्थानिको लट्प्रत्ययो वर्तते, अतः तस्य लट्प्रत्ययस्य वाच्यार्थस्य कृतेः पच्धातूपस्थाप्यक्रियां प्रति कर्तृत्वं बोध्यमिति भावः। एवं च यगन्तभिन्नपच्धातूपस्थाप्यविक्लिरत्त्यनुकूलव्यापारप्रकारककृत्यर्थधर्मिकबोधं प्रति चैत्रः पचति इत्यत्र तिप्स्थानिकस्य लटः सामर्थ्यं वर्तते तत्र विशेष्यभूतो कृतिरूप एवार्थः प्रकृते पच्धातूपस्थाप्यक्रियां प्रति कर्तृभूत इति भावः। एवमन्यत्रापि बोध्यम्।

कर्मलक्षणविमर्शः – कर्मलक्षणमाह जगदीशभट्टः

यगन्तधातोरर्थे यस्तिङा स्वार्थोऽनुभाव्यते।
यत्रासौ कर्म्मता नाम कारकं कर्तृतेतरः[8]।।

अन्वयः– यत्र तिङा यः स्वार्थः यगन्तधातोः अर्थे अनुभाव्यते असौ कर्तृतेतरः कारकं कर्म्मता नाम।

कारिकार्थं प्राह जगदीशः– **"यगन्तस्य यद्धातोत्तरस्थतिङा यत्र स्वार्थे तदीयो यादृशोऽर्थोऽनुभावयितुं शक्यते तद्धातूपस्थाप्यतादृशक्रियायां स तिङर्थः कर्तृताभिन्नं कर्मत्वं नाम कारकमित्यर्थः"[9]।** अर्थात् यगन्तो यो हि धातुः, तेन उपस्थाप्यो यो हि अर्थः, तस्यार्थस्य तत्प्रकृतिकतिङः यस्मिन् अर्थे विशेषणतया अन्वयो भवति सः कर्तृताभिन्नः तिङर्थ एव कर्मत्वं नाम कारकमित्यर्थः। यथा चैत्रेण ग्रामो गम्यते, इत्यत्र तृतीयार्थः कृतिः, तत्र प्रकृत्यर्थस्य चैत्रस्य निष्ठत्वसम्बन्धेनान्वयो भवति, गम्धातोरर्थः संयोगानुकूलव्यापारः, तत्र कृतेः जन्यत्वसम्बन्धेनान्वयो भवति, तिङर्थः संयोगः, तत्र धात्वर्थस्य जन्यत्वसम्बन्धेनान्वयो भवति, संयोगस्य च आश्रयत्वसम्बन्धेन प्रथमान्तार्थे ग्रामे अन्वयो भवति। तथा चोक्तवाक्यस्य चैत्रनिष्ठकृतिजन्यसंयोगानुकूलव्यापारजन्यसंयोगाश्रयग्रामः, इति बोधो जायते। एवं चात्र यगन्तः धातुः गमिः, तदुपस्थाप्यस्य संयोगानुकूलव्यापारस्य तिङर्थे संयोगे जन्यत्वसम्बन्धेन विशेषणतया अन्वयो भवति, अतः सः संयोग एव कर्मत्वं नाम कारकमित्यर्थः। तथा चोक्तं जगदीशेन– **"ग्रामो गम्यते इत्यत्र गम्धातूपस्थाप्यायाः संयोगावच्छिन्नक्रियायाः स्वजन्यत्वसम्बन्धेन तिङ्पदोपस्थाप्ये संयोगे एवान्वयो, न तु त्यजतीत्यादाविव विभागादौ, धात्वर्थतावच्छेदकस्यैव फलस्य बोधने कर्मविहितप्रत्ययानां धातुसाकाङ्क्षत्वादतः, संयोग एव तत्र गतिक्रियायाः कर्मत्वं न तु विभागादिः[10]।** एवं चानेनेदं समागतं यत् यगन्तधात्वर्थविशेष्यतापन्नत्वे सति तिङर्थत्वं कर्मत्वमिति। यथा चैत्रेण ग्रामो गम्यते, चैत्रनिष्ठकृतिजन्यसंयोगानुकूल–व्यापारजन्यसंयोगाश्रयग्रामः, इति बोधो जायते। एवं चात्र यगन्तः धातुः गमिः, तदुपस्थाप्यस्य संयोगानुकूलव्यापारस्य तिङर्थे संयोगे जन्यत्वसम्बन्धेन विशेषणतया अन्वयो भवति, अतः सः संयोग एव कर्म नाम कारकमित्यर्थः। चैत्रेण ग्रामः त्यज्यते, इत्यादौ चैत्रनिष्ठकृतिजन्यविभागानुकूलव्यापार–जन्यविभागाश्रयग्रामः इत्यर्थो जायते, प्रकृतस्थले यगन्तधातुः त्यजतिः तदुपस्थाप्यस्य विभागानुकूलव्यापारस्य तिङर्थे विभागे जन्यत्वसम्बन्धेन विशेषणतया अन्वयो भवति, अतः सः विभाग एवात्र कर्म नाम कारकमित्यर्थः।

करणलक्षणविमर्शः करणलक्षणमाह जगदीशभट्टः

योऽर्थो विकरणाक्तस्य धातोरर्थे तृतीयया।
बोध्यते करणं नाम कारकं तदिहोच्यते[11]।।

अन्वयः– तृतीयया विकरणाक्तस्य धातोरर्थे यः अर्थः बोध्यते तदिह करणम् नाम कारकं उच्यते।

कारिकार्थमपि स्वयमेवाह ग्रन्थकारः– **"सविकरणस्य यद्धातोरुपस्थाप्ययादृशार्थे तृतीयया यादृशः स्वार्थोऽनुभाव्यते स तद्धातूपस्थाप्यतादृशक्रियायाः करणसंज्ञकं कारकमुच्यते[12]।** अर्थात् विकरणविशिष्टस्य यद्धातोः उपस्थाप्ये यस्मिन्नर्थे तृतीयया यः स्वार्थः अनुभाव्यते सोऽर्थः तद्धातोः उपस्थाप्ये तस्मिन्नर्थे करणसंज्ञकं कारकमित्युच्यते। यथा चैत्रः दात्रेण काष्ठं छिनत्ति इत्यत्र दात्रनिष्ठव्यापारजन्यो यो हि काष्ठनिष्ठद्वैधीभावः तदनुकूलव्यापारानुकूलकृतिमान् चैत्रः इत्यर्थो भवति। अत्र विकरणाक्तस्य छिद्धातोरर्थे द्वैधीभावे दात्रपदोत्तरतृतीयया स्वार्थजन्यत्वादिः बोध्यते, अतः तदेव जन्यत्वादि करणं कारकं वर्तते। चैत्रः घटत्वेन घटं जानाति घटत्वनिष्ठप्रकारतानिरूपितप्रकारतावत् घटनिष्ठविशेष्यतानिरूपितविशेष्यतावत् यज्ज्ञानं तदाश्रयः चौत्रः इति बोधो जायते। तथा चात्र विकरणविशिष्टस्य जानातेः अर्थे ज्ञाने घटत्वपदोत्तरतृतीयया यो हि स्वार्थः प्रकारत्वादिः प्रतिपाद्यते, अतः तद्धातूपस्थाप्ये ज्ञानरूपे अर्थे सः प्रकारत्वरूपार्थ एव करणं कारकमिति भावः। तथा चोक्तं जगदीशेन **"दात्रेण छिनत्ति, घटत्वेन जानाति इत्यादौ धात्वर्थे छिदायां दात्रस्य व्यापारद्वारा जन्यत्वादि ज्ञानादौ च घटत्वादेः प्रकारत्वादिकं तृतीयया बोध्यते, तदेव तत्र करणत्वम्"[14]**।

सम्प्रदानलक्षणविमर्शः सम्प्रदानलक्षणं प्राह जगदीशभट्टः

गत्यादिभिन्ने धात्वर्थे चतुर्थ्या विग्रहस्थया।
यः स्वार्थो बोधनीयस्तत् सम्प्रदानत्वमीरितम्[14]।।

अन्वयः– विग्रहस्थया चतुर्थ्या गत्यादिभिन्ने धात्वर्थे यः स्वार्थो बोधनीयः तत् सम्प्रदानत्वम् ईरितम्।

कारिकार्थं प्राह जगदीशः– **"गत्यादिभिन्ने यद्धातूपस्थाप्ये यादृशार्थे विग्रहस्थचतुर्थ्या यः स्वार्थो बोधयितुं शक्यते स तद्धातूपस्थाप्यतादृशक्रियायां सम्प्रदानत्वमुच्यते"[15]।** अर्थात् यस्मात् धातोः उपस्थाप्ये गत्यादिभिन्ने यादृशे अर्थे

विग्रहस्थचतुर्थ्या यः स्वकीयः अर्थः अनुभाव्यते सः चतुर्थ्यर्थ एव तस्मात् धातोः उपस्थाप्ये तादृशे क्रियारूपे अर्थे सम्प्रदानं कारकम् इत्युच्यते। ब्राह्मणाय दानं धनस्य इत्यत्र चतुर्थीविभक्तेः प्रतियोगित्वम् अर्थः। तत्र प्रतियोगित्वे ब्राह्मणस्य निष्ठत्वसम्बन्धेनान्वयो भवति। ददातेरर्थः स्वत्वजनकत्यागः, तत्र स्वरत्वे प्रतियोगित्वस्य आश्रयत्वसम्बन्धेनान्वयो भवति, तत्रैव स्वत्वे धनस्य षष्ठ्यर्थवृत्तित्वसम्बन्धेनान्वयो भवति, तथा चोक्तवाक्यस्य ब्राह्मणप्रतियोगिकधनवृत्तिस्वत्वजनकत्यागः, इत्यर्थो जायते, अत्र ब्राह्मणपदोत्तरचतुर्थ्या गत्यादिभिन्ने दाधात्वर्थे स्वत्वे प्रतियोगित्वं बोध्यते, तस्मात् तदेव प्रतियोगित्वमत्र सम्प्रदानमिति भावः। अथवा ब्राह्मणपदोत्तरचतुर्थ्या निरूपितत्वमर्थः। तदा चोक्तवाक्यस्यार्थो भवति ब्राह्मणनिरूपितधनवृत्तिस्वत्वजनकत्याग इति, तदा निरूपितत्वं सम्प्रदानमिति भावः। तथा चोक्तं जगदीशेन– **"ब्राह्मणाय दानं धनस्येत्यादौ ददातेः स्वत्वजनकः त्यागोऽर्थस्तन्निविष्टे च स्वत्वे ब्राह्मणादेः प्रतियोगित्वं निरूपितत्वं वा चतुर्थ्या बोध्यते इति तदेव तत्र सम्प्रदानत्वम्, ब्राह्मणप्रतियोगिकं ब्राह्मणनिरूपितं वा यद्धनवृत्ति स्वत्वं तज्जनकस्त्याग इत्येवं तत्र प्रत्ययात्**[16]।

अपादानलक्षणविमर्शः अपादानलक्षणं प्राह जगदीशभट्टः

क्रियाधर्मिणि यः स्वार्थः पञ्चम्या विग्रहस्थया।
अनुभाव्यः कारकन्तदपादानत्वसंज्ञकम्[17]**।।**

अन्वयः– विग्रहस्थया पञ्चम्या यः स्वार्थः क्रियाधर्मिणि अनुभाव्यः तत् कारकम् अपादानत्वसंज्ञकम।

अयं भावः– विग्रहपदस्यात्र वाक्यमर्थः, क्रियापदेन चात्र धात्वर्थव्यापारो विवक्षितः। तथा च वाक्यघटकीभूता या पञ्चमी विभक्तिः, तस्या यो हि अर्थः धात्वर्थव्यापारे विशेषणतया अन्वेति तत् अपादानकारकम् इत्युच्यते। तथा च फलितलक्षणमपि वदति ग्रन्थकारः– **"तथा च यद्धातूपस्थाप्ययादृशार्थे विग्रहवाक्यस्थपञ्चम्या यः स्वार्थोऽनुभावयितुं शक्यः स तद्धातूपस्थाप्यतादृशक्रियायामपादानत्वमुच्यते**[18]**।** यथा पर्णं वृक्षात् पतति इत्यत्र पञ्चम्या विभागोऽर्थः, तत्र विभागे प्रकृत्यर्थस्य वृक्षस्य निष्ठत्वसम्बन्धेनान्वयः। पतत्यर्थश्चात्र अधःसंयोगानुकूलव्यापारः, तत्र व्यापारे विभागस्य अनुकूलत्वसम्बन्धेनान्वयः, व्यापारस्य च तिबर्थकृतौ अनुकूलत्वसम्बन्धेनान्वयः, कृतेश्च प्रथमान्तार्थे आश्रयत्वसम्बन्धेनान्वयः, तथा चोक्तवाक्यात् वृक्षनिष्ठविभागानुकूलाधःसंयोगानुकूलव्यापारानुकूलकृतिमत्पर्णम् इति बोधो जायते। एवं चात्र पततिधातूपस्थाप्ये अधःसंयोगानुकूलव्यापारे वाक्यघटकीभूतवृक्षपदोत्तरपञ्चम्या यो हि विभागरूपः स्वार्थः तदेव विशेषणतया अनुभावयितुं शक्यः, अतः स विभाग एव पततिधातूपस्थाप्यां व्यापाररूपक्रियां प्रति अपादानं वर्तते। तस्मादत्र विभाग एव अपादानकारकमिति भावः। तथा चोक्तं ग्रन्थकारेण– **"वृक्षात् पतति इत्यतो वृक्षावधिकविभागानुकूलपतनकर्तेत्यन्वयबुद्धौ धातूपस्थाप्यपतने पञ्चम्युपस्थाप्यविभागः स्वानुकूलत्वसम्बन्धेन प्रकारः इति स एव तत्रापादानत्वम्"**[19]।

अधिकरणलक्षणविमर्शः अधिकरणलक्षणं प्राह जगदीशभट्टः

यत्क्रियायां यादृशार्थः सप्तम्या विग्रहस्थया।
बोध्यस्तस्यां तदेवाधिकरणं नाम कारकम्[20]**।।**

अन्वयः– विग्रहस्थया सप्तम्या यत्क्रियायां यादृशार्थः बोध्यः तस्यां तदेवाधिकरणं नाम कारकम्।

कारिकार्थं च स्वयमेवाह ग्रन्थकारः– **"क्रिया धात्वर्थः, तथा च यद्धातूपस्थाप्ययादृशार्थे विग्रहस्थया सप्तम्या यो यः स्वार्थोऽनुभाव्यते तदेव तद्धातूपस्थाप्यतादृशक्रियायामधिकरणं नाम कारकम्"**[21]। अर्थात् यस्मात् धातोः उपस्थाप्ये यादृशे क्रियारूपे अर्थे वाक्यस्थया पञ्चम्या यः यः स्वार्थः बोध्यते स एव सप्तम्यर्थः तस्मात् धातोः उपस्थाप्ये तादृशे क्रियारूपे अर्थे अधिकरणं कारकम् इत्युच्यते। यथा ग्रामे गन्ता इत्यत्र ग्रामपदोत्तरसप्तम्या अधिकरणत्वमर्थः। तत्र प्रकृत्यर्थस्य ग्रामस्य निष्ठत्वसम्बन्धेनान्वयः, अधिकरणत्वस्य च स्वनिरूपिताधेयतावत्त्वसम्बन्धेन गमिधात्वर्थे अन्वयः, तस्य च तृजर्थे कर्तरि आश्रयत्वसम्बन्धेनान्वयः, तथा चोक्तवाक्यात् ग्रामनिष्ठाधिकरणतानिरूपिताधेयतावत्संयोगा–नुकूलव्यापाराश्रयः, इत्यर्थो जायते। एवं चात्र गम्धातूपस्थाप्ये संयोगानुकूलव्यापारे वाक्यस्थया ग्रामपदोत्तरसप्तम्या यः अधिकरणत्वरूपोऽर्थः स्वनिरूपिताधेयतावत्त्वसम्बन्धेन अनुभाव्यते तस्मात् सः अधिकरणत्वरूपोऽर्थ एव तस्मात् गम्धातोः उपस्थाप्ये तादृशे संयोगानुकूलव्यापारे अर्थे अधिकरणं कारकम् इति। अथवा ग्रामपदोत्तरसप्तम्या आधेयत्वमर्थः तत्र प्रकृत्यर्थस्य ग्रामस्य स्वनिष्ठाधिकरणतानिरूपितत्वसम्बन्धेन अन्वयः, आधेयत्वस्य च गम्यर्थे आश्रयत्वसम्बन्धेनान्वयः, गम्यर्थस्य

च तृजर्थे अन्वये सति प्रोक्तवाक्यस्य ग्रामनिष्ठाधिकरणतानिरूपिताधेयतावत्संयोगा –नुकूलव्यापाराश्रयः, इति बोधो जायते। एवं च यस्मिन् पक्षे गम्धातूपस्थाप्ये व्यापाररूपे अर्थे ग्रामपदोत्तरसप्तम्या यः आधेयत्वरूपोऽर्थः आश्रयत्वसम्बन्धेन अनुभाव्यते, स आधेयत्वरूपोऽर्थः एव गम्धातूपस्थाप्ये व्यापाररूपे अर्थे आधेयत्वरूपोऽर्थः एव अधिकरणं नाम कारकमिति भावः। अत एव प्राह जगदीशः– **"ग्रामे गन्तेत्यत्र धात्वर्थे गतौ ग्रामनिष्ठमधिकरणत्वं तन्निरूपितमाधेयत्वं वा सप्तम्यानुभाव्यत इति तदेव तद्धातूपस्थाप्यतादृशक्रियायामधिकरणत्वं कारकम्। अत एव ग्रामगन्तेत्यादिकस्तत्र समासः[22]।** एवं घटत्वं घटे भासते इत्यत्र सप्तम्याः विशेष्यत्वमर्थः तत्र घटस्य निष्ठत्वसम्बन्धेनान्वयः, भासतेरर्थः विषयता तत्र सप्तम्यर्थस्य निरूपितत्वसम्बन्धेनान्वयः, आश्रयत्वम् आख्यातार्थः तस्य स्वरूपसम्बन्धेन प्रथमान्तार्थे घटत्वे अन्वयः। तथा चोक्तवाक्यात् घटनिष्ठविशेष्यतानिरूपितविषयताश्रयः घटत्वमिति बोधो भवति। एवं च यद्धातुः भास्धातुः तदुपस्थाप्ये विषयतारूपे अर्थे विग्रहस्थया सप्तम्या यो यः विशेष्यतारूपः स्वार्थोऽनुभाव्यते तदेव विशेष्यत्वमेव भास्धातूपस्थाप्यविषयतारूपक्रियायामधिकरणं नाम कारकम्। एवमेव ज्ञाने घटत्वं भासते इत्यत्र सप्तम्याः निरूपितत्वमर्थः, भासतेरर्थः विषयता तथा चोक्तवाक्यस्यार्थो भवति ज्ञाननिरूपितविषयतावद्घटत्वमिति। एवं च यद्धातुः भास्धातुः तदुपस्थाप्ये विषयतारूपे अर्थे विग्रहस्थया सप्तम्या यो यः निरूपितत्वरूपः स्वार्थोऽनुभाव्यते तदेव निरूपितत्वमेव भास्धातूपस्थाप्यविषयतारूपक्रियायामधिकरणं नाम कारकम्। प्रोक्तमपि जगदीशेन **"घटत्वं घटे भासते इत्यत्र विषयतापर्य्यवसन्ने भासने घटनिष्ठं विशेष्यत्वमवच्छेद्यतासम्बन्धेन सप्तम्याऽनुभाव्यत इति तत्रापि तदेवाधिकरणतानामकं कारकम्। ज्ञाने घटत्वं भासते इत्यादौ निरूपितत्वमपि[23]।**

निष्कर्षः :– जगदीशनये यः सुबर्थो धात्वर्थांशे प्रकारीभूय भासते स सुबर्थ एव कारकमित्युच्यते। अत्र नये कर्तृकर्मकरणसम्प्रदानापादानभेदेन षट् कारकाणि भवन्ति। तत्र विकरणविशिष्टेन येन धातुना उपस्थाप्यो यो हि स्वार्थः तद्धातुप्रकृतिकतिङः स्वार्थे विशेषणत्वेनान्वेति तथाभूतः तिङर्थः एव तद्धातूपस्थाप्यां क्रियां प्रति कर्तृ नाम कारकम्, अथवा यगन्तभिन्नो यो हि धातुः तेन उपस्थाप्यो यो हि अर्थः स यस्मिन् अर्थे विशेषणत्वेनान्वेति तस्य विशेष्यभूतार्थस्य बोधको यो हि लट्प्रत्ययो तस्य लट्प्रत्ययस्य अर्थः तद्धातूपस्थाप्यतादृशक्रियां प्रति कर्तृकारकमिति बोध्यम्। एवं यगन्तो यो हि धातुः, तेन उपस्थाप्यो यो हि अर्थः, तस्यार्थस्य तत्प्रकृतिकतिङः यस्मिन् अर्थे विशेषणतया अन्वयो भवति सः कर्तृताभिन्नः तिङर्थ एव कर्म नाम कारकमिति स्वीक्रियते। अपि च विकरणविशिष्टस्य यद्धातोः उपस्थाप्ये यस्मिन्नर्थे तृतीयया यः स्वार्थः अनुभाव्यते सोऽर्थः तद्धातोः उपस्थाप्ये तस्मिन्नर्थे करणं नाम कारकमिति कथ्यते। किञ्च यस्मात् धातोः उपस्थाप्ये गत्यादिभिन्ने यादृशे अर्थे विग्रहस्थचतुर्थ्या यः स्वकीयः अर्थः अनुभाव्यते सः चतुर्थ्यर्थ एव तस्मात् धातोः उपस्थाप्ये तादृशे क्रियारूपे अर्थे सम्प्रदानं नाम कारकम् इत्युच्यते। किञ्च वाक्यघटकीभूता या पञ्चमी विभक्तिः, तस्या यो हि अर्थः धात्वर्थव्यापारे विशेषणतया अन्वेति तत् अपादानं नाम कारकम् इति प्रोच्यते। एवमेव यस्मात् धातोः उपस्थाप्ये यादृशे क्रियारूपे अर्थे वाक्यस्थया सप्तम्या यः यः स्वार्थः बोध्यते स एव सप्तम्यर्थः तस्मात् धातोः उपस्थाप्ये तादृशे क्रियारूपे अर्थे अधिकरणं नाम कारकम् इत्युच्यते।

संदर्भ–सूची :–

1. सटीकशब्दशक्तिप्रकाशिका कारिका् सं. ७५, पृ. –337, चतुर्थसंस्करणम् –2007, प्रकाशकः–चौखम्बाप्रकाशनम्, वाराणसी, उ.प्र.।
2. सटीकशब्दशक्तिप्रकाशिकापत्रसंख्या 337, प्रकाशनम–2007, प्रकाशकः– चौखम्बाप्रकाशनम्, वाराणसी, उ.प्र.।
3. वही, पत्रसंख्या 337।
4. वहीं।
5. वही, पत्रसंख्या 338।
6. वहीं।
7. वहीं।
8. वही, पत्रसंख्या 317।
9. वही, पत्रसंख्या 318।
10. वही, पत्रसंख्या 329।
11. वही, पत्रसंख्या 311।
12. वहीं।
13. वहीं।
14. वही, पत्रसंख्या 306।
15. वहीं।
16. वही, पत्रसंख्या 303।
17. वही, पत्रसंख्या 297।
18. वहीं।
19. वही, पत्रसंख्या 298।
20. वही, पत्रसंख्या 314।
21. वहीं।
22. वहीं।
23. वही, पत्रसंख्या 315।

Prehistoric Agricultural Knowledge Tradition and the Concept of Organic Farming

Dr. Heera Singh Gond*

Abstract: The Stone Age marks the initial phase of human civilization, during which humans gradually transitioned from a hunter-gatherer lifestyle to an agriculture-based life. The development of agriculture in this period was not accidental; it was the result of continuous observation, experience, and experimentation with nature. Humans realized that seeds, when sown in the soil, germinate and grow into crops under favorable conditions. This laid the foundation of agricultural knowledge tradition. Prehistoric agriculture was entirely nature-based. No chemical fertilizers or artificial pesticides were used. To maintain soil fertility, natural methods such as crop residues, leaves, animal dung, and organic waste were used. This is why prehistoric agriculture can be considered an early form of organic farming. Irrigation depended entirely on rainfall, and crop selection was based on local climate and soil. Agricultural knowledge was transmitted orally from generation to generation. Key features of this tradition included seed preservation, mixed cropping systems, natural pest control, and the integration of animal husbandry. The harmony between humans and nature formed the core of this system, maintaining environmental balance.

Keywords: Prehistoric, Revolution, Agriculture, Organic Farming, Seed Preservation, Mixed Cropping, Pest Control, Animal Husbandry, Irrigation System, Nature Harmony

Introduction: When humans roamed the forests, life was uncertain and challenging. They hunted, fished, and gathered fruits, roots, and tubers from the forests to survive. Gradually, they learned not just to endure nature but to understand it. They observed that after rainfall, the land became green, and seeds sprouted. From this observation, the idea of cultivation arose.

In the early Stone Age, farming was not a defined activity. By the Neolithic period, humans had learned to sow seeds, protect plants, and harvest crops. Farming was no longer entirely dependent on nature but also on human intellect and labor. Early understanding of irrigation showed humans that reliance solely on rainfall was insufficient. They began using rivers, lakes, and rainwater for irrigation. Neolithic settlements near rivers used floodwaters to irrigate fields, while rainwater was sometimes stored in small pits and channels. This simple but effective irrigation system laid the foundation for more advanced irrigation techniques.

Human Development and Agricultural Knowledge: Modern humans developed around 300,000 years ago in Africa with a fully developed brain, language, and social structures. In India, evidence of human life dates back approximately 150,000–200,000 years, with key sites including the Narmada Valley, Bhimbetka, and Son Valley. In Madhya Pradesh, human fossils were discovered in the village of Hathnora on the banks of the Narmada River by Dr. Arun Sonakia in 1982, considered a link between Homo erectus and Homo sapiens. Civilization developed around 10,000 BCE with agriculture, animal husbandry, and permanent dwellings in caves. At this time, humans learned to live with nature rather than fight it. Initially, humans were nomadic, hunting, fishing, and gathering food. Over time, they observed that seeds falling to the ground grew into plants. This small insight eventually led to the concept of cultivating crops themselves, initiating the story of agriculture. This early stage, termed the "semi-agricultural phase," gradually evolved into full-fledged farming by the Neolithic period (after 7000 BCE). Humans created tools like stone sickles, axes, spades, and mortars. They began selecting

***Assistant Professor, Department of History Prime Minister Excellence College, Government Tulsi College, Anuppur, District Anuppur (M.P)**

crops, storing grains, and developing harvesting techniques. Farming settled the nomadic hunter into a stable lifestyle. The earliest archaeological evidence of this is seen in Mehrgarh (circa 7000 BCE), where wheat and barley were cultivated.

In northern regions like Kashmir, sites such as Burzahom and Gufkral show humans digging pits for homes and cultivating wheat, barley, and lentils while keeping livestock. In the Ganga Valley, sites like Koladihwan and Mahagara demonstrate rice cultivation around 6500 BCE. This was a local development, not imported knowledge. In southern India, on the Deccan plateau at Brahmagiri, Sanganakallu, and Paiyampalli, humans cultivated ragi, sorghum, and millet, adapting to local soil and climate. Eastern India (Chirand) and Northeast India (Daojali Hading) also show early rice cultivation, indicating agriculture developed simultaneously in multiple regions. Animal husbandry complemented agriculture. Cattle, sheep, goats, and oxen became partners in human life, providing milk, assisting in plowing, and supplying manure to maintain soil fertility. Together, agriculture and animal husbandry created a sustainable lifestyle.

Agriculture, Animal Husbandry, and Tools: Humans created stone tools for farming. Spades and axes were used to dig land; sickles with stone blades were used for harvesting; mortars and pestles for grinding grains. These simple tools made farming organized and productive. Livestock not only provided food but also aided in fieldwork, and their dung enriched the soil, linking agriculture and animal husbandry closely.

Crop Protection and Organic Methods: Crops attracted pests and wild animals. Humans employed various methods such as thorny fences, fire at night, and natural substances to repel pests. Smoke, ashes, and bitter plants were used for pest control—an early form of organic pest management. Harvesting was done collectively, with crops cut using sickles, threshed by hand or livestock, and stored in earthen pots or pits to ensure year-round food supply.

Concept of Organic Farming: When humans first handled soil, there were no chemical fertilizers or pesticides. Earth, water, seeds, animals, and humans were part of the same life cycle. Farming relied on fallen leaves, dried grass, animal dung, ashes, and organic waste to maintain soil fertility. Neem, turmeric, and bitter plants were used for pest control. This early form of organic farming is evident in Neolithic sites such as Mehrgarh, Burzahom, and Belan Valley. Traditional Indian farming practices like Rajasthan's Khadin system, mixed farming in South India, and jhum cultivation in Northeast India continued organic methods using natural resources for crop protection and soil enrichment.

Conclusion: Agriculture in the Neolithic era was more than a method for food production; it laid the foundation for modern agriculture. Irrigation, crop protection, tools, harvesting, and animal husbandry collectively enabled humans to live a stable life. Seeds sown in fields not only produced crops but also fostered villages, society, and culture. Indian agriculture is one of the world's oldest and culturally rich systems, blending economic, social, and environmental knowledge. Prehistoric agricultural knowledge remains an inspiration for modern organic farming, emphasizing harmony, balance, and sensitivity with nature.

References :-

1. Sharma, Ramsharan. History of Ancient India. Orient Blackswan Publication, 2016.
2. Pandey, O.P. Indian Agricultural Tradition and Environment. Chaukhamba Publications, 2012.
3. Singh, Gyaneshwar. History of Agriculture in India. Rajkamal Publications, 2010.
4. Tripathi, R.S. The Early Ages of Indian History. Motilal Banarsidass, 2008.
5. Mishra, Vidyanivas. Indian Civilization and Culture. Vani Publications, 2005.
6. Child, V. Gordon. Man Makes Himself. Watts and Company, 1951.
7. Posel, Gregory L. The Indus Civilization: A Contemporary Perspective. Vistar Publications, 2002.
8. Agrawal, D.P. The Archaeology of India. Kargen Press, 1982.

देवदत्त आर्य 'देवेन्द्र' का काव्य-संग्रह 'मुक्ति बोध' की समीक्षा

डॉ. सुनील कुमार मानस*

काव्य–संग्रह 'मुक्ति बोध' अपने शीर्षक के अनुरूप एक गहन आत्मानुभूति, सामाजिक चेतना और आध्यात्मिक संवेदना का समन्वित रूप प्रस्तुत करता है, जिसमें काव्य–कला के दुरूह और अलंकारिक पक्ष की अपेक्षा भक्ति–भावना, नैतिक दृष्टि और मानवीय मूल्यों की सहज, सरस तथा संप्रेषणीय अभिव्यक्ति को प्रमुखता दी गई है। रचनाकार ने 'दो शब्द' में स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि इस कृति का उद्देश्य साहित्यिक कौशल का प्रदर्शन करना नहीं, बल्कि समाज में जागरूकता, सद्भाव, समरसता और एकता की भावना को विकसित करना है, जिससे मनुष्य अपनी सांस्कृतिक जड़ों की ओर उन्मुख हो और सामाजिक जीवन में सकारात्मक योगदान दें। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए कवि ने अत्यंत सरल, लोकाभिमुख और सहज भाषा का प्रयोग किया है, जिससे कम शिक्षित पाठक भी इसके भाव–विचार को समझ सकें और आत्मकल्याण के पथ पर अग्रसर हो सकें। इस दृष्टि से यह काव्य–संग्रह एक प्रकार से लोकशिक्षा और नैतिक जागरण का माध्यम भी बन जाता है।

'मुक्ति बोध' की आरंभिक पंक्तियाँ– **"अन्याय–दमन के हेतु सजग/गीता रचती रणनीति जहाँ,/गाण्डीव सुदृढ़ हाथों में तन/लेता अपना अधिकार जहाँ।/वहीं पनपता लोकतंत्र/लेकर जीवन का मधुर प्यार।"**– भारतीय सांस्कृतिक और दार्शनिक प्रतीकों के माध्यम से न्याय, कर्तव्य और संघर्ष की अनिवार्यता को स्थापित करती हैं। यहाँ 'गीता' शब्द केवल धार्मिक ग्रंथ नहीं, बल्कि कर्मयोग और नीति–संगत संघर्ष का प्रतीक है, जबकि 'गाण्डीव' साहस, शक्ति और अन्याय के प्रतिरोध का द्योतक है। कवि का स्पष्ट संकेत है कि जहाँ अन्याय के विरुद्ध सजगता और सक्रियता होती है, वहीं सच्चे लोकतंत्र और मानवीय प्रेम का विकास संभव होता है। इसी भावधारा का विस्तार करते हुए कवि लिखते हैं– **"वहीं है स्वर्ग, वहीं अपवर्ग,/वहीं है मुक्ति–धाम का द्वार।/जहाँ नित श्रद्धा, भक्ति, विवेक/बिहँस करती आनन्द बिहार।"**– यहाँ 'मुक्ति' केवल पारलौकिक अवधारणा नहीं रह जाती, बल्कि वह मनुष्य के अंतर्मन में उत्पन्न होने वाली संतुलित, शांत और आनंदमय अवस्था का प्रतीक बन जाती है। इस काव्य–संग्रह की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें मानवीय संवेदना, सामाजिक उत्तरदायित्व और आत्मबोध की चेतना निरंतर प्रवाहित होती रहती है। कवि मनुष्य के आंतरिक विकास को ही वास्तविक प्रगति मानता है और यह संदेश देता है कि बाह्य उपलब्धियाँ तभी सार्थक हैं, जब वे नैतिकता और आत्मचेतना से जुड़ी हों। इसी संदर्भ में कवि लिखते हैं– **"निज स्वरूप का जब हो जाता/ज्ञान और निज पर अधिकार,/तब निज पर संदेह न जगता,/मिलता है आनन्द अपार।"**– यहाँ आत्मज्ञान को प्रतिष्ठित किया गया है। यह आत्मज्ञान मनुष्य को न केवल आत्मविश्वास प्रदान करता है, बल्कि उसे संदेह, भ्रम और मानसिक अशांति से भी मुक्त करता है। जीवन में संघर्ष, आशा और निरंतर प्रगति की आवश्यकता को रेखांकित करते हुए कवि लिखते हैं– **"खोलते आशाओं के द्वार,/उठा उर–तंत्री की झंकार,/झेलकर परवशता की मार/न मुड़कर पीछे कभी निहार।"**– यहाँ कवि मनुष्य को निराशा से बाहर निकलकर आशा और साहस के साथ जीवन–पथ पर अग्रसर होने का संदेश देता है। संग्रह के 'आभार' शीर्षक में कवि की विनम्रता, आत्मविश्वास और अपनी रचना के प्रति आस्था का सुंदर समन्वय दिखाई देता है– **"रंचमात्र भी मिला कहीं यदि,/मेरी इस कृति को सम्मान,/निजश्रम को सार्थक समझूँगा,/ मानूँगा सार्थक अभियान।"**– इन पंक्तियों में कवि अपने श्रम की सार्थकता को पाठकों की स्वीकृति से जोड़ता है और यह स्वीकारता है कि उसकी रचनात्मक साधना समाज के लिए ही समर्पित है। साथ ही, **"अर्पण और समर्पण के कवि/लिखते अपने गीत जहाँ.."** जैसी पंक्तियाँ यह संकेत करती हैं कि सच्ची काव्य–साधना वही है, जो समर्पण और लोकमंगल की भावना से प्रेरित हो।

समग्रतः 'मुक्ति बोध' एक ऐसा काव्य–संग्रह है, जो साहित्य को जीवन, समाज और आध्यात्मिक चेतना से जोड़ते हुए मानवीय मूल्यों की पुनर्स्थापना का प्रयास करता है। यह कृति न केवल पाठकों को प्रेरित करती है, बल्कि उन्हें आत्मचिंतन, नैतिक जागरूकता और सामाजिक उत्तरदायित्व की दिशा में अग्रसर होने के लिए भी प्रेरित करती है। इस प्रकार देवदत्त आर्य 'देवेन्द्र' का यह काव्य–संग्रह समकालीन संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण, प्रेरणादायी और मूल्यपरक साहित्यिक योगदान के रूप में प्रतिष्ठित है, जो पाठक को अपने आत्मस्वरूप की पहचान कराने के साथ–साथ समाज के प्रति उसकी जिम्मेदारी का भी बोध कराता है।

***विभागाध्यक्ष–हिंदी, सरकारी विनयन (आर्ट्स) कॉलेज, बेचराजी–महेसाणा (गुजरात) 384415।**

पं. विद्यानिवास मिश्र के **जन्म–शताब्दी वर्ष** के समापन अवसर पर **13–15 जनवरी, 2026** को त्रि–दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी **'पं. विद्यानिवास मिश्र का रचना–कर्म'** आयोजित हुई। इस संगोष्ठी में **पं. विद्यानिवास मिश्र** को स्मरण करते हुए उनके समग्र रचनाकर्म, वैचारिक योगदान और भारतीय ज्ञान–परंपरा में उनके महत्त्व पर– विस्तार से चर्चा हुई। इस उपक्रम को पिछले दो दशकों से **डॉ. दयानिधि मिश्र** जिस समर्पण, तन्मयता और अटूट निष्ठा के साथ आगे बढ़ा रहे हैं, वह नई पीढ़ी के लिए प्रेरणा–स्रोत बनकर भविष्य को निश्चित रूप से वैचारिक–सम्बल प्रदान करेगा– ऐसा मेरा विश्वास है। प्रस्तुत हैं– कार्यक्रम के दो–चित्र....

आलोचन दृष्टि,
आजाद नगर, बिन्दकी, जनपद-फतेहपुर, उ0प्र0-212635
ई-मेल : aalochan.p@gmail.com
वेवसाइट : https://aalochandrishti.org/

Website QR Code